प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि संवत् १ २
मूल्य : १५-

Chowk, Varanasi-1
(India)
1963
Phone : 3076

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

62

A CRITICAL STUDY OF SIDDHA HEMA SABDĀNUS'ĀSANA

[A Socio-Cultural Comparative and Philological Study of Haima Grammar]

BY

Prof Dr N C Shastri,

M. A., Ph. D. (Gold Medalist)

Head of the Deptt. of Sanskrit & Prakrit,

H. D. Jain College, Arrah. (Magadh University)

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI 1

1963

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

करण विषमीकरण पुरोगामी पश्चगामी विषमीकरण सन्धि अनुनासिकता मात्राभेद, घोषीकरण अघोषीकरण, महाप्राण अल्पी करण ऊष्मीकरण]

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

पुरोवाक्

"तीनों लोक घोर अन्धकार में डूब जायें, यदि 'शब्द' कहलाने वाली ज्योति इस समस्त संसार को आलोकित न करे। बुद्धिमान् शुद्धवाणी को कामधेनु मानते हैं। वही वाणी जब अशुद्ध रूप से प्रयोग में लाई जाती है तब वह बोलनेवाले का बैलपन प्रकट करती है।"

ये हैं भाषा के महत्त्व सम्बन्धी महाकवि दण्डी के उद्गार जो उन्होंने अपने 'काव्यादर्श' के आदि में आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व घोषित किये हैं। किन्तु उनसे भी सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में वाणी की शुद्धता पर बहुत बल दिया जाने लगा था। वेद-मन्त्र तभी फलदायक माने जाते थे जब उनका पूर्ण शुद्ध उच्चारण किया जाता था। इसी प्रयोजन से मुनि शाकल्य ने वेदों का पद-पाठ तैयार किया, जिससे पाठक वेद-संहिता का एक-एक शब्द अलग-अलग जान जायें। इतना ही नहीं, शीघ्र ही वेदों के क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि भी बन गये; जिनके द्वारा शब्दों का आगे से पीछे, पीछे से आगे एक या दो शब्द मिलाकर आगे-पीछे आदि रूप से पद-पद कर वेदों के न केवल एक-एक शब्द किन्तु एक-एक वर्ण व स्वर की भली प्रकार रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है।

जान पड़ता है वेद-पाठ की इन्हीं प्रणालियों ने 'शिक्षा', 'प्रातिशाख्य' और 'निरुक्त' को जन्म दिया जिनके द्वारा व्याकरण शास्त्र की नींव पड़ी। 'व्याकरण' का तात्पर्य है शब्दों को उनके पृथक्-पृथक् रूप में समझना समझाना। संस्कृत व्याकरणशास्त्र का सर्वोत्कृष्ट रूप पाणिनि मुनि इन

'अष्टाध्यायी' में पाया जाता है। किन्तु उन्होंने अपने से पूर्व के अनेक वैयाकरणों जैसे शाकटायन शौनक स्फोटायन आपिशलि आदि का आदरपूर्वक उल्लेख किया है जिससे व्याकरणशास्त्र की अतिप्राचीन अविच्छिन्न विकास-धारा का संकेत मिलता है। पाणिनि की रचना इतनी सर्वांगपूर्ण व अपने से पूर्व की समस्त मान्यताओं का यथावश्यक यथा-विधि समावेश करने वाली सिद्ध हुई कि उससे पूर्व की उन समस्त रचनाओं का प्रचार रुक गया और वे लुप्त हो गईं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में यदि कुछ कमीबेशी थी तो उसका शोधन वार्तिककार कात्यायन व भाष्यकार पतञ्जलि ने कर दिया। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण-सम्प्रदाय को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उसे शताब्दियों की परम्परा भी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकी।

पाणिनीय परम्परा द्वारा संस्कृत भाषा का परिष्कृत रूप स्थिर हो गया। किन्तु व्याकरणशास्त्र की अन्यान्य पद्धतियाँ भी बराबर चलती ही रहीं। इन व्याकरण ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय हैं शाकटायन कातन्त्र चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरण, जिनका अपना अपना वैशिष्ट्य है और वे अपने अपने काल में नाना क्षेत्रों में सुप्रचलित रहे तथा उन पर टीका-टिप्पणियाँ भी खूब लिखी गईं जो व्याकरणशास्त्र के विकास की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

संस्कृत के अन्तिम महावैयाकरण हैं आचार्य हेमचन्द्र जिन्होंने अपने 'शब्दानुशासन' द्वारा संस्कृत भाषा का विश्लेषण पूर्ण रूप से किया और हैम सम्प्रदाय की नींव डाली। पाणिनि इस अष्टाध्यायी के अनुसार इन्होंने भी अपने व्याकरण को आठ अध्यायों व प्रत्येक अध्याय को चार पादों में विभाजित किया। किन्तु उनकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि उन्होंने संस्कृत का सम्पूर्ण व्याकरण प्रथम सात अध्यायों में समाप्त करके अष्टम अध्याय में प्राकृत व्याकरण का भी स्वरूप ऐसी सर्वांगपूर्ण

रीति से किया कि वह यथाशक्ति अपूर्व व अद्वितीय कहा जा सकता है। उसके पश्चात् जो प्राकृत व्याकरण बने, वे बहुधा उसका ही अनुसरण करते हुए पाये जाते हैं। विशेषतः शौरसेनी मागधी और पैशाची प्राकृतों के स्वरूप तो कुछ-न-कुछ उनके पूर्ववर्ती चण्ड व वररुचि जैसे प्राकृत के वैयाकरणों ने भी उपस्थित किये हैं, किन्तु अपभ्रंश का व्याकरण तो हेमचन्द्र की अपूर्व देन है। उसमें भी जो उदाहरण पूरे व अधूरे पद्यों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे तो अपभ्रंश साहित्य की प्राचीन समृद्धि के सम्बन्ध में विद्वानों की आँखें खुल गई और वे उन पद्यों के स्रोतों की खोज में लग गये। यह कार्य आज तक भी सम्पन्न नहीं हो सका।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के इस महान् व्याकरण को चार-पाँच हजार सूत्रों में पूरा करके भी कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्र को तृप्ति नहीं आई। उन्होंने अठारह हजार श्लोक प्रमाण उसकी बृहद् वृत्ति भी लिखी गणपाठ धातुपाठ उणादि और लिंगानुशासन प्रकरण भी जोड़े तथा सामान्य अध्येताओं के लिये उपयोगी छह हजार श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति भी तैयार की। इतना ही नहीं उन्होंने अपने समस्त व्याकरण को सूत्रानुक्रम से उदाहृत करते हुए अपने समकालीन नरेश कुमारपाल का चरित भी एक विशाल द्वयाश्रय काव्य के रूप में रचा। एक व्यक्ति द्वारा व्याकरणशास्त्र की इतनी उपासना इतिहास में बेजोड़ है। फिर जब उनके पुराण काव्य दर्शन योग छन्द आदि विषयों की अन्य कृतियों का भी लेखा-जोखा लगाया जाता है तब तो मस्तक आश्चर्य से चकित होकर उनके चरणों में अवनत हुए बिना नहीं रहता।

भारतीय शास्त्रों का ऐतिहासिक व परिचयात्मक अध्ययन तो बहुत कुछ हुआ है किन्तु एक-एक शास्त्र के अन्तर्गत कृतियों का परस्पर

तुलनात्मक मूल्यांकन संतोषजनक रीति से पूरा किया गया नहीं पाया जाता। इस दिशा में डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का प्रस्तुत प्रबन्ध अभिनन्दनीय है। उन्होंने आचार्य हेमचन्द्र के जीवनवृत्त और उनकी रचनाओं का सुचारु रूप से परिचय देकर उनके उक्त व्याकरण-कार्य का आलोचनात्मक विश्लेषण भी किया है तथा पाणिनि व अन्य प्रधान वैयाकरणों की कृतियों के साथ तुलना करके हेमचन्द्र की विशेष उपलब्धियों का भलीभाँति निर्णय भी किया है। व्याकरण जैसे कर्कश शास्त्र का ऐसा गम्भीर आलोचन प्रत्येक साहित्यिक के वश की बात नहीं। उसके लिये जितने अध्यवसाय व ज्ञान की आवश्यकता है वह प्रस्तुत प्रबन्ध के अवलोकन से ही जाना जा सकता है। इस उत्तम शास्त्रीय विवेचना के लिये मैं डॉ० नेमिचन्द्रजी को हृदय से बधाई देता हूँ और ऐसा विश्वास करता हूँ कि उनकी इस कृति से इस पीढ़ी के नवयुवक शोधकर्ता दिङ्निर्देश, प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त करेंगे।

अगस्त १, १९६२

डॉ० हीरालाल जैन
एम ए एल एल बी डी लिट
अध्यक्ष
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लाल भवन चौड़ा रास्ता,
जयपुर सिटी (राजस्थान)

प्राच्य भारतीय भाषाओं एवं दर्शन शास्त्र

के

अगाध विद्वान्

समादरणीय

पं० सुखलाल जी संघवी

अहमदाबाद

को

सा

द

र

•

नेमिचन्द्र शास्त्री

श्रीमान गजशंकर भाई दुर्लभजी द्वारा उनके
सुपुत्र रश्मिकान्त के शुभ विवाह पर भेंट।

प्रस्तावना

भाषा के शुद्धज्ञान के लिये व्याकरणज्ञान परमावश्यक है। धातु और प्रत्यय के संश्लेषण एवं विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन का विचार व्याकरण साहित्य में ही किया जाता है। शब्द और लक्षणों का सुव्यवस्थित वर्णन करना ही व्याकरण का उद्देश्य है। शब्दों की व्युत्पत्ति एवं उनके निर्माण की क्रमबद्ध प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन व्याकरण के द्वारा ही होता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूल सत्ता या धातु निहित रहती है उसके स्वरूप का निश्चय और उसमें प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्दों के निर्माण की महनीय प्रक्रिया उपस्थित करता है साथ ही धातु और प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय भी इसी के द्वारा होता है। संक्षेप में व्याकरण भाषा का अनुशासन कर उसके विस्तृत साम्राज्य में पहुँचाने के लिये राजपथ का निर्माण करता है।

संस्कृत भाषा में व्याकरण के रचयिता इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र ये आठ शाब्दिक प्रसिद्ध माने जाते हैं। जैन सम्प्रदाय में देवनन्दी, शाकटायन, हेमचन्द्र आदि कई वैयाकरण हुए हैं। देवनन्दी ने अपने शब्दानुशासन में अपने से पूर्ववर्ती छः जैनाचार्यों का उल्लेख किया है:—

(१) गुणे श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम् (१।४।३४)—हेताविति वर्तते। अस्त्रीलिङ्गे गुणे हेतौ श्रीदत्तस्याचार्यस्य मतेन का विभक्तिर्भवति। अन्येषां मतेन टाविति भा। यथा—जाड्याद्बद्धः जाड्येन बद्धः।

(२) कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९)—कृवृषिमृज् इत्येतेभ्यः क्यप् भवति यशोभद्रस्याचार्यस्य मतेन।

(३) राद्भूतबलेः (३।४।८३)—समासप्रत्ययान्नाद् निर्वृत्तादिषु चतु-रर्थेषु रो भवति भूतबलेराचार्यस्य मतेन।

(४) रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य (४।३।१८०)—रात्रिशब्दस्य कृति परे मुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्याचार्यस्य मतेन।

(५) वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)—वेत्तेर्निमित्तभूतस्य झस्य रुडागमो भवति सिद्धसेनस्याचार्यस्य मतेन।

(६) चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)—झयो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषां मते।

उपर्युक्त सूत्रों में श्रीदत्त यशोभद्र भूतबलि प्रभाचन्द्र सिद्धसेन और समन्तभद्र इन छः वैयाकरणों के नाम आये हैं। स्पष्ट है कि इनके व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ थे पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं।

जैनेन्द्र के उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः (१।४।१६)—उदाहरण से स्पष्ट है कि वे सिद्धसेन को सबसे बड़ा वैयाकरण और उपसिंहनन्दिनं कवयः (१।४।१९) द्वारा सिंहनन्दी को बड़ा कवि मानते हैं। पर आचार्य हेम ने 'उत्कृष्टेऽनूपेन' (२।२।३९) सूत्र के उदाहरणों में 'अनुसिद्धसेनं कवयः' द्वारा सिद्धसेन को सबसे बड़ा कवि माना है। अतएव स्पष्ट है कि आचार्य हेम के पूर्व कई जैन वैयाकरण हो चुके हैं। हेम की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरण ग्रन्थों का अध्ययन कर उनसे यथेष्ट सामग्री ग्रहण की है।

हेम के पूर्ववर्ती व्याकरणों में विस्तार काठिन्य एवं क्रमभंग या अनुवृत्ति बाहुल्य ये तीन दोष पाये जाते हैं, किन्तु आचार्य हेम उक्त तीनों दोषों से मुक्त हैं। व्याकरण में विवक्षित विषय को कम सूत्रों में निबद्ध करना अच्छा समझा जाता है। अल्पशब्दों वाले प्रकरण एवं अल्पाक्षरों वाले सूत्रों में प्रतिपाद्य विषय को प्रकट किया जाय तो रचना सुन्दर और विस्तार दोष से मुक्त समझी जाती है। हेम ने उक्त सिद्धान्त का पूर्णतः पालन किया है। जिस प्रकार की शब्दावली के अनुशासन के लिए जितने और जैसे सूत्रों की आवश्यकता थी इन्होंने वैसे और उतने ही सूत्रों का प्रणयन किया है। एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जिसका कार्य किसी दूसरे सूत्र से चलाया जा सकता हो।

सूत्रों एवं उनकी वृत्ति की रचना ऐसी शब्दावली में नहीं होनी चाहिए, जिसकी व्याख्या की आवश्यकता हो अथवा व्याख्या होने पर भी अर्थ विषयक सन्देह बना रहे। अतः श्रेष्ठ ग्रन्थन-शैली वही मानी जाती है जिसके पढ़ने के साथ ही विषय का सम्यक् ज्ञान हो जाय और पाठक को तद्विषयक तनिक भी सन्देह उत्पन्न न हो। सूत्रों की शब्दावली उलझी न हो और न जितने मस्तिष्क उतनी व्याख्याएँ ही संभव हों। आचार्य हेम सरल और स्पष्ट शैली की कला में अत्यन्त पटु हैं। व्याकरण की साधारण जानकारी रखनेवाला व्यक्ति भी इनके शब्दानुशासन को हृदयगम कर सकता है तथा संस्कृत भाषा के समस्त प्रमुख शब्दों के अनुशासन से अवगत हो सकता है।

शब्दानुशासन की शैली का दूसरा गुण यह है कि विषय को स्पष्ट करने के साथ सूत्रों का सुव्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध रहना भी आवश्यक है जिससे

समन्वय करते समय अनुवृत्ति या अधिकार सूत्रों की आवश्यकता प्रतीत न हो। कथनों के साथ कथनों में भी ऐसा सामर्थ्य रहे जिससे वे गंगा के निरवच्छिन्न प्रवाह के समान उपस्थित होकर विषय को क्रमबद्ध रूप में स्पष्ट करा सकें। विषय व्यतिक्रम होने से पाठकों को समझने में बहुत कठिनाई होती है। अतः एक ही विषय के सूत्रों को एक ही साथ रहना आवश्यक है। ऐसा न हो कि सन्धि के प्रकरण में समास विधायक सूत्र समास में कारक विषयक सूत्र और कृदन्त में तद्धित विधायक सूत्र आ जायें। इस प्रकार के विषय व्यतिक्रम से अध्येताओं को कष्ट का अनुभव होता है तथा विषय की धारा के विच्छिन्न हो जाने से तथ्य ग्रहण के लिए अधिक आयास करना पड़ता है।

सैद्धान्तिक उपर्युक्त तीनों दोष न्यूनाधिक रूप में हेम के पूर्ववर्ती सभी वैयाकरणों में पाये जाते हैं। सभी की शैली में अस्पष्टता क्रमभंग एवं दुरूहता पायी जाती है। कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इस सत्य से इंकार नहीं कर सकता है कि हेम शब्दानुशासन संस्कृत भाषा के सर्वाधिक शब्दों का सुस्पष्ट अनुशासन आशुबोधक रूप में उपस्थित करता है। इस एक ही व्याकरण के अध्ययन से व्याकरण विषयक अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सिद्ध हेमशब्दानुशासन की प्रशस्ति में प्रशंसा बोधक निम्न पद्य उपलब्ध होता है, जो यथार्थ है—

> तेनातिविस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण-
> शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन ।
> अभ्यर्थितो निरुपम विधिवद् व्यधत्त,
> शब्दानुशासनमिदं मुनिहेमचन्द्र: ॥ ३५ ॥

अर्थात्—अतिविस्तृत कठिन एवं क्रमभंग आदि दोषों से युक्त व्याकरण ग्रन्थों के अध्ययन से कष्ट प्राप्त करते हुए जिज्ञासुओं के लिए इस शब्दानुशासन की रचना की गयी है।

यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है। मालवराज भोज ने व्याकरण ग्रन्थ लिखा था और वहाँ उन्हीं का व्याकरण काम में लाया जाता था। विद्याभूमि गुजरात में कलाप के साथ भोज व्याकरण की भी प्रतिष्ठा थी। अतएव आचार्य हेम ने सिद्धराज के आदेश से गुर्जर देशवासियों के अध्ययन के हेतु उक्त शब्दानुशासन की रचना की है। अमरचन्द्र सूरि ने अपनी बृहत् अवचूर्णि में इस शब्दानुशासन की दोषमय विमुक्ति की चर्चा करते हुए लिखा है—

'शब्दानुशासनमनावमस्ति, तस्मात् कथमिदं प्रशस्यतममिति? उच्यते यदि अतिविस्तीर्णं प्रकीर्णञ्च। अथ तन्त्रं तर्हि साधु भविष्यतीति चेन्न तस्य सङ्कीर्णत्वात्। इदं तु सिद्धहेमचन्द्राभिधानं नातिविस्तीर्णं न च सङ्कीर्णमिति अनेनैव शब्दव्युत्पत्तिर्भवति।'

अतएव स्पष्ट है कि सिद्ध हेमशब्दानुशासन समुचित और पञ्चाङ्गपूर्ण[1] है। इसमें प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण और सिद्धि ये छहों अंग पाये जाते हैं।

उपजीव्य—

यों तो आचार्य हेम ने अपने पूर्ववर्ती सभी व्याकरणों से कुछ न कुछ ग्रहण किया है, पर विशेषरूप से इनके व्याकरण के उपजीव्य काशिका, पातञ्जल महाभाष्य और शाकटायन व्याकरण हैं। इन्होंने उक्त ग्रन्थों के विस्तृत विषयों को थोड़े ही शब्दों में बड़ी निपुणता के साथ अपने सूत्रों एवं वृत्तियों में समाविष्ट किया है जिससे उसे समझने में विशेष आयास नहीं करना पड़ता। हम यहाँ केवल शाकटायन के प्रभाव का ही विश्लेषण कर यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि हेम के ग्रहण में भी मौलिकता और नवीनता है। नदी के जल को सुन्दर कलश के आकार में भरने के समान सूत्र और उदाहरणों को ग्रहण कर लेने पर भी उनके विषय क्रम के वैशिष्ट्य ने एक नया ही चमत्कार उत्पन्न किया है।

सूत्र	शाकटायन सूत्राङ्क	सिद्धहेम० सूत्राङ्क
अप्रयोगीत्	१।१।७	१।१।३७
आसन्नः	१।१।१०	७।४।१२
सम्बन्धिनां सम्बन्धे	१।१।८	७।४।१२१
बहुगणं भेदे	१।१।९	१।१।४०
क समासेऽध्यर्धः	१।१।११	१।१।४१
क्रियार्थो धातुः	१।१।२२	३।३।३
[illegible]	१।१।३	३।१।८
तिरोऽन्तर्धौ	१।१।२१	३।१।९
स्वाम्येऽधिः	१।१।२७	३।१।१३
प्राध्वं बन्धे	१।१।२८	३।१।१६
यतः	१।१।३३	७।४।११८

[1] सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये पाँच व्याकरण के अंग हैं। इन पाँचों से समन्वित व्याकरण पञ्चाङ्ग कहलाता है।

सूत्र	शाकटायन सूत्राङ्क	सिद्धहेम० सूत्राङ्क
स्पर्धे	१।१।६९	७।४।११९
न स्वे	१।१।६६	१।३।६१
मनुर्यमोऽग्निरोषति	१।१।६७	१।३।२७
स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम्	१।१।८५	१।२।१५
वीहोती समासे	१।१।८८	१।२।१७
दूतौ	१।१।९७	१।२।३०
सखाद	१।२।११६	१।४।११६
सुचो वा	१।१।१०३	२।१।११५

सूत्रों की समता सूत्रों के भावों को पचाकर नये ढंग के सूत्र एवं शब्दानुकृति के वाक्यों को ज्यों के त्यों रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ निबद्ध कर भी अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखना हेम जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का ही कार्य है। उदाहरण के लिए शाकटायन के 'नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृतौ' १।१।११ सूत्र के स्थान पर हेम ने 'नित्यं हस्ते पाणावुद्वाहे' ३।१।१५ सूत्र लिखकर स्पष्टता के मार्दव के साथ उद्वाह— विवाह अर्थ में हस्ते और पाणौ को नित्य ही अव्यय माना है और कृञ् धातु के योग में गति संज्ञक कहकर हस्तेकृत्य पाणौकृत्य रूप सिद्ध किये हैं। अतः स्पष्ट है कि शाकटायन के सूत्र में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से ही हेम ने शब्दशासन के क्षेत्र में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है अर्थात् एक सामान्य स्वीकृति को विशेष स्वीकृति बना दिया है। इसी प्रकार 'कणे मनः श्रद्धोच्छेदे' १।१।२८ शाकटायन सूत्र के स्थान पर 'कणेमनस्तृप्तौ' ३।१।६ सूत्र लिखकर 'कणेहत्य पय पिबति, मनोहत्य पय पिबति' उदाहरणों के अर्थ में मौलिकता उत्पन्न कर दी है। तावत् पिबति यावत्तृप्तः—तब तक पीता है जब तक तृप्त नहीं होता। यद्यपि तृप्ति शब्द का अर्थ भी श्रद्धोच्छेद है पर तृप्ति कर देने से उदाहरणों में अर्थगत स्पष्टता आ गयी है।

वर्ण्य विषय—

हेम शब्दानुशासन के वर्ण्य विषय पर आगे विस्तार से विचार किया गया है। संस्कृत भाषा के शब्दानुशासन को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) चतुष्कवृत्ति (३) कृद्वृत्ति

(२) आख्यातवृत्ति (४) तद्धितवृत्ति

चतुष्कवृत्ति में सन्धि, शब्दरूप, कारक एवं समास इन चारों का अनुशासन आरम्भ से लेकर तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद तक वर्णित है।

आख्यातवृत्ति में धातु रूपों और प्रक्रियाओं का अनुशासन तृतीय अध्याय के तृतीय पाद से चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद पर्यन्त और कृद्वृत्ति में कृत्प्रत्यय सम्बन्धी अनुशासन पञ्चम अध्याय में निरूपित है। तद्धितवृत्ति में तद्धित प्रत्यय समासान्त प्रत्यय एवं न्याय सूत्रों का कथन छठे और सातवें दोनों अध्यायों में वर्तमान है। साहित्य और व्यवहार की भाषा में प्रयुक्त सभी प्रकार के शब्दों का अनुशासन इस व्याकरण में प्रथित है।

सांस्कृतिक सामग्री—

शब्दानुशासन सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन इस समीक्षा ग्रन्थ के आगे के प्रकरणों में विस्तारपूर्वक किया गया है। अतः यहाँ इसकी सांस्कृतिक सामग्री का विवेचन करना आवश्यक है। सिद्ध हैम शब्दानुशासन में भूगोल, इतिहास समाज शिक्षा, साहित्य एवं अर्थनीति सम्बन्धी सामग्री प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। सर्वप्रथम भौगोलिक सामग्री का विश्लेषण किया जाता है। पाणिनि के समान हेम ने भी नगर और ग्रामों के बसनेवाले कारणों का विवेचन करते हुए किया है—

(१) तदत्रास्ति (६।२।७०)—जो वस्तु जिस स्थान में होती है, उस वस्तु के नाम से उस स्थान का नाम पड़ जाता है। जैसे—उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति औदुम्बर नगरम्, औदुम्बरो जनपदः, औदुम्बरः पर्वत अर्थात् उदुम्बर के वृक्ष जहाँ हों, उस नगर जनपद और पर्वत को औदुम्बर कहा जायगा।

(२) तेन निर्वृत्ते च (६।२।७१)—जो व्यक्ति जिस गाँव या नगर को बसाता है वह ग्राम या नगर उस बसानेवाले व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यथा—कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी, ककन्देन काकन्दी, मकन्देन माकन्दी अर्थात् कुशाम्ब ककन्द और मकन्द की बसाई हुई नगरियाँ क्रमशः कौशाम्बी, काकन्दी और माकन्दी कहलाती हैं।

(३) निवासादूरभवे इति देशे नाम्नि (६।२।६९)—निवास—रहने वालों के नाम से तथा अदूरभव किसी दूसरे स्थान के निकट बसा होने से उस स्थान का नाम उन्हीं के नाम पर पुकारा जाने लगता है। यथा—ऋजुनावानां निवास आर्जुनावः, शिबीनां शैबः, उपुष्टस्य औपुष्ट शाकल्याया शाकलः अर्थात्—ऋजुनाविक जहाँ रहते हों उसे आर्जुनाव, शिबिजाति के क्षत्रिय जहाँ निवास करते हों उसे शैब उपुष्ट जाति के व्यक्ति जहाँ रहते हों उसे औपुष्ट और शकल जाति के ब्राह्मण जहाँ निवास करते हों उसे शाकल कहते हैं।

जो स्थान किसी दूसरे स्थान के निकट बसा हुआ होता है वह भी उसी के नाम से व्यवहृत होने लगता है। जैसे विदिशाया अदूरभव वैदिशं नगरम्, वैदिशो जनपद', वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् (६।२।६९) अर्थात् विदिशा नदी के समीप बसा हुआ नगर या जनपद वैदिश/कहलाया और वरण वृक्ष के समीप बसा हुआ नगर वरणा। भद्र पर्वत के समीप बसे हुवे ग्राम को भद्र शाल्मली वृक्ष के समीप बसे हुवे ग्राम को शाल्मली कहा है।

स्थान वाची संज्ञाओं और वस्तुओं के नामों में नाना प्रकार के सम्बन्ध थे। जो वस्तु जहाँ प्राप्त होती थी उस वस्तु के नाम पर भी उस स्थान का नाम पड़ जाता था। हेम ने 'शर्कराया इकणीयाऽण् च' ६।२।७८ के उदाहरणों में बतलाया है—'शर्करा अस्मिन् देशे सन्ति—शार्करिक, शार्करीय' अर्थात् चीनी जिस देश में पायी जाय उस देश को शार्करिक या शार्करीय कहा जाता है। 'वस्तुर्दिग्पर्दिकपिरयाधायनम्' ६।३।११७ के उदाहरणों में कापिशायन मधु, कापिशायनी द्राक्षा उदाहरण आये हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कपिशा नगरी से आनेवाला मधु कापिशायन और द्राक्षा—दाख कापिशायनी कहलाती थी। रङ्कु जनपद में उत्पन्न और वहाँ से आने जाने वाले प्रसिद्ध बैल और कम्बल राङ्कव एवं वहाँ के मनुष्य राङ्कवक (६।३।१५) कहलाते थे।

जनपद—

आचार्य हेम ने अपने सूत्र और उदाहरणों में अनेक जनपद, नगर पर्वत और नदियों के नामों का उल्लेख किया है। उत्तर-पश्चिम में कपिशा (६।३।११७) का उल्लेख किया है यह नगरी काबुल से ५ मील उत्तर में वर्तमान थी। कपिशा से उत्तर में कम्बोज जनपद था जहाँ इस समय मध्य एशिया का पामीर पठार है। तक्षशिला के दक्षिण पूर्व में मद्र जनपद (६।३।२०) था जिसकी राजधानी शाकल (६।३।२०) थी। शाकल आजकल का स्यालकोट है। मद्र के दक्षिण में उशीनर (६।३।२६) जनपद था। वर्तमान पञ्जाब का उत्तर पूर्वी भाग त्रिगर्त देश कहलाता था। सतलुज व्यास और रावी इन तीन नदियों की घाटी के कारण इस प्रदेश का नाम त्रिगर्त (६।२।३) पड़ा था। कुरु जनपद प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रहा है यद्यपि हेम के समय में इस जनपद का अस्तित्व समाप्त हो चुका था फिर भी इन्होंने दिल्ली और मेरठ के आस-पास के प्रदेश को कुरु जनपद (६।३।५३) कहा है। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। महाभारत के समय में कुरु जनपद बहुत ही प्रसिद्ध था।

के नाम मिलाते हैं। कहा जाता है कि साल्वराज्य पंजाब के मध्यभाग और उत्तर पूर्व में बिखरे हुए थे। बहुत संभव है कि साल्व जनपद अलवर से उत्तर बीकानेर तक व्याप्त रहा होगा।

हेम ने 'बहुविषयेभ्य' ६।१।४५ सूत्र में विभिन्न जनपदों में पैदा हुये व्यक्तियों के नामों का उल्लेख करते हुये दार्व कम्बल सिन्धु, अजमीढ़ बहुकुम्भ काकसार और वैकुटि जनपदों का नामोल्लेख किया है। चिनाब और रावी के बीच का भाग दार्व (जम्मू) जनपद कहलाता था। ६।३।५० सूत्र में मरुकच्छ और पिप्पलीकच्छ का, ६।३।२८ में वृजि और मद्रक का, ७।३।११९ में विपाश निचक मिद्र, कुरु, अवन्ति कुन्ति वसति और चेदि का एवं ६।१।१२ में कम्बोज चोल और केरल जनपदों का उल्लेख किया है। सौराष्ट्र का नामांकन ५।२।८ में उपलब्ध होता है। इन जनपदों में हेम के समय में चेदि, अवन्ति—मालव और सौराष्ट्र का विशेष महत्व था। चेदि जनपद के नामान्तर त्रैपुर डाहल और चेद हैं। यह जनपद अभिलेख में शुक्तिमती नदी के किनारे विन्ध्य पृष्ठ पर अवस्थित था। वर्तमान बघेलखण्ड और तेवार चेदि राज्य के अन्तर्गत थे। मालव—यह जनपद उज्जयिनी से लेकर माहिष्मती तक व्याप्त था और दक्षिण में यह नर्मदा नदी की घाटी तक फैला हुआ था। द्वितीय शताब्दी तक यह अवन्ति जनपद कहलाता था। सातवीं शताब्दी ईस्वी से हम इसे मालव के नाम से पाते हैं। हेमचन्द्र ने 'अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तीम्' (५।२।८) उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस उदाहरण से हम ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि राजा जयसिंह ने १२ वर्षों तक मालवा के परमारों के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त की और यह अवन्तिनाथ कहलाया था। उसने बर्बरों का दमन किया और महोबे के चन्देलों को सन्धि करने के लिए विवश किया। उसकी नीति प्रधानतया आक्रमणात्मक थी यह भी इस उदाहरण से स्पष्ट अवगत होता है।

काठियावाड़ से युक्त पश्चिमी समुद्र तटवर्ती सम्पूर्ण देश का नाम सौराष्ट्र है जिसके उत्तरी भाग की सीमा सिन्धु प्रान्त को पूर्वी सीमा मेवाड़ राजस्थान और मालवा को तथा दक्षिणी महाराष्ट्र एवं कोंकण का स्पर्श करती थी। 'अजयत्सिद्धः सौराष्ट्रान्' (५।२।८) उदाहरण से स्पष्ट है कि सैन्धव भड़ौच के गुर्जर को जीतकर जयसिंह सम्राट बना था। इस उदाहरण में सोरठ के गुर्जर राजा खेंगार को पराजित करने का संकेत किया है। इस राज्य की विजय के अनन्तर ही सिद्धराज को चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंह का शासनकाल सौराष्ट्र के

इतिहास का स्वर्णयुग है। इसके समय में इस जनपद में १८ देश सम्मिलित थे और इसकी सीमाएँ उत्तर में तुरुष्क, पूर्व में गंगातट, दक्षिण में विन्ध्याचल और पश्चिम में समुद्रतट पर्यन्त थीं। यह समस्त राष्ट्र स्वचक्र और परचक्र के उपद्रव से मुक्त था।

दक्षिण भारत के राज्यों में चोल, केरल (६।१।१२) तमिल राज्य थे। काञ्ची (६।१।१०४)—काञ्जीवरम् दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश की राजधानी थी। यह प्रदेश बहुत दिनों तक तोण्डेयमण्डलम् या तोण्डेमण्डल कहलाता था। कहा जाता है कि कीलिक वर्मन चोल के एक पुत्र के साथ मणिपल्लवम् द्वीप की नागी राजकन्या के विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न तुण्डमान नामक व्यक्ति पल्लव वंश का संस्थापक था, जिसने चोल पर शासन किया था।

नगर—

जनपदों के अतिरिक्त हेम ने नगर और गाँवों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने कच्छान्त नामों में मलकच्छ और पिप्पलीकच्छ (६।३।५) निर्दिष्ट किये हैं। मलकच्छ वर्तमान भड़ौच है और पिप्पलीकच्छ खम्भात की खाड़ी के बायीं ओर स्थित महीतटा का क्षेत्र था। नगरों में निम्नांकित नगर प्रधान हैं :—

(१) अवन्ती (६।१।११६)—इसका दूसरा नाम उज्जयिनी है। अवन्ती की गणना जनपदों में की गई है। यह राज्य नर्मदा की घाटी में मान्धाता नगर से लेकर इन्दौर तक फैला हुआ था। प्राचीन समय में अवन्ती का राजा चण्डप्रद्योत था इसकी पुत्री वासवदत्ता का विवाह वत्सराज उदयन के साथ हुआ था। यह नगरी उत्तर और दक्षिण के प्रसिद्ध भारतीय नगरों तथा पश्चिमी किनारे के उस समय के प्रसिद्ध बन्दरगाहों से व्यापारिक मार्गों द्वारा जुड़ी हुई थी।

(२) आषाढजम्बु (६।२।७)—शरावती नदी की पूर्व दिशा में यह नगर स्थित था। इसके पास शापितवस्तु नामक नगर भी था। शापितवस्तु को हेम ने ६।३।२६ सूत्र में वाहीक जनपद के अन्तर्गत परिगणित किया है।

(३) आह्वाल (६।१।१०)—यह नगर उशीनर वाहीक जनपद के अन्तर्गत था। सुदर्शन नामक नगर भी उक्त जनपद में ही अवस्थित था।

(४) ऐषुकार भक्त (६।२।६८)—'ऐषुकारीणां राष्ट्रमैषुकारिभक्तम्' अर्थात् पञ्जाब में ऐषुकारिभक्त नामक राष्ट्र में उक्त नाम का नगर था। उत्तराध्ययन सूत्र के (१४।१) अनुसार इषुकार—इषुकार नाम का समृद्ध एवं वैभव पूर्ण नगर था। सम्भवतः यह हिसार का प्राचीन नाम रहा होगा।

(५) काकन्दी (१।२।०१)—उत्तर भारत की यह प्रसिद्ध प्राचीन नगरी है। भगवान् महावीर के समय में काकन्दी में जितशत्रु राजा का राज्य वर्तमान था। काकन्दी नूनखार स्टेशन से दो मील और गोरखपुर से दक्षिण पूर्व तीस मील पर किष्किन्धा—खुखुन्द ही प्राचीन काकन्दी है।

(६) कांची (१।१।७२)—यह भारत की प्रसिद्ध और पुण्य नगरी है। आजकल इसे कांचीपुरम् या काञ्जीवरम् कहते हैं। इसे दक्षिण मथुरा भी कहा गया है। यह द्रविड या चोल देश की राजधानी पालार नदी के तट पर अवस्थित है जो मद्रास से ४३ मील पर अवस्थित है।

(७) कापिशी (१।३।१७)—यह काबुल से उत्तर पूर्व हिन्दूकुश के दक्षिण आधुनिक बेग्राम ही प्राचीन कापिशी है। यह नगरी घोरबन्द और पञ्जशीर नदियों के संगम पर अवस्थित थी। बाह्लीक से बामियाँ होकर कपिश प्रान्त में घुसने वाले मार्ग पर कापिशी नगरी स्थित थी। यह व्यापार और संस्कृति का केन्द्र थी। यहाँ हरी दाख की उत्पत्ति होती थी और यहाँ की बनी हुई कापिशायनी सुरा भारतवर्ष में आती थी। पाणिनि ने भी (४।२।९९) इसका उल्लेख किया है।

(८) काम्पिल्य (१।२।८७)—इसका वर्तमान नाम कंपिला है। यह फर्रुखाबाद से पचीस और कायमगंज से छः मील उत्तर पश्चिम की ओर बूढ़ी गंगा के किनारे अवस्थित है। प्राचीन समय में यह नगरी दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी थी।

(९) कौशाम्बी (१।२।०१)—यह वत्स देश की राजधानी थी जो यमुना के किनारे पर बसी थी। वत्साधिपति उदयन का उल्लेख समग्र संस्कृत साहित्य में आता है। यह गान विद्या में अत्यन्त प्रवीण था। कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा के राजा दधिवाहन पर चढ़ाई की थी। यहाँ पर महावीर के पास उदयन की माँ रानी मृगावती ने दीक्षा धारण की थी। आजकल यह स्थान इलाहाबाद से ३ मील की दूरी पर अवस्थित कोसम नामक गाँव है। कनिंघम की इस पहचान को स्मिथ ने स्वीकार नहीं किया था और उनका विचार था कि कौशाम्बी को हमें कहीं दक्षिण में बघेलखण्ड के आस-पास खोजना चाहिए, पर कनिंघम और स्मिथ के बाद इस सम्बन्ध में जो खोजें हुई हैं और अभी हाल में प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के तत्वावधान में कोसम की खुदाई के परिणाम स्वरूप घोषिताराम के अवशेष के मिलने से यह सन्देह दूर हो गया है और कोसम को ही प्राचीन कौशाम्बी माना जाने लगा है। कोसम के चारों ओर दूर तक जो टीला सा दिखलाई देता है उसे उदयन के किले का परकोटा बताया जाता है।

(१०) गिरिनगर (७।४।२९)—यह नगर गुजरात के प्रसिद्ध पर्वत गिरिनार के आस-पास स्थित था। आज के जूनागढ़ को प्राचीन गिरिनगर कहा जा सकता है। आप्टे ने दक्षिणापथ के एक जिले का नाम गिरिनगर लिखा है। पर हेम का अभिप्राय गिरिनार के पार्श्ववर्ती गिरिनगर से ही है।

(११) गोनर्द (१।१।७५)—हेम ने 'पूर्व उज्जयिन्या गोनर्द' उदाहरण द्वारा उज्जयिनी से पूर्व गोनर्द की स्थिति मानी है। पालि साहित्य में गोनद्ध या गोनद्धपुर कहा गया है। यह अवन्ती जनपद का प्रसिद्ध निगम था जो दक्षिणापथ मार्ग पर स्थित था। बावरी ब्राह्मण के सोलह शिष्य गोदावरी के तट के समीप स्थित अपने गुरु के आश्रम से चलकर प्रतिष्ठान और उज्जयिनी होते हुए गोनद्ध आये थे और फिर वहाँ से आगे चलकर जिसे प्रसिद्ध नगर पहुँचे थे, वह विदिशा था। इस प्रकार गोनर्द नगर उज्जयिनी और विदिशा के बीच में स्थित था। सुत्तनिपात की अट्ठकथा के अनुसार गोनर्द का एक अन्य नाम गोधपुर भी था।[1]

(१२) नड्वल (४।२।८७)—पाणिनि ने भी इसका उल्लेख (४।२।८८) किया है। संभवतः यह मारवाड़ का नाडौल नगर है।

(१३) पावा (४।३।१)—प्राचीन समय में पावा नाम की तीन नगरियाँ थीं। जैन ग्रन्थों के अनुसार एक पावा भंगि देश की राजधानी थी। बौद्ध साहित्य में पावा को मल्ल देश की राजधानी बताया गया है। दूसरी पावा कोसल के उत्तर पूर्व में कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी। आधुनिक पडरौना को जो कसिया से बारह मील और गोरखपुर से लगभग पचास मील है पावा कहते हैं। तीसरी पावा मगध जनपद में थी। यह उक्त दोनों पावाओं के मध्य में अवस्थित थी अतएव पावा-मध्यमा के नाम से अभिहित की गयी है। वर्तमान में बिहार शरीफ से लगभग ८ मील की दूर पर दक्षिण में यह स्थित है।

(१४) पुण्ड्र (४।२।९९)—यह पुण्ड्रवर्धन के नाम से प्रसिद्ध है और पूर्व बंगाल के मालदा जिले में है। वर्तमान बोगरा जिले का महास्थान गढ़ नामक स्थान पुण्ड्र जनपद में था। इस ग्राम में अशोक का एक शिलालेख मिला है उसमें पुण्ड्र नगर के महामात्र के लिए आज्ञा दी गयी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (अ० ११) में लिखा है कि पुण्ड्र देश का वस्त्र श्याम और मणि के समान स्निग्ध वर्ण का होता है। महाभारत (सभा पर्व ७८ १२) में पुण्ड्र राजाओं का दुकूलादि लेकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित

[1] [illegible], जिल्द दूसरी, पृ० ८१।

होने का उल्लेख है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पुण्ड्र की गणना पूर्व देश में की है।

(१५) माहिष्मती (४।३।१)—पुराण महाभारत आदि ग्रन्थों में उल्लिखित यह एक अति प्राचीन नगरी थी। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि इस नगरी में हैहयराज कार्त्तवीर्यार्जुन राज्य करते थे[१]। स्कन्दपुराण के नागर खण्ड के मत से यह नगरी नर्मदा के तट पर अवस्थित थी। सहस्रार्जुन रेवा के जल में बहुत-सी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करता था। रावण उसके बल-वीर्य को जानता हुआ भी उसके साथ युद्ध करने आया और अन्त में सहस्रार्जुन के हाथ बन्दी बना।

महाभारत में लिखा है कि राजसूय के समय सहदेव यहाँ कर उगाहने आये थे। उस समय यहाँ नीलराज का राज्य था। स्वयं अग्निदेव इनके जामाता थे। अग्नि की सहायता से नीलराज ने उनको परास्त किया, पर अग्निदेव के कहने पर सहदेव की पूजा की और कर दिया। गरुड़ पुराण (८१।१९) में इस स्थान को महातीर्थ कहा है।

बौद्ध काल में भी माहिष्मती समृद्धिशाली नगरी थी। बहुत से पण्डितों का वास होने से इस नगरी का आदर था। ७वीं सती में चीनी यात्री यू एन च्वाँग यहाँ आया था। इसने मोहिशिफलपुला (महेश्वरपुर) के नाम से उल्लेख किया है। इस समय इस नगरी का परिमाण ५ मील था। इसकी गणना स्वतन्त्र राज्यों में की जाती थी। यहाँ के निवासी पाशुपतावलम्बी थे। राजा ब्राह्मण था। बताया जाता है कि जबलपुर से छः मील दूर त्रिपुरारि नामक नगरी का अभ्युदय होने से माहिष्मती की समृद्धि लुप्त हो गयी थी। महाभारत के समय में माहिष्मती और त्रिपुर स्वतन्त्र राज्य थे।

हेम ने माहिष्मती का उल्लेख दो बार किया है। प्रथम बार उज्जयिनी के साथ (४।३।१) और द्वितीय बार (६।२।७७)—'महिष्मान् इरो भवा माहिष्मती' किया है। पालि साहित्य से अवगत होता है कि यह नगरी दक्षिणापथ मार्ग पर पड़ती थी और प्रतिष्ठान एवं उज्जयिनी के बीच अवस्थित थी। माहिष्मती को कुछ लोगों ने मांधाता से मिलाया है और कुछ ने माण्डला नगर से। माहिष्मती की पूर्वोक्त स्थिति के अवलोकन से स्पष्ट है कि इसे मान्धाता से मिलाना ही उचित है।

(१६) माकन्दी (६।२।७१)—दक्षिण पाञ्चाल के मुख्य नगरों में इसकी गणना थी। दुर्योधन से पाण्डवों के लिए कृष्ण द्वारा जिन पाँच नगरों

---

१ श्रीमद्भागवत ९१. २२

(१०) *गिरिनगर* (७।३।२६)—यह नगर गुजरात के प्रसिद्ध पर्वत गिरिनार के आस-पास स्थित था। आज के जूनागढ़ को प्राचीन गिरिनगर कहा जा सकता है। आपटे ने दक्षिणापथ के एक जिले का नाम गिरिनगर लिखा है। पर हेम का अभिप्राय गिरिनार के पार्श्ववर्ती गिरिनगर से ही है।

(११) *गोनर्द* (२।१।७४)—हेम ने *'पूर्व उज्जयिन्या गोनर्दः'* उदाहरण द्वारा उज्जयिनी से पूर्व गोनर्द की स्थिति मानी है। पालि साहित्य में गोनद्ध या गोनद्धपुर कहा गया है। यह अवन्ती जनपद का प्रसिद्ध निगम था जो दक्षिणापथ मार्ग पर स्थित था। बावरी ब्राह्मण के सोलह शिष्य गोदावरी के तट के समीप स्थित अपने गुरु के आश्रम से चलकर प्रतिष्ठान और उज्जयिनी होते हुए गोनद्ध आये थे और फिर वहाँ से आगे चलकर उन्हें जो प्रसिद्ध नगर पड़ा था वह विदिशा था। इस प्रकार गोनर्द नगर उज्जयिनी और विदिशा के बीच में स्थित था। सुत्तनिपात की अट्ठकथा के अनुसार गोनर्द का एक अन्य नाम गोधपुर भी था।[1]

(१२) नड्वल (४।२।७४)—पाणिनि ने भी इसका उल्लेख (४।२। ८) किया है। संभवतः यह मारवाड़ का नाडौल नगर है।

(१३) पापा (४।३।२)—प्राचीन समय में पापा नाम की तीन नगरियाँ थीं। जैन ग्रन्थों के अनुसार एक पावा भंगि देश की राजधानी थी। बौद्ध साहित्य में पावा को मल्ल देश की राजधानी बताया गया है। दूसरी पावा कोशल के उत्तर पूर्व में कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी। आधुनिक पडरौना को जो कसिया से बारह मील और गोरखपुर से लगभग पचास मील है पावा कहते हैं। तीसरी पावा मगध जनपद में थी। यह उक्त दोनों पावाओं के मध्य में अवस्थित थी अतएव पावा-मध्यमा के नाम से अभिहित की गयी है। वर्तमान में बिहार शरीफ से लगभग ८ मील की दूर पर दक्षिण में यह स्थित है।

(१४) पुण्ड्र (४।१।१९)—यह पुण्ड्रवर्धन के नाम से प्रसिद्ध है और पूर्व बंगाल के मालदा जिले में है। वर्तमान बोगरा जिले का महास्थान गढ़ नामक स्थान पुण्ड्र जनपद में था। इस ग्राम में अशोक का एक शिलालेख मिला है उसमें पुण्ड्र नगर के महामात्र के लिए आज्ञा दी गयी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (अ० ११) में लिखा है कि पुण्ड्र देश का वस्त्र श्याम और मणि के समान चिकना वस्त्र का होता है। महाभारत (सभा पर्व ७८ ९१) में पुण्ड्र राजाओं का दुकूलादि लेकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित

---

[1] रत्नचन्द्रीनिका जिल्द दूसरी पृ ५८१ ।

होने का उल्लेख है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पुण्ड्र की गणना पूर्व देश में की है।

(१५) माहिष्मती (१।८।२)—पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में उल्लिखित यह एक अति प्राचीन नगरी थी। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि इस नगरी में हैहयराज कार्तवीर्यार्जुन राज्य करते थे[1]। स्कन्दपुराण के नागर खण्ड के मत से यह नगरी नर्मदा के तट पर अवस्थित थी। सहस्रार्जुन रेवा के जल में बहुत-सी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करता था। रावण उसके बल-वीर्य को जानता हुआ भी उसके साथ युद्ध करने आया और अन्त में सहस्रार्जुन के हाथ बन्दी बना।

महाभारत में लिखा है कि राजसूय के समय सहदेव यहाँ कर उगाहने आये थे। उस समय यहाँ नीलराज का राज्य था। स्वयं अग्निदेव इनके जामाता थे। अग्नि की सहायता से नीलराज ने उनको परास्त किया, पर अग्निदेव के कहने पर सहदेव की पूजा की और कर दिया। गरुड़ पुराण (८१।१९) में इस स्थान को महातीर्थ कहा है।

बौद्ध काल में भी माहिष्मती समृद्धिशाली नगरी थी। बहुत से पण्डितों का वास होने से इस नगरी का आदर था। ७वीं सदी में चीनी यात्री यू एन च्वांग यहाँ आया था। इसने मोहिशिफलोपुलो (महेश्वरपुर) के नाम से उल्लेख किया है। इस समय इस नगरी का परिमाण ५ मील था। इसकी गणना स्वतन्त्र राज्यों में की जाती थी। यहाँ के निवासी पाशुपतावलम्बी थे। राजा ब्राह्मण था। बताया जाता है कि जबलपुर से ६ मील दूर त्रिपुरारि नामक नगरी का अभ्युदय होने से माहिष्मती की समृद्धि लुप्त हो गयी थी। महाभारत के समय में माहिष्मती और त्रिपुर स्वतन्त्र राज्य थे।

हेम ने माहिष्मती का उल्लेख दो बार किया है। प्रथम बार उज्जयिनी के साथ (१।८।२) और द्वितीय बार (६।२।७७)—'महिष्मान् देशो यस्य माहिष्मती' किया है। पालि साहित्य से अवगत होता है कि यह नगरी दक्षिणापथ मार्ग पर पड़ती थी और प्रतिष्ठान एवं उज्जयिनी के बीच अवस्थित थी। माहिष्मती को कुछ लोगों ने महेश्वर से मिलाया है और कुछ ने मान्धाता नगर से। माहिष्मती की पूर्वोक्त स्थिति के अवलोकन से स्पष्ट है कि उसे मान्धाता से मिलाना ही उचित है।

(१६) माकन्दी (६।२।७१)—दक्षिण पाञ्चाल के मुख्य नगरों में इसकी गणना थी। दुर्योधन से पाण्डवों के लिए कृष्ण द्वारा जिन पाँच नगरों

---

१ श्रीमद्भागवत ९१।२२

की माँग की। यही थी इसमें माकन्दी का नाम भी शामिल था।[1] बताया गया है कि एक माकन्दी गंगा के किनारे थी और दूसरी यमुना के।

(१७) वरणा (४।२।८२)—वरण वृक्ष के समीप बसी होने के कारण इस नगरी का नाम वरणा पड़ा था। वरणा उस दुर्ग का नाम था, जो आवकायनों के राज्य में सिन्धु और स्वात नदियों के मध्य में सबसे सुदृढ़ रक्षा स्थान था। पाणिनि व्याकरण में भी (४।२।८२) इसका उल्लेख आया है।

(१८) विराट नगर (७।४।११)—यह नगर मत्स्य देश की राजधानी था। यहाँ पर पाण्डवों ने वर्ष भर गुप्तावास किया था। जयपुर से उत्तर पूर्व ४२ मील पर यह प्राचीन स्थान आज भी वर्तमान है।

(१९) वैदिशं नगरम (४।२।६९)—पालि साहित्य में इसे वेदिस नगर' कहा है। वस्तुतः वैदिश नगर 'दक्षिणापथ मार्ग पर गोनर्द और कौशाम्बी के बीच अवस्थित था। बावरि ब्राह्मण के सोलह शिष्य यहाँ ठहरे थे। भोपाल के निकट वेत्रवती या बेतवा नदी के तट पर भिलसा नाम की नगरी ही प्राचीन वैदिश नगर है। यह कभी दशार्ण की राजधानी रही है। सम्राट पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र अपने पिता के समय इस नगरी में राज्यपाल के रूप में निवास करता था। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में इसकी चर्चा है। बाणभट्ट की कादम्बरी का प्रधान नायक शूद्रक वैदिश नगर का राजा था। स्थविर महेन्द्र ने लंका जाने के पूर्व कुछ समय इस नगर में निवास किया था। उनकी माता देवी ने इस नगर में 'वेदिसगिरि महाविहार' की स्थापना की थी।[1]

(२०) शाकलम् (४।२।७५)—यह भी एक नगर है।

(२१) शिखावल (४।२।०९)—हेम ने 'शिखायाः' सूत्र की व्याख्या करते हुए शिखावल को समृद्ध नगर कहा है। संभवतः यह सोम नदी पर स्थित शिहावल नगर रहा होगा।

(२२) सकास्य (।३।६)—फर्रुखाबाद जिले में इक्षुमती नदी के किनारे वर्तमान संकिसा है। हेम ने (२।२।३ ०) में गवीधुमतः साकाश्यं चत्वारि योजनानि' उदाहरण द्वारा गवीधुमत से सांकाश्य को चार योजन दूर बतलाया है। ७।३।६ सूत्र के उदाहरण में 'सांकाश्यकानां पाटलिपुत्र कानां च पाटलिपुत्रका आढ्यतमा'[1]—अर्थात् सांकाश्य और पाटलिपुत्र के निवासियों में पाटलिपुत्र वाले धनाढ्य हैं। इससे स्पष्ट है कि हेम के समय में सांकाश्य का वैभव क्षीण हो गया था। यह पांचाल देश का मुख्य नगर था।

---

[1] समन्तपासादिका, जिल्द पहली पृ० ७० ।

वाल्मीकि रामायण के आदिकाण्ड (अध्याय ७) में भी सकाश्य नगर का उल्लेख है। पाणिनि ने (४।२।८) संकाश्य नगर का उल्लेख किया है। सरभमिग जातक में संकाश्य नगर की दूरी श्रावस्ती से तीस योजन बतायी गयी है। जनरल कनिंघम ने संकिसा—बसन्तपुर की पहचान सर्वप्रथम की है। संकिसा गाँव ४१ फुट ऊँचे टीले पर बसा हुआ है। चारों ओर दूसरे भी टीले हैं, जिनका घेरा मिलाकर करीब दो मील है।[1] स्मिथ ने इस पहचान को स्वीकार नहीं किया था। उनका कहना था कि यूवान् चुआङ् ने जिस संकाश्य नगर को देखा था उसे एटा जिले के उत्तर पूर्व में होना चाहिए।[2] फाह्यान ने सकाश्य नगर को मथुरा से १८ मील दक्षिण-पूर्व में देखा था।[3] संकाश्य नगर उत्तरापथ मार्ग पर अवस्थित था जिसके एक ओर सोरों और दूसरी ओर कन्नौज नगर स्थित थे। इन दोनों के बीच में सकाश्य नगर था।

(२३) सौवास्तव (४।२।७१)—यह सुवास्तु या स्वात नदी की घाटी का प्रधान नगर था। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४।२।७७) में इसका उल्लेख मिलता है।

(२४) तक्षशिला (४।३।९३)—यह नगर पूर्वी गन्धार की प्रसिद्ध राजधानी था। सिन्धु एवं वितस्ता के बीच सब नगरों में बड़ा और समृद्ध शाली था। उत्तरापथ राजमार्ग का मुख्य व्यापारिक नगर था। जैन ग्रन्थों में इसका दूसरा नाम धर्मचक्र भूमि भी पाया जाता है। बौद्धकाल में यह नगर विद्या का बड़ा केन्द्र था।

(२५) विष्णुपुर (४।३।२९)—बाँकुरा जिले का प्राचीन नगर है। यह अक्षांस २३।२३ उ तथा देशान्तर ८७-४० पू के मध्य द्वारिकेश्वर नदी से कुछ मील दक्षिण में अवस्थित है। यह प्राचीन समृद्धिशाली नगर है। प्राचीन समय में ७ मील लम्बा था। दुर्ग प्राकार के मध्य में राजप्रासाद वर्तमान था। यहाँ आज भी भग्नावशेष उपलब्ध हैं। नगर के दक्षिणी दरवाजे के समीप विशाल अन्नागार का भग्नावशेष उपलब्ध है। किंवदन्ती प्रचलित है कि रघुनाथ इस नगर का प्रथम मल्ल राजा हुआ। इसे वंश ने ११ वर्ष शासन किया। राजा रघुनाथ ने बड़े यत्न से इस नगर को बसाया था। बहुत समय तक यह मल्लभूमि के नाम से प्रसिद्ध रहा। विष्णुपुर में ५९ राजाओं ने राज्य किया है।

इन नगरों के अतिरिक्त गया (४।२।९९), उरसा (४।२।९९) पाणा

१ एन्शियण्ट ज्यॉग्रेफी ऑव इण्डिया पृ ४२३-४२७।
२ वाटर्स : ऑन यूआन चुआङ्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, जिल्द पहली, पृ ३३८।
३ गाइल्स : ट्रैवेल्स ऑव फाह्यान पृ २४।

(३।३।१२), दार्व (३।३।१२) राजगृह (३।३।७६) पाटलिपुत्र (७।३।१६), बहु-मत्स्य (७।३।२६) सांकाश्य (३।२।७८) श्रीपुर (२।३।७६), कोविदार (३।२।८४), काश्मीर (६।२।८७) वाराणसी (६।३।६९), मालवनगर (३।२।५८) प्रभृति नगरों के नाम उपलब्ध होते हैं। हेम ने मथुरा और पाटलिपुत्र की समृद्धि की तुलना करते हुये लिखा है—'मथुरा पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतरा' (७।३।११) अर्थात् मथुरा पाटलिपुत्र की अपेक्षा अधिक समृद्धि शाली है। सम्भवतः हेम के समय में मथुरा की समृद्धि अधिक बढ़ गयी थी। पर सकारण की अपेक्षा पाटलिपुत्र की समृद्धि अधिक थी। हेम ने 'सकारण आनां पाटलिपुत्रकाणां च पाटलिपुत्रका आढ्यतमा' (७।३।६) उदाहरण द्वारा अपने समय की स्थिति पर प्रकाश डाला है। ३।७।१११ सूत्र के उदाहरणों में 'बहुपरिव्राजका मथुरा' उदाहरण प्रस्तुत कर मथुरा में बहुत से सन्यासियों के रहने की सूचना दी है। अनुमान है कि आज के समान ही हेम के समय में भी मथुरा में सन्यासियों की भीड़ एकत्र रहती थी। इसी कारण हेम ने उक्त उदाहरण द्वारा मथुरा में संन्यासियों की बहुलता की सूचना दी है।

हेम ने राजन्यादि गण ईषुकार्यादि गण मध्यादि गण बलादि गण, बरणादि गण कथादि गण सुमादि गण वाहीक गण आदि में तीन-चार सौ नगरों से कम का उल्लेख नहीं किया है। इन गणों में पाणिनि के नामों की अपेक्षा अनेक नाम नवीन आये हैं।

गाँवों के नामों में वास्य आश्वकिनी केकयता (३।१।१०२), नपर्णी (३।२।९), पूर्वेषुकामशमी (३।२।२२), आलकी कन्थीपुर सिपुरी बाला-कुमस्य अस्कुटरीमह (३।३।११), चर्तीपुर पीलुवह माकामस्य सोमसस्य (३।३।३३) आदि सैकड़ों नाम आये हैं। हेम ने मौञ्ज नामक ग्राम के सम्बन्ध में विचार विमर्श करते हुये लिखा है—"मौञ्जनाम वाहीकग्रामविरन्य पदीयो ग्रामो न वाहीक ग्राम इत्येके। अन्ये तु दश द्वादश वा ग्रामा विशिष्टसन्निवेशावस्थाना मौञ्ज नामेति ग्रामसमूह एवायं न ग्राम', नापि राष्ट्रं येन राष्ट्रलक्षणोऽकम् स्यात् इति मन्यन्ते" (३।३।२६)। अर्थात् मौञ्ज ग्राम वाहीक की सीमा के बाहर नहीं है। अतः इसे वाहीक ग्राम में ही शामिल करना चाहिये ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। अन्य कुछ मनीषी दस या बारह ग्रामों के विशिष्ट समूह को मौञ्ज ग्राम मानते हैं, किसी एक ग्राम को नहीं। यह राष्ट्र तो है नहीं, जिससे राष्ट्रलक्षण सूचक अकम् प्रत्यय किया जाय। इस प्रकार हेम ने ग्राम सम्बन्धी सामग्री पर पर्याप्त विचार किया है।

पर्वत—

राष्ट्र नगर और ग्रामों के अतिरिक्त पर्वत नदी और वनों की विवेचना भी हैम व्याकरण में उपलब्ध होती है। हेम के उल्लेखों से अवगत होता है कि उनके समय में भी पर्वतीय लोग आयुधजीवी थे। इन्होंने—'पर्वतात् ६।३।६ —पर्वतशब्दाद्देशवाचिन शेषेऽर्थे ईय प्रत्ययो भवति।' यथा—पर्वतीयो राजा, पर्वतीया पुमान्। अर्थात् पहाड़ी प्रदेश में रहने वालों को बतलाने के लिये पर्वत शब्द से ईय प्रत्यय होता है। यथा—पहाड़ी इलाके का राजा और पहाड़ी पुरुष दोनों ही पर्वतीय कहलाते हैं। मनुष्य अर्थ से भिन्न अर्थ बतलाने के लिये यह ईय प्रत्यय विकल्प से होता है। बताया है—'अनरेवा' ६।३।६१—पर्वतादेशवाचिनो नरवर्जितशेषेऽर्थे ईय प्रत्ययो भवति वा। यथा—पर्वतीयानि पर्वतानि फलानि, पार्वतमुदकम्। मार्कण्डेय पुराण में त्रिगर्त कुमार कुंजा (हसमार्ग) अलकालनार (नीहार) के अर्थात् कांगड़ा से अफगानिस्तान के पहाड़ी कबीलों को पर्वतीय या पर्वताश्रयी कहा जाता था। महाभारत उद्योग पर्व (६ ।२०) में गान्धारराज शकुनि' पर्वतीय'—गन्धार देश का राजा शकुनि पहाड़ी कबीलों का अधिपति था। हेम ने साधु शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुये लिखा है—सनति सनोति वा परार्थमिति साधु—पार्वतीयकबेधा (उण १) अर्थात् धर्म आदि पदार्थों के रहने से साधु कहलाता था।

पौराणिक पर्वतों में त्रिककार्य पुष्कराव (३।१।७), त्रिपथ और नील (३।१।१६) का निर्देश आया है। त्रिककार्य को कुछ विद्वान् हिमालय का ही एक अंग मानते हैं। 'अञ्जनादीनां गिरौ' (३।२।७७) में परम्परा से चले आने वाले पर्वतों के निर्देश के साथ कुछ नाम नये पर्वतों के भी आये हैं। इस सूत्र में अञ्जनादि गण के अन्तर्गत अञ्जनागिरिः, भाञ्जनागिरिः किंशुका गिरि किंशुलकागिरि सात्वगिरि लोहितागिरि कुक्कुटागिरि कदलागिरि नलागिरि एवं पिंगलागिरि इस प्रकार दस पहाड़ों के नामों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने किंशुलकादि गण में किंशुलकगिरि शाल्वकागिरि अंजनागिरि भंजनागिरि लोहितागिरि एवं कुक्कुटागिरि इन छः पहाड़ों का उल्लेख किया है। श्री डा वासुदेव शरण अग्रवाल ने अनुमान किया है कि उत्तर-पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान से बलूचिस्तान तक उत्तर दक्खिन दौड़ती हुई पहाड़ों की जो ऊँची दीवार है उसकी बड़ी चोटियों के ये नाम जान पड़ते हैं'[1]। कुछ विद्वान् हिन्दूकुश का पुराना नाम लोहितगिरि मानते हैं। महाभारत

---

१. पाणिनिकालीन भारत पृ ८५

(सभापर्व २७।१७) में अर्जुन की दिग्विजय के मार्ग में कश्मीर के बाद लोहित को जीतने का उल्लेख है।

हेम ने ३।१।१०२ में हिमालय पर्वत की एक चोटी गौरी का उल्लेख किया है। इसका वर्णन महाकवि कालिदास के कुमारसंभव में पार्वती-तपश्चरण के प्रसंग में (५।७) उपलब्ध होता है। इस चोटी पर मयूर रहा करते थे। हेम ने इसी प्रसंग में कैलाश पर्वत का उल्लेख किया है। जिनसेन के महापुराण में (३३ पर्व श्लो १२-१) कैलास का बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है। इस कैलास पर्वत से बहुत से झरने निकलते थे इसकी चोटी बहुत ही उन्नत थी इसमें नाना प्रकार की मणि जटित थीं। *गुफाओं में सिंहादि हिंसक जन्तु निवास करते थे।* यह कैलास भी हिमालय की एक चोटी है। हेम ने ३।२।७ में इसका अन्य नाम अष्टापद भी कहा है। यथा—अष्टौ पदान्यस्य अर्थात् आठ पद—उपत्यकाएँ जिसकी हों वह अष्टापद है। कुछ विद्वान् कैलास को मानसरोवर से २५ मील उत्तर में मानते हैं तथा यह स्थान मनुष्यों के लिए अगम्य माना जाता है। अन्य पर्वतों में गन्धमादन (२।२।११) के नामों के साथ निम्नांकित पर्वतों का उल्लेख मिलता है।

रैवतगिरि (३।७।२)—यह गुजरात का प्रसिद्ध पर्वत है। आजकल इसका नाम गिरनार है। पुराणों में इसे रैवतक पर्वत कहा गया है। यह काठियावाड़ प्रान्त के जूनागढ़ नगर के समीप है। महाकवि माघ ने अपने माघ काव्य में श्रीकृष्ण की सेना के द्वारिका से चलकर रैवतक पर्वत पर शिविर डालने के अतिरिक्त विविध क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। जैन साहित्य में यह पर्वत बहुत प्रसिद्ध और पवित्र माना गया है।

माल्यवान् (२।२।११)—यह दक्षिणापथ का पर्वत है। रामायण में इसका वर्णन आया है। यहाँ सुग्रीव की प्रार्थना पर श्रीरामचन्द्र जी ने वर्षाकाल व्यतीत किया था।

परियात्र (२।२।७५)—यह भारत वर्ष का एक कुल पर्वत है। संभवतः यह विन्ध्य पर्वत माला का एक भाग है जो कच्छ की खाड़ी की ओर है। कुछ ऐतिहासिक विद्वानों के मत से यह हिमालय की शिवालक पर्वत माला का नाम है। कुछ विद्वान् जयपुर और मालवा के मध्य में विस्तृत पर्वत माला के पश्चिम भाग को परियात्र मानते हैं, जो आजकल पत्थार कहलाती है। चीनी यात्री यूएन च्वाँग ने इसी पर्वत माला को परियात्र कहा है। हेम ने 'उत्तरो विन्ध्यात् पारियात्रः' (२।२।७७)—अर्थात् विन्ध्य से उत्तर पारियात्र

को कहा है। मध्य भारत में पश्चिमोत्तर में विस्तृत पर्वत श्रेणी विन्ध्य है इसी के कारण भारत उत्तर और दक्षिण भागों में बँटा है।

पर्श्वाग्रामगिरि (३।२। ८)—पार्श्व—'मेघा सन्त्यत्र पार्श्वाग्राम गिरि' अर्थात् यह भी हिमालय की कोई चोटी ही प्रतीत होती है।

वेटाग्रामगिरि (३।२।७८)—वेटन्ति पक्षिणिरत्र वेटा वृक्षास्ते सन्त्यत्र अर्थात्—इस पर्वत पर घने वृक्ष थे। संभवतः यह विन्ध्यगिरि की कोई चोटी है।

शत्रुञ्जय (३।७।२)—काठियावाड़ में एक छोटा सा पर्वत है। इस पर्वत पर लगभग ९ जैन मन्दिर हैं। आचार्य हेम ने गिरनार से शत्रुञ्जय की दूरी बतलाते हुए लिखा है—'रैवतकात् प्रस्थितः, शत्रुञ्जये सूर्य पातयति'—अर्थात् रैवत से प्रातःकाल रवाना होने पर सूर्यास्त होते-होते शत्रुञ्जय पर पहुँच जाते हैं। कहा जाता है कि जयसिंह सिद्धराज ने शत्रुञ्जय की तीर्थ यात्रा करके यहाँ के आदिनाथ को १२ ग्राम भेंट किये थे। सम्राट् कुमारपाल ने भी शत्रुञ्जय और गिरनार की यात्रा की थी तथा शत्रुञ्जय पर जिनमन्दिर भी बनवाये थे।

नदियाँ—

'गिरिनद्यादीनाम्' ३।३।८८ में दो प्रकार की नदियों का उल्लेख किया है—गिरिनदी और चक्रनदी। गिरिनदी उस पहाड़ी नदी को कहा है जो झरने के रूप में प्रवाहित होती है जिसमें अधिक गहरा पानी नहीं रहता। चक्र नदी इस प्रकार की नदी है जिसकी धारा बहुत लम्बी और दूर तक प्रवाहित होती है जिसका जल भी गहरा रहता है। दूर तक प्रवाहित रहने के कारण चक्र नदी के तट पर आबादी रहती है, बड़े-बड़े गाँव या शहर बस जाते हैं। निम्न नदियाँ उल्लिखित हैं।

(१) गंगा (३।१।३७) यमुना (३।१।३४) शोण (३।१।७२) गोदावरी (३।२।५, ७।३।२१), देविका (उण १०) चर्मण्वती (२।७।३), इरा (५।३।१ ८) उदुम्बरावती मशकावती वीरणावती पुष्करावती इक्षुमती, द्रुमती शरावती इरावती भागीरथी, भीमरथी जाह्नवी सौवास्तवी (२।२। २), चन्द्रभागा (२।७।३), अहिवती कपिवती, मणिवती मुनिवती ऋषिवती (३।१।९५) सरयू (१ ४ ३) सफरी (१ ४ ३)।

गंगा—यह भारत की प्रसिद्ध पुण्यनदी है। यह गढ़वाल जिले के गंगोत्री नामक स्थान से दो मील ऊपर बिन्दुसर से निकलती है। हेम ने 'अनुगङ्गं वाराणसी' (३।१।३७)—उदाहरण द्वारा वाराणसी के समीप गंगा की सूचना

ती है। ३।१।५ सूत्र में उन्मत्तगङ्गं लोहितगङ्गं शनैर्गङ्गम् और तूष्णीगङ्ग उदाहरणों द्वारा गङ्गा की विभिन्न स्थितियों का निरूपण किया है। वर्षा ऋतु में बाढ़ आने से गंगा उन्मत्त और लोहित हो जाती है। शरद् ऋतु में गंगा के प्रवाह की तीव्रता कम जाने से शनैर्गङ्गम्—धीरे धीरे प्रवाहित होने वाली गंगा कही जाती है। ग्रीष्म ऋतु में गंगा की धारा के क्षीण हो जाने से कलकल ध्वनि भी कम सुनाई पड़ती है और गंगा शान्त रूप में प्रवाहित होने लगती है। अतः इन दिनों में तूष्णींगंगा कहलाती है।

यमुना—आगरा मथुरा और प्रयाग के निकट प्रवाहित होनेवाली प्रसिद्ध नदी है। यह कलिन्द नामक स्थान से निकलती है जिसे यमुनोत्तरी कहा जाता है। कलिन्द पर्वत से निकलने के कारण ही यह कालिन्दी कहलाती है। हेम ने 'अनुयमुनं मथुरा (३।१।३१) उदाहरण से मथुरा की समीपता यमुना से बतलायी है।

शोण—यह पूर्व देश की प्रसिद्ध नदी है। हेम ने 'गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम् (३।१।१३२) द्वारा गंगा और सोन की समीपता बतलायी है। *यह नदी गोंडवाने से निकलकर पटना के समीप गंगा से मिलती है।*

गोदावरी—दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। यह सह्य पर्वत—पश्चिमी घाट के पूर्व शिखर त्र्यम्बकेश्वर नामक स्थान के पास ब्रह्मगिरि पर्वत से निकलती है। यह स्थान वर्तमान नासिक नगर से १२ मील की दूरी पर है। यह नदी राज महेन्द्री के पास पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी) में गिरती है और ९ मील लम्बी है।

देविका—यह मद्रदेश में प्रवाहित होने वाली प्रसिद्ध नदी है। वामन पुराण अध्याय ८४ के अनुसार रावी की सहायक नदी थी इसकी पहचान देग नदी के साथ की जा सकती है जो जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट, शेखूपुरा जिलों में होती हुई रावी में मिल जाती है।

चर्मण्वती—इसका वर्तमान नाम चम्बल है विन्ध्याचल की नदियों में यह प्रसिद्ध है। इसका जल बहुत ही पतला और साफ होता है।

कुहा—यह उत्तरापथ की प्रसिद्ध नदी है। इसे काबुल नदी भी कहते हैं। वेदों में इसे कुभा कहा गया है। ग्रीक लोग इसे कोफेस कहते हैं। यह सिन्धु की सहायक नदी है और कोही बाबा पहाड़ के नीचे से निकलती है।

उदुम्बरावती—उदुम्बर देश की किसी नदी का नाम है। यह देश व्यास और रावी के बीच में कांगड़ा के आस-पास अवस्थित था।

मशकावती—स्वात नदी का निचला भाग मशकावती नदी है। इसके

तट पर मशकावती नगरी थी। यूनानियों के अनुसार मस्सग का किला पहाड़ी था जिसके नीचे प्रवाहित होने वाली नदी मशकावती कहलाती थी। काशिका (४।२।८५) में इस नदी का उल्लेख है।

वीरणावती—यह नदी प्राचीन वारणावती ज्ञात होती है। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में दक्षिण भारत की नदियों में वरणा का नाम गिनाया है। यह सह्य पर्वत से निकलती है।

पुष्करावती—स्वात नदी के एक हिस्से का नाम पुष्करावती है। सुवास्तु नदी के दक्षिण का प्रदेश, जहाँ यह कुभा में मिलती है किसी समय पुष्कल जनपद कहलाता था। श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने गौरी-सुवास्तु संगम तक की सम्मिलित धारा को पुष्करावती माना है[1]।

इक्षुमती—यह फर्रुखाबाद जिले की ईखन नदी है। गंगा की सहायक नदियों में इसकी गणना की गयी है।

द्रुमती—संभवतः यह काश्मीर की द्रास नदी है।

शरावती—कुरुक्षेत्र की घग्घर नदी है। यह प्राच्य और उदीच्य देशों की सीमा पर प्रवाहित होती थी।

इरावती—यह पंजाब की प्रसिद्ध इरावती या रावी नदी है। लाहौर नगर इसी के तट पर बसा था। कुछ विद्वान् अवध प्रदेश की राप्ती नदी को इरावती मानते हैं, पर अधिकांश विचारक इसी पक्ष में हैं कि यह पंजाब की प्रसिद्ध रावी नदी ही है।

भैमरथी—दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। इसका वर्तमान नाम भीमा है। कृष्णा के साथ जहाँ इसका संगम होता है, वहाँ इसका नाम भैमरथी हो गया है।

सौवास्तवी—आजकल इसे स्वात नदी कहा जाता है। इसकी पश्चिमी शाखा गौरी नदी है। इन दोनों के बीच में उड्डियान था, जो गन्धार देश का एक भाग माना जाता था।

चन्द्रभागा—पंजाब की पाँच प्रसिद्ध नदियों में से एक नदी चिनाब ही चन्द्रभागा नदी है। यह सिन्धु की सहायक नदियों में है। इस नदी के दोनों तटों पर चन्द्रावती नगरी का ध्वंसावशेष पड़ा हुआ है। कहा जाता है कि राजा चन्द्रसेन ने यह चन्द्रावती नगरी बसाई थी, किन्तु वहाँ से प्राप्त प्राचीन सिक्कों को देखने से यही अनुमान किया जाता है कि इस नगरी का अस्तित्व चन्द्रसेन से बहुत पहले भी वर्तमान था। अतः चन्द्रसेन ने इसका पुनः संस्कार किया होगा।

---

१ पाणिनिकालीन भारत पृ० ५५

वन—

भौगोलिक दृष्टि से वनों का महत्त्व सार्वजनीन है। आचार्य हेम ने अपने शब्दानुशासन में कतिपय वनों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में वन अधिक थे और उनकी उपयोगिता से सभी लोग अवगत थे। इन्होंने 'निष्प्राग्रेऽन्तः खदिरकार्ष्याम्रशरेक्षुप्लक्षपीयूक्षाभ्यो वनस्य' (२।३।६६) में निर्वणम् प्रवणम्, अग्रेवणम् आम्रवणम्, शरवणम् इक्षुवणम्, प्लक्षवणम्, पीयूक्षावणम् तथा २।३।६७ सूत्र में मनोहरवणम्, प्रभाकरवणम् के नाम भी गिनाये हैं। 'द्वित्रिस्वरौषधिवृक्षेभ्योनवाऽनिरिकादिभ्य' २।३।६८ में देवदारुवन भद्रदारुवन शिंशपावन सिरीषवन इरिकावन मिरिकावन तिमिरवन चिरिकावन कमरिवन चीरवन हरिवन कुमवन कुवन दूर्वावन मूर्वावन, ब्रीहिवन माषवन नीवारवन गोधूमवन प्रियङ्गुवन विकुवन दारुवन और करीरवन का उल्लेख आया है।

इन वनों में अग्रेवन प्राचीन अंगजनपद में स्थित था। आम्रवन राजगृह के समीप आम का बना जंगल था। कहा जाता है कि इसे जीवक ने बुद्ध को दान में दिया था। प्राकृत साहित्य में कई उद्यानों का उल्लेख आया है। कंपिल्ल नगर में सहस्रंबवन नाम का उद्यान था। कासमिका नगरी के बाहर सांवन नाम के उद्यान का उल्लेख है। महाकवि अर्हद्दास ने अपने मुनिसुव्रत काव्य में मगध के घनीभूत वनों का वर्णन करते हुए किया है—

तमोनिपातेषु वनेषु यस्य मरन्दसार्द्रास्तरयोर्मयूखा ।
स्फुरन्ति शाखान्तरलब्धमार्गा कुन्ता प्रयुक्ता इव शोणिताक्ता ॥१।२४॥

जिस मगध देश के निबिड अन्धकार मय वनों में मकरन्द बिन्दु से भीगी हुई तथा पत्तों की ओट से छन-छन कर आती हुई सूर्य की किरणें कवच को भेद कर आती हुई रुधिराक्त बर्छियों सी प्रतीत होती हैं।

कवि ने 'बहिर्वनो यत्र विभाय' तथा 'आरामरामारिरसीप' (१।६८–६९) पद्यों द्वारा राजगृह के बाहर रहने वाले वनों की सूचना दी है। हेम ने (२।३।६५) मनोहर वन को रम्य उद्यान बताया है। शरवणम् नामक सन्निवेश श्रावस्ती नगरी से सटा हुआ था जहाँ आजीवक आचार्य गोशाल मंखलि पुत्र का जन्म हुआ था। इक्षुवन—फर्रुखाबाद जिले की ईक्षुमती—ईखन नदी के तट पर अवस्थित था। प्रभाकर वन का दूसरा नाम महावन भी बताया गया है। यह उद्यान वाराणसी के समीप था। गोशालक ने महावीर से कहा था कि उसने काम महावन में मल्लमण्डित का शरीर छोड़कर उदाइ के शरीर में प्रवेश किया है। प्रभाकर वन के वैशाली के आस-पास रहने के भी प्रमाण मिलते हैं। ब्रीहिवन और मूर्वावन

ऋजुवालिका नदी के दोनों तटों पर अवस्थित थे। भगवान् महावीर ने इसी ऋजुपालिका नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त किया था। बदरीवन मिर्जापुर और वाराणसी के बीच पड़ता था। आज भी इस स्थान पर बदरी—बेर के पेड़ उपलब्ध हैं। यह बदरीवन राजस्थान में धौलपुर से ११–१२ मील पर बाड़ी नामक कस्बे के आस-पास स्थित था। ईरिका वन और मिरिका वन विन्ध्य की तलहटी में स्थित थे। करीरवन—मथुरा और वृन्दावन के बीच चार मील लम्बा वन था। आचार्य हेम के समय में भी यह वन किसी न किसी रूप में स्थित रहा होगा।

सामाजिक जीवन—

आचार्य हेम ने अपने व्याकरण में जिस समाज का चित्रण किया है वह समाज पाणिनि या अन्य वैयाकरणों के समाज की अपेक्षा बहुत विकसित और भिन्न है। हेम द्वारा प्रदत्त उदाहरणों से भी वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है पर हेम ने जातिवाद की कट्टरता स्वीकार नहीं की है। उनकी जाति व्यवस्था श्रम-विभाजन पर तो आश्रित है ही साथ ही परम्परा से प्राप्त जन्मना जाति-व्यवस्था के उदाहरण भी आचार्य हेम ने उपस्थित किये हैं। सामाजिक रहन-सहन और आचार-व्यवहार में हेम ने जाति को कारण नहीं माना। समाज की उन्नति और अवनति का हेतु वैयक्तिक विकास ही है चाहे वह विकास आर्थिक हो अथवा आध्यात्मिक।

जाति व्यवस्था—

आचार्य हेम ने जातिव्यवस्था के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—'जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात् २।४।५४—'तत्र जातिः कश्चित्संस्थानव्यङ्ग्या, यथा गोत्वादि। सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सत्यत्रिलिङ्गान्या यथा ब्राह्मणादि। अत्रिलिङ्गत्वं देवदत्तादेरप्यस्तीति सकृदुपदेशव्यङ्ग्य ग्रहणमित्युक्तम्। गोत्रचरणलक्षणा च तृतीया। यथाह—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

अर्थात्—जाति के अन्तर्गत गोत्र—पितृ-वंश परम्परा और चरणों—गुरुवंश परम्परा को भी सम्मिलित कर लिया गया है। गोत्र और चरणों के विभिन्न भेदों के आधार पर सहस्रों प्रकार की नाना जाति-उपजातियाँ संगठित हो गयी हैं। ऐसा लगता है कि हेम के मत में एक गोत्र के भीतर भी कई उपजातियाँ हुई हैं। इन उपजातियों के बनने का आधार मात्र श्रमविभाजन है। अतः एक प्रकार से आजीविका अर्जन करने वालों का एक वर्ग माना है।

७।१।६० सूत्र की व्याख्या करते हुये लिखा है—"नानाजातीया अनियत वृत्तयोऽर्थकामप्रधाना संघपूगा (७।१।६०)। नानाजातीया अनियत वृत्तय शरीरायासजीविन संघव्राता (७।१।६१)। यथा कापोतपाक्य व्रैहिमत्य" (७।१।६१)। उक्त दोनों उदाहरणों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि कापोतपाक जाति और व्रीहिमत जाति–आजीविका अर्जन करने के ढंग पर अवलम्बित हैं। कापोतपाक वह जाति है जिसके पेशे में कबूतर पकड़ने या कबूतर का मांस पकाकर आजीविका चलाने की प्रथा वर्तमान हो। इसी प्रकार व्रीहिमत जाति धान पैदा कर आजीविका चलाने वाली थी। आज भी बिहार में इस प्रकार की जाति है जो जंगली धान के कणों को एकत्र करती है। अतः आचार्य हेम का 'अनियतवृत्तय' पद इस बात का सूचक है कि भिन्न-भिन्न जाति वालों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं इसी कारण नाना जाति वाले अनियत वृत्ति कहलाते हैं। जो लोग अर्थ और काम साधनों का प्राधान्य रखते थे उनको पूग कहा गया है। यह पूग लोगों का संघ कई जातियों में विभक्त था। कुछ लोग लौह यन्त्र का निर्माण कर आजीविका चलाते थे और कुछ लौह गलाकर अन्य वस्तुओंके निर्माण का काम करते थे। इसी प्रकार शारीरिक श्रम करने वालों का संघ व्रात कहलाता था। इन व्रातों की कापोतपाक और व्रीहिमत जातियाँ थीं। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यावर्त्त की सीमाओं पर बसने वाले और अस्त्र शस्त्र के बल से लूटमार करने वाले व्रात कहे जाते थे। इस जाति को उत्तर पश्चिमी कबाइली इलाकों का निवासी माना है।

७।१।६२-६० सूत्रों की वृत्तियों में शस्त्रजीवियों और उनके भीतर रहने वाली जातियों का उल्लेख किया है। 'शस्त्रजीविनां च संघस्तद्वा पिन स्वार्थेऽण्यट् प्रत्ययो वा भवति। शबरा शस्त्रजीविसंघ। पुलिन्दाः, कुन्तेरपत्यं बहवो माणवका कुन्तय ते शस्त्रजीविसंघ कौन्त्य'— ७।१।६२ शस्त्र से आजीविका चलाने वालों का संघ शस्त्रजीवि संघ कहा गया है। यह संघ अनेक जातियों में विभक्त था—शबर पुलिन्द आदि। इसी प्रसंग में इन्होंने कुन्ति नाम की एक शस्त्रजीवि जाति का उल्लेख किया है। उक्त सूत्र की टिप्पणी में इस शब्द को जीवविशिष्ट माना है जिससे ऐसा ध्वनित होता है कि यह भी संघ था किन्तु मूल सन्दर्भ में इस प्रकार की कोई सूचना अंकित नहीं है। कुन्ति के बहुत से पुत्रों को जिनकी आजीविका का साधन शस्त्र था कौन्त्य कहा है।

वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्येभ्य ७।१।६३ सूत्र में वाहीकदेश की ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के अतिरिक्त अन्य जातियों का उल्लेख करते हुए हेम ने

कुण्डविश प्रभृति मागध वामन्द और वागुर जातियों का निर्देश किया है। ये सभी जातियाँ शस्त्रजीवि थीं। वागुर जाति की पहचान पक्षियों को पकड़ने वाली व्याध जाति से की जा सकती है। इस जाति का पेशा गुलेर द्वारा पक्षियों को मारने या जाल फैलाकर पकड़ने का था। युधाया अपत्यं बहव कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघ यौधेयः, शौभ्रेयः, धार्तेयः, ज्यावनेय, धार्तेय (७।३।६५); शस्त्रजीविसंघ पर्शोरपत्यं बहवो माणवका पार्शवः, राक्षस (७।३।६६); वृमनस्यापत्यं बहव कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघ वृमनीय। औलपीयः, औपलीयः, वैजवापि, औरकि, आर्ष्युवन्तिः, काचन्दि, शाकन्तपि, मार्वसेनिः, गुलमा, मौञ्जायनः, औदमेधि, औपयिन्दि, सावित्रीपुत्रः, कौण्ठरथः, दाण्डकिः, क्रौष्टकिः, जालमानि, सारमाणि, ब्रह्मगुप्तः, जानकिः (७।३।६) आदि अनेक जाति एवं जातियों के वाचक शब्दों का निर्देश उपलब्ध होता है। उल्लिखित सभी जातियाँ शस्त्रजीवी थीं। उलप एक प्रकार की घास है इसे काटकर आजीविका चलाने वाले औलप कहलाये और उनकी सन्तान औलपीय नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार उपल-पत्थर काटने का कार्य कर आजीविका निर्वाह करनेवाले औपलि हुए और उनकी सन्तान औपलीय कहलायी। आचार्य हेम के इस वर्णन से स्पष्ट अवगत होता है कि इनकी दृष्टि में जाति या वर्ण का प्रधान आधार आजीविका है। एक ही प्रकार की आजीविका करनेवाले वर्गविशेष की सन्तान भी आगे चलकर उसी जाति के नाम से अभिहित की जाने लगी। आशय यह है कि एक ही प्रकार की आजीविका करनेवाले जब फल-फूल कर अधिक पुत्र-पौत्रों में विकसित हो पृथक पृथक ग्राम गृह या बाड़ के अन्तर्गत बस जाते थे तो वे समाज में अपने पृथक अस्तित्व का भाव और स्मृति बनाये रखने के हेतु एक छोटी उपजाति या गोत्रापत्य का रूप ग्रहण कर लेते थे। स्पष्ट है कि जाति उपजातियाँ कौटुम्बिक नामों पैतृकनामों व्यापारिकनामों शहरों के नामों, पेशे के नामों एवं पदों के नामों के आधार पर संघटित हुई हैं। हेम ने पाणिनीय तन्त्र के आचार्यों से ही वाहीक एवं उत्तर-पश्चिम प्रदेश की समाज व्यवस्था को स्पष्ट करने वाले उदाहरणों को ग्रहण कर अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। शकस्यापत्यं शकः यवनस्यापत्यं यवनः, अङ्गः, कम्बोजः, चोल केरल (६।१।११९) आदि प्रयोगों से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

यह सत्य है कि आचार्य हेम के समय में वर्णव्यवस्था वैदिक काल की अपेक्षा बहुत शिथिल हो गयी थी फिर भी उसकी जड़ें पाताल तक रहने के कारण वह जन्मना अपना अस्तित्व बनाये हुए थी। प्राचीन परम्परा की

पुष्टि के लिए इन्होंने 'चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्' (७।२।१६४) उदाहरण द्वारा चारों वर्णों का अस्तित्व निरूपित किया है। चारों वर्णों के भाव या कर्म को चातुर्वर्ण्य कहा गया है।

ब्राह्मणजाति—

इन्होंने ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है—"ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणाः" (७।४।२८) अर्थात् ब्रह्मन्—ब्रह्मा की सन्तान ब्राह्मण है। पर इस ब्रह्मा का अर्थ इन्होंने पौराणिक ब्रह्मा नहीं लिया है बल्कि आध्यात्मिक गुण सम्पत्ति और सदाचार से युक्त व्यक्ति को ब्रह्मा कहा है। ब्राह्मण के आदर्श और आचार के लिए ब्राह्मण्य पद का प्रयोग पाया जाता है। 'ब्राह्मणाभासे" (७।१।१४३) सूत्र की व्याख्या में बतलाया गया है कि 'ये ब्राह्मणजीविन: श्रमणरूपा नाम ब्राह्मणा भवन्ति। आयुधजीवी ब्राह्मण एव ब्राह्मणक इत्यन्ये'। अर्थात् जिसमें सदाचार साधना एवं आत्मबोध नहीं है ऐसा व्यक्ति यदि अपने आचार को छोड़ अस्त्र-शस्त्र से आजीविका अर्जन करने लगे तो वह नाम ब्राह्मण कहलायगा। मतान्तर से आयुधजीवी ब्राह्मण को ब्राह्मणक कहा गया है। अध्यापन याजन और प्रतिग्रह के अतिरिक्त क्रूर भाव का त्याग कर अहिंसा, सत्य प्रभृति व्रतों का पालन करना भी ब्राह्मण का कर्म है। आचारहीन ब्राह्मण कुब्राह्मण कहा गया है। ब्रह्मवर्चसम् (४।३।८१) उदाहरण द्वारा ब्रह्मतेज उन्हीं ब्राह्मणों में बताया है जिनमें आध्यात्मिक शक्ति का प्राचुर्य है। इस विषय में ब्राह्मणों की गिरती हुई अवस्था का चित्रण करते हुए 'न कलिङ्गेषु ब्राह्मण महत्तमम्' (५।२।११) उदाहरण द्वारा कलिङ्ग में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा कम होने का उल्लेख किया है। हेम के समय में जाति व्यवस्था के शिथिल हो जाने से निरक्षर महाचार्य ब्राह्मणों की उपेक्षा होने लगी थी। जिनमें ज्ञान त्याग और आत्मबल नहीं था, वैसे ब्राह्मण समाज में तिरस्कार प्राप्त करते थे तथा इस तिरस्कार का कारण श्रमणों द्वारा सदाचार और आत्मशुद्धि के हेतु चलाया हुआ आन्दोलन था। फलतः 'नित्यवैरस्य' ३।१।१७१ में नित्य वैर का उदाहरण 'ब्राह्मणश्रमणम्' दिया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि श्रमण और ब्राह्मणों के बीच होने वाले झगड़ों में जातिव्यवस्था भी झगड़े का एक कारण थी। ब्राह्मण एवं श्रमण में आचार और सद्‌ज्ञान भेद रहने से नित्य वैर रहता था। श्रमणों के आन्दोलनों ने ब्राह्मणों के प्रभुत्व को क्षीण कर दिया था। जनता में व्याप्त अन्धविश्वासों का श्रमणों ने उच्छेद किया था, फलतः सामान्य जनता में भी ज्ञान और चरित्र का विकास आरंभ हो गया था।

व्यापार करनेवाला ब्राह्मण भी निन्दा का पात्र बनता था। हेम ने सोमविक्रयी घृतविक्रयी और तैलविक्रयी (५।१।७९) उदाहरणों द्वारा उक्त व्यापार करने वाले को निन्दित माना है। व्याकरण के नियम से निन्दा अर्थ में विक्रय के स्थान पर विक्रयी आदेश होता है। अतः वैश्य को घृतविक्रय और ब्राह्मण को घृतविक्रयी कहा गया है। यतः व्यापार करना वैश्य का पेशा और धर्म है पर ब्राह्मण का नहीं।

भिन्न-भिन्न देशों में बसे हुए ब्राह्मण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते थे। हेम ने 'सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्म। यः सुराष्ट्रेषु वसति स सौराष्ट्रिको ब्राह्मण इत्यर्थः। एवमवन्तिब्राह्मण, काशिब्राह्मण' (७।३।१ ७) अर्थात् सौराष्ट्र में निवास करनेवाले ब्राह्मण सौराष्ट्रिक या सुराष्ट्र ब्राह्मण अवन्ती में निवास करनेवाले अवन्तिब्राह्मण एवं काशी देश में निवास करने वाले काशिब्राह्मण कहलाते हैं। श्री डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि अवन्तिब्राह्मण मालव ब्राह्मणों के पूर्ववर्ती थे; क्योंकि उज्जयिनी के साथ मालव का सम्बन्ध गुप्तकाल से चला आ रहा है। इसी प्रकार गुजराती और कच्छी ब्राह्मणों के पूर्ववर्ती सुराष्ट्र ब्राह्मण रहे होंगे। हेम के 'पञ्चालस्य ब्राह्मणस्य राजा पाञ्चालः पञ्चालस्य ब्राह्मणस्यापत्य वा पाञ्चालः' (६।१।११८)—प्रयोग भी पञ्चाल ब्राह्मण जाति को सूचित करते हैं।

क्षत्रिय जाति—

आचार्य हेम ने 'क्षत्रादियः' ६।१।९३—क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः जातिश्चेत् अर्थात् क्षत्र शब्द से जाति अर्थ में इय प्रत्यय कर क्षत्रिय शब्द निष्पन्न होता है। हेम ने 'जातौ राज्ञः' ६।१।९२—राजन् शब्दादपत्ये जातौ गम्यमानायां य प्रत्ययो भवति, यथा—राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियजातिश्चेत्। राजनोऽन्यः। अर्थात् क्षत्रिय जाति के अभिषिक्त व्यक्ति राजन्य कहलाते थे और क्षत्रियेतर जाति के शासक व्यक्ति राजन कहलाते थे। 'राजन्यादिभ्योऽकञ्' ६।२।६६ में गणरूप शासन में भाग लेने के अधिकारी क्षत्रिय कुल के व्यक्तियों को भी राजन्य कहा है। अनेक जनपदों के नाम भी वे ही थे जो वहाँ के क्षत्रियों के थे। हेम ने 'मगधानां राजा मगधस्यापत्यं वा मागधः' (६।१।११६) द्वारा मगध में मागध जाति के क्षत्रियों के निवास की सूचना दी है। इसी प्रकार यौधेय मालव और पाञ्चाल जाति के क्षत्रिय भी तत्तद् जनपद में निवास करने वाले थे। 'क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेषु वा शूरतमः' (२।२। ९) प्रयोग द्वारा क्षत्रिय जाति की वीरता पर प्रकाश डाला है। इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रियों को आदि क्षत्रिय बतलाते हुये 'इक्ष्वाकुः आदि

क्षत्रिय' (सूत्र ७।४१) उदाहरण प्रस्तुत किया है। भोज्या-भोजवराजा' क्षत्रिया (२।४।८१) द्वारा भोजवंशीय-परिमारवंशीय क्षत्रियों का परिचय दिया है। इस वंश के राजा मालवा में निवास करते थे।

वैश्यजाति—

आचार्य हेम ने 'स्वामिवैश्येऽर्य' ५।१।३३ सूत्र में वैश्य के लिये अर्य शब्द का प्रयोग किया है। कृषि और व्यापार आदि के द्वारा निष्कपट भाव से आजीविका अर्जन करना वैश्य का कार्य है। जिन व्यापारिक कार्यों के करने से ब्राह्मण की निन्दा होती है वे ही कार्य वैश्य के लिये विधेय माने गये हैं। प्राकृत साहित्य में 'गाहावइ 'कुडुम्बिक 'कोडम्बिय' इब्भ' सेट्ठि आदि संज्ञाओं का प्रयोग वैश्य के लिये मिलता है।[1] हेम की दृष्टि में वैश्य के लिये कृषि की अपेक्षा व्यापार प्रधान व्यवसाय बन गया था। वैश्य की स्त्री वैश्या कहलाती थी।

शूद्रजाति—

आचार्य हेम ने 'पात्र्यशूद्रस्य' ३।१।१४३ में दो प्रकार के शूद्र बतलाये हैं—आर्यावर्त के भीतर रहने वाले और आर्यावर्त की सीमा के बाहर रहने वाले। आर्यावर्त की सीमा से बाहर निवास करने वाले शूद्रों में शक और यवन हैं। आर्यावर्तवासी शूद्रों के भी दो भेद हैं—पात्र्या और अपात्र्या। पात्र्या की परिभाषा करते हुये लिखा है—'यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति ते पात्रमर्हन्तीति पात्र्या' (३।१।१४३)—अर्थात् अभिजात्य वर्ग के व्यक्तियों के बर्तनों में जो खा-पी सकते थे तथा मांजने से बर्तन शुद्ध माने जाते थे वे शूद्र पात्र्या कहलाते थे। पर जिन्हें समाज में निम्न समझा जाता था और भोजन के हेतु अभिजात्य वर्ग के पात्र नहीं दिये जाते थे वे अपात्र्या कहलाते थे। समाज में सबसे निम्न श्रेणी के शूद्र थे, चाण्डाल (३।१।१४२) प्रभृति थे। ये नगर या गाँव से बाहर अपने घर बनाकर रहते थे। हेम ने 'अभ्यासाये पुरे कुम्भकारादि—चाण्डालादिपुर्ये इत्यर्थः'। नगरग्रामाय चाण्डालादिगृहायेत्यर्थः' (११३।७) द्वारा पुरानी परम्परा का निर्देश किया है। इनसे ऊपर कुम्हार नापित बढ़ई, लोहार तन्तुवाय-बुनकर रजक-धोबी तथा चर्मकार (३।१।१४२) आदि जाति के व्यक्ति शूद्र माने गये हैं। इन शूद्रों का समाज के साथ सम्पर्क रहता था इनके भोजन-पान वाले बर्तनों की छुआछूत मानी जाती थी। हेम ने आर्य शूद्रों की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है। अतः इन्होंने 'शीलमस्मार्क स्वम्' (३।१।२१) द्वारा

---

[1] औपपातिक सूत्र १७, उत्तराध्ययन सूत्र २५-३१ निशीथसूत्र ५, ११

शील को जीवन का सर्वस्व बतलाते हुये शीलवान् व्यक्ति को आर्य कहा है। आर्य की व्युत्पत्ति अर्यते गुणान् आप्नोतीति आर्यः जो ज्ञान दर्शन और चरित्र को प्राप्त करे, वह आर्य है। अतएव शूद्र भी चरित्रबल से आर्यत्व को प्राप्त हो सकता है। फलतः शक यवन मुस्लिम, हूण आदि जातियाँ आर्यों में मिश्रित हो जाने से ये जातियाँ भी आर्य मानी जाने लगी थीं।

पुरानी परम्परा के अनुसार हेमचन्द्र ने आभीर जाति को महाशूद्र कहा है। इनका कथन है—"कर्म महाशूद्री—आभीरजातिः, नात्र शूद्रशब्दो जातिवाची किं तर्हि महाशूद्रशब्दः। यत्र तु शूद्र एव जातिवाची तत्र भवत्येव ङीनिषेध। महती चासौ शूद्रा च महाशूद्रेति' (२।४।५४)। कात्यायन ने भी ४।१।४ में महाशूद्र का उल्लेख किया है। काशिका में आभीर जाति को महाशूद्र कहा गया है। इसका कारण यही मालूम पड़ता है कि शक, यवन और हूणों के समान आभीर जाति भी विदेश से आने वाली जाति थी। अतः इस जाति की भी गणना शूद्रों में की गयी है पर इतना सत्य है कि सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से इसका स्थान ऊँचा माना गया था। महाशूद्र शब्द का अर्थ ऊँचे शूद्र लेना चाहिये। अन्य जातियों में निषाद, चण्ड, मुचाणु और कर्मार (२।१।६८) का उल्लेख किया है।

सामाजिक संस्थायें—

समाज के विकास के लिये कुछ सामाजिक संस्थान रहते हैं, जिनके माध्यम से समाज विकसित होता है। मूलतः ये संस्थान परिवार के बीच रहते हैं पर इनका सम्बन्ध समाज के साथ रहता है। आचार्य हेम ने अपने व्याकरण में जिन सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख किया है वे पाणिनिकालीन हैं, पर उनकी व्यवस्था और व्याख्या में पर्याप्त अन्तर है। हेम के द्वारा उल्लिखित संस्थायें निम्न प्रकार हैं।

१ गोत्र	६ वंश
२ वर्ण	७ विभिन्न सम्बन्ध
३ सपिण्ड	८ विवाह
४ ज्ञाति	९ अन्य संस्कार
५ कुल	१ आश्रम

गोत्र—

पाणिनि ने जिस प्रकार गोत्र को वंश परम्परा के आधार पर वर्ण व्यवस्था का सूचक माना है हेम ने भी गोत्र को उसी रूप में स्वीकार किया है। पर

इतना सत्य है कि हेम मात्र ऋषियों की परम्परा को ही गोत्र में कारण नहीं मानते बल्कि ऋषियों से भिन्न व्यक्तियों को भी गोत्र व्यवस्थापक मानते हैं। इसके अनुसार जब मानव समुदाय अनेक भागों में विभक्त होने लगा तो अपने पूर्वजों और सम्बन्धियों का स्मरण रखने के हेतु संकेतों की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार के संकेत वंश चलाने वाले व्यक्ति ही हो सकते थे अतः वंश संस्थापक व्यक्ति का नाम गोत्र कहलाया। आचार्य हेम ने 'वृद्धाद्विन्त्या-गोत्रे ६।१।१९ में बताया है कि 'स्वापत्यसन्तानस्य स्वव्यपदेशकारणम् परिव्रृषिर्वा य प्रथम पुरुषस्तदपत्यं गोत्रम। वाहोरपत्य वाहविः, औप वाव्रवि'। अर्थात् एक पुरखा की पुत्र पौत्र और प्रपौत्र आदि के रूप में जितनी सन्तानें होंगी, वे गोत्र कही जायेंगी। गोत्र प्रवर्तक ऋषि और अनृषि-ऋषि-इतर दोनों ही हो सकते हैं। गोत्र प्रवर्तक मूल पुरुष को वृद्ध या परम कहा है। इसकी व्याख्या में बताया है—"पौत्रादि वृद्धम् ६।१।२—परमप्रकृते रपत्यवतो यत्पौत्राद्यपत्यं तद्वृद्धसंज्ञं भवति। गर्गस्यापत्य पौत्रादि गार्ग्य। परमा प्रकृष्ट प्रकृति परमप्रकृतिर्यस्मात् परोऽन्यो न ज्ञायते। यद्यपि पितामहप्रपितामहादिनीत्या वृद्धसन्तानस्यानन्त्यं तथापि यनामा कुलं व्यपदिश्यते स परमप्रकृतिरित्युच्यते।' अर्थात् जिस सन्तान वाली परम प्रकृति से पौत्रादि उत्पन्न होते हैं उसकी वृद्ध संज्ञा होती है। परम प्रकृति उसीको कहा जायगा, जिससे पूर्व अन्य कोई मूल पुरुष उत्पन्न न हुआ हो। किन्तु इस प्रसंग में यह आपत्ति उत्पन्न होती है कि पितामह प्रपितामह आदि की परम्परा अनन्त है अतः इस अनन्त सातत्य में किस व्यक्ति को मूल पुरुष माना जाय। इस शंका का समाधान करते हुये आचार्य हेम ने उक्त सन्दर्भ में बतलाया है कि जिसके नाम से कुल की प्रसिद्धि हो उसी को परम प्रकृति-मूल पुरुष मान लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि समाज में जितने कुल हैं, उन सबके नामों का संग्रह किया जाय तो परिवार के नामों की संख्या सहस्रों लाखों और करोड़ों तक पहुँच जायगी। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना वंश चलाता है पर वास्तविक वंश प्रवर्तक या गोत्रकर्त्ता वे ही होते हैं जिनके नाम से कुल प्रसिद्धि पाता है।

पुरानी वैदिक परम्परा की मान्यता के अनुसार मूल पुरुष ब्रह्मा के चार पुत्र हुए—भृगु अंगिरा, मरीचि और अत्रि। ये चारों गोत्र प्रवर्तक थे। पश्चात् भृगु के कुल में जमदग्नि अंगिरा के गौतम और भरद्वाज, मरीचि के कश्यप वसिष्ठ और अगस्त्य एवं अत्रि के विश्वामित्र हुए। इस प्रकार जमदग्नि गौतम भरद्वाज कश्यप वसिष्ठ, अगस्त्य और विश्वामित्र ये सात ऋषि गोत्र या वंश प्रवर्तक कहलाये। अत्रि का विश्वामित्र के अलावा भी वंश चला। इन

आठ मूल ऋषियों के अतिरिक्त इनके वंश में भी जो प्रसिद्ध व्यक्ति हुए, जिनकी विशिष्ट ख्याति के कारण उनके नाम से भी वंश प्रसिद्ध हुआ। फलतः अनेक स्वतन्त्र गोत्रों का विस्तार होता चला गया।

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगौतमाः।
वशिष्ठ कश्यपोऽगस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः॥

—गोत्रप्रवर

ये ब्राह्मणगोत्र ऋषिकृत कहलाये। इनके अतिरिक्त क्षत्रिय वैश्य और इतर जातियों में भी सहस्रों गोत्रों की परम्परा प्रचलित रही। आचार्य हेम ने अनृषि शब्द द्वारा ब्राह्मणेतर गोत्रों की ओर संकेत किया है। 'गोत्राद्यवत्' ६।१।११७ सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि सभी जातियों के गोत्रों की परम्परा उनके मूल पुरुष से आरम्भ हुई है।

हेम ने परिवार के मुखिया पद या गोत्रपदवी को प्राप्त करने की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— 'वंश्यज्यायोभ्रात्रोर्जीवति प्रपौत्राद्यस्त्री युवा' ६।१।३ 'यतो भवो वंश्य-पित्रादिरात्मनः कारणम्। ज्यायान् भ्राता वयोऽधिक एकपितृक, एकमातृको वा। प्रपौत्र—पौत्रापत्यम् परम प्रकृतेश्चतुर्थ'। स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं जीवति वंश्ये ज्यायो भ्रातरि वा युवसंज्ञं भवति। अर्थात् सबसे वृद्ध या ज्येष्ठ व्यक्ति गोत्र का उत्तराधिकारी होता है वही गृहपति कहलाता है और वही परिवार का प्रतिनिधि बनकर जाति बिरादरी की पंचायतों में भाग लेता है। वंश्य—वृद्ध के जीवित रहने पर ज्येष्ठ, भ्राता या पुत्र-पौत्रादि युवा कहलाते हैं। श्रेणी या निगमों में प्रतिनिधित्व करने का अधिकार घर के वृद्ध पुरुष को ही प्राप्त है।

आचार्य हेम ने गोत्र परम्परा का सम्बन्ध वर्ण एवं रक्तपरम्परा के साथ वहीं तक जोड़ा है जहाँ तक लोकमर्यादा का प्रश्न है। लौकिक समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता है। जब वे धर्म की आभ्यन्तर वृत्ति की व्याख्या करने जाते हैं तो गोत्रव्यवस्था से ऊपर उठकर श्रमणाचरण को ही सर्वस्व मानते हैं। 'श्रमणा युष्माकं शीलम्, एवं श्रमणा अस्माकं शीलम्' (२।१।१५) द्वारा श्रमण होने पर सब गोत्र का आ जाना स्वभाव सिद्ध है। अतः हीन कुल या जातिबाह्य व्यक्ति भी श्रमणाचरण से श्रेष्ठ हो जाता है। अतः गोत्र लोकमर्यादा के पालन के लिए स्वीकार किया गया है। हेम के मत से वंश का प्रतिनिधित्व एवं उत्तराधिकार का निर्वाह गोत्र द्वारा ही सम्भव है।

वर्णी—

'वर्णाद्ब्रह्मचारिणि' ७।२।६९ की व्याख्या में बताया गया है कि 'वर्ण शब्दो ब्रह्मचर्यपर्यायः, वर्णो ब्रह्मचर्यमस्तीति वर्णी—ब्रह्मचारी—इत्यर्थ'।

अन्ये तु वर्णशब्दो ब्राह्मणादिवर्णवचन । तत्र ब्रह्मचारीत्यनेन शूद्रव्यवच्छेदः क्रियते इति मन्यन्ते, तेन त्रैवर्णिको वर्णीत्युच्यते । स हि विद्याग्रहणायमुपनीतो ब्रह्म चरति न शूद्र'। अर्थात् वर्ण शब्द ब्रह्मचर्य का पर्याय है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह वर्णी—ब्रह्मचारी कहलाता है। अन्य कतिपय आचार्य वर्ण शब्द को ब्राह्मणादि वर्ण का वाचक मानते हैं। अतः ब्रह्मचारी शब्द द्वारा शूद्र का पृथक्करण किया गया है। और तीन वर्ण वालों को वर्णी शब्द द्वारा अभिहित किया है। अतः शूद्र विद्या ग्रहण करने के लिए उपनीत—ब्रह्म को धारण नहीं कर सकता है, अतएव उसे ब्रह्मचारी नहीं माना है। आचार्य हेम ने इस स्थल पर परम्परा से प्राप्त वर्ण शब्द की व्याख्या करके शूद्र को ज्ञान से वंचित बतलाया है। पर इनके निजी मतानुसार शूद्र भी उपस्कराचार की शुद्धि होने से व्रत ग्रहण करने का अधिकारी है।

जातिवाची शब्द से ईय प्रत्यय जोड़कर हेम ने उस जाति के व्यक्ति का बोध कराया है। 'जातेरीय सामान्यवति' ७।१।१६२ में 'ब्राह्मणजातीयः, क्षत्रियजातीयः, वैश्यजातीय एवं शूद्रजातीय' उदाहरणों द्वारा तत्तद् जाति वाचक व्यक्तियों के लिए तत्तद् प्रत्यय जोड़कर साधनिका सम्पन्न की जाती है। जिन व्यक्तियों द्वारा वर्ण या जाति पहचानी जाती है वे बन्धु कहलाते हैं। किसी सम्प्रदाय या जाति के व्यक्ति एक ही पूर्व पुरुष से सम्बन्ध रखने के कारण सम्प्रदाय या जाति की दृष्टि से बन्धु कहे जाते हैं। आचार्य हेम ने वर्णसंकर ([illegible]) के अन्तर्गत [illegible] और कर्ण की गणना की है।

सपिण्ड—

आचार्य हेम ने सामाजिक अस्तित्व के लिये सपिण्ड व्यवस्था को स्थान दिया है। इनका मत है—"सपिण्डे वयःस्थानाधिके जीवद्वा" ६।१।४ 'वयसा एक पूर्व सप्तम पुरुषस्तावदन्योन्यस्य सपिण्डौ वयो यौवनादि। स्थान पितापुत्र इत्यादि। परमप्रकृते स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं वय स्थानाभ्यां द्वाभ्यामधिके सपिण्डे जीवति—जीवद्वंश्यसंज्ञं भवति'। अर्थात् पिता की सातवीं पीढ़ी तक सपिण्ड कहलाते हैं। मनुस्मृति में भी सपिण्ड की यही व्याख्या उपलब्ध होती है।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ५।६०

अर्थात्—सपिण्डता सातवीं पीढ़ी में निवृत्त होती है और समानोदकता जन्म

तथा नाम के जानने पर निवृत्त हो जाती है। सपिण्डता में निम्न सात पीढ़ियाँ शामिल हैं।

(१) पिता	(५) पितामह
(२) पितामह	(६) प्रपितामह
(३) प्रपितामह तथा प्रपितामह के-	(७) स्वयं
(४) पिता	

इस प्रकार सात पीढ़ियों तक सपिण्डता रहती है। मनुस्मृति के मत में उक्त सातों में से प्रथम तीन पिण्डभागी और अवलेप तीन पिण्डलेपभागी हैं। सातवाँ स्वयं पिण्डदाता है। सपिण्डता से सामाजिक संगठन को दृढ़ता प्राप्त होती है।

आचार्य हेम पिण्डदान के पक्ष में नहीं हैं, अतः इन्होंने पिण्ड का अर्थ शरीर किया है और इनके मतानुसार सात पीढ़ियों तक सपिण्डता रहने का अर्थ है परम्परा से प्राप्त रक्त सम्बन्ध के कारण पारिवारिक महत्ता। लोकमर्यादा एवं समाज संगठन को बनाये रखने के लिए परिवार के बड़े व्यक्तियों का सम्मान एवं प्रभुत्व स्वीकार करना अत्यावश्यक है। यही कारण है कि हेम जैसे सुधारक और क्रान्तिकारी व्यक्ति ने पुरखाओं के जीवित रहने पर प्रपौत्रादि उम्र और पद में बड़े होने पर भी पुत्रसंज्ञक कहे हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि समाज के संगठन और अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सपिण्डों को महत्ता प्रदान की गयी है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि परिवार के चाचा ताऊ आदि बड़े सम्बन्धियों के जीवित रहने पर भतीजा प्रभृति व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व करने का अधिकार नहीं दिया जाता है। यद्यपि आज ये सभी व्यवस्थाएँ ढह रही हैं और उक्त व्यवस्थाओं को सामन्तवादी कहकर ठुकराया जा रहा है। जनतन्त्र की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का समान महत्त्व है अतः जहाँ भी प्रतिनिधित्व का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ योग्य कोई भी व्यक्ति प्रतिनिधित्व कर सकता है। पर हमारे गाँवों में आज भी सपिण्डवाली व्यवस्था प्रचलित है। घर का बड़ा व्यक्ति— गोत्र परम्परा से बड़ा व्यक्ति ही किसी भी सामाजिक मामले में भाग लेता है और उसी को परिवार का प्रतिनिधि बनकर अपना मन्तव्य देना होता है। वह मन्तव्य उस मुखिया का न होकर समस्त परिवार का मान लिया जाता है। अतः आचार्य हेम ने पुरातन समाज व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए सपिण्ड संस्था का स्थान दिया है।

ज्ञाति—

अपने निकट सम्बन्धियों को ज्ञाति कहा है। आचार्य हेम ने 'अन्तर्गत स्वामित्वेऽप्यपेक्षे भावविनियमे व्यवस्थापरपर्याये गम्यमाने' (३।३।७) में स्वस्व की व्याख्या करते हुए बताया है—'आत्मात्मीयज्ञातिधनार्थवृत्ति स्वशब्द' अर्थात् अपने और पिता आदि के सम्बन्धी ज्ञाति शब्द द्वारा अभिहित किये गये हैं। हेम की दृष्टि में परिवार समस्त मानवीय संगठनों की मूल इकाई है और यही सामाजिक विकास की प्रथम सीढ़ी है। सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए परिवार के सभी सम्बन्धियों को उचित स्थान देना आवश्यक है। यतः राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममता-मोह लोभ-त्याग आदि विषयक भावनाओं का क्रीडास्थल परिवार ही है। अतः सपिण्ड में परिवार की जो सीमा निर्धारित की गयी थी वह ज्ञाति व्यवस्था में और अधिक विस्तृत हो गयी है। समाज विकास की प्रक्रिया में बताया जाता है कि जब पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तार होने लगता है तो समाज विकसित होता है। ज्ञाति व्यवस्था में पिता के तथा अपने सभी सम्बन्धी परिवार की सीमा में आबद्ध हो जाते हैं जिससे सुदृढ़ समाज के गठन का श्रीगणेश होता है। इस व्यवस्था से व्यक्ति अपने सीमित परिवार से आगे बढ़ जाता है और सम्बन्धियों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगता है। हेम की ज्ञाति संस्था समाज की एक उपादेय संस्था है।

कुल—

कुल की प्राचीन समय में अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। प्रतिष्ठित एवं यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में इस प्रकार के कुलों का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। हेम ने महाकुल में उत्पन्न हुए व्यक्तियों को महाकुल और महाकुलीन (६।१।९९) कहा है। ये दोनों शब्द विद्या-बुद्धि से सम्पन्न सेवाभावी प्रतिष्ठित कुल के लिए ही व्यवहृत होते थे। कुल प्रतिष्ठा का मानदण्ड सदाचार ज्ञान और सम्पत्ति के अतिरिक्त सेवा एवं त्याग भी था। जिस कुल के व्यक्ति अन्य लोगों के कल्याण हेतु अपना सर्वस्व त्याग करते थे वे श्रेष्ठ कुलवाले समझे जाते थे। सदाचार का रहना कुल प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक था। हेम के दुष्कुलीन और दौष्कुलेय (६।१।९८) उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि श्रेष्ठ समाज के निर्माण के लिए उत्तम सदाचारी और प्रतिष्ठित कुलों का अस्तित्व आवश्यक है। जिन कुलों में कदाचार का प्रचार था जो स्वार्थ के वशीभूत थे और जिनमें असत्प्रवृत्तियों का बाहुल्य पाया जाता था वे दुष्कुल कहलाते थे तथा उनमें उत्पन्न हुए व्यक्ति

कुलकुलीन या कौलकुलेय कहे जाते थे। कुल की मर्यादा प्राचीन काल से चली आ रही है।

हेम ने भी पाणिनि के समान परिवार को ही कुल कहा है। कुल की सीमा ज्ञाति से बड़ी है। ज्ञाति में सम्बन्धी अपेक्षित थे पर कुल में जितनी पीढ़ियों तक का स्मरण रहता है उतनी पीढ़ियाँ शामिल हैं। कुल में कितनी पीढ़ियाँ शामिल थीं इसका हेम ने कोई निर्देश नहीं किया है।

वंश—

हेम ने 'वंशे सको वंश्यपित्राद्विरात्मन: कारणम्' (६।१।१) अर्थात् वंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति को वंश्य कहा है। वंश को हेम ने दो प्रकार का बताया है—विद्या और योनि सम्बन्ध से उत्पन्न (विद्यायोनिसम्बन्धादकञ् ६।३।१४८)। विद्यावंश गुरु-शिष्य परम्परा के क्रम में चलता था यह भी योनि सम्बन्ध के समान ही वास्तविक माना जाता था। आचार्य हेम ने उस प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख किया है, जिसमें शिष्य वेदाध्ययन या अपनी शिक्षा की समाप्ति किया करता था। शिक्षा के सम्बन्ध में हेम के विचार पाणिनि की अपेक्षा बहुत विस्तृत हैं। इन्होंने वेद को ज्ञान की अन्तिम सीमा नहीं माना है बल्कि विभिन्न विद्याओं कलाओं साहित्य एवं दार्शनिक सम्प्रदायों के अध्ययन को आवश्यक माना है।

योनि सम्बन्ध से निष्पन्न पिता-पुत्र आदि वंश कहा जाता है। मूल संस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढ़ियों की संख्या मिलाकर वंश के दीर्घकालीन अस्तित्व की सूचना दी जाती है। आचार्य हेम ने वंश के सम्बन्ध में जितने विचार अंकित किये हैं, वे सभी परम्परा से संगृहीत हैं।

विभिन्न सम्बन्ध—

परिवार में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति निवास करते हैं, इन व्यक्तियों के आपस में नाना प्रकार के सम्बन्ध रहते हैं। आचार्य हेम ने माता पिता, पितामह पितृव्य भ्राता, सोदर्य ज्येष्ठ, स्वसा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, पितृष्वसा मातृष्वसा स्वकीय भ्रातृव्य मातामह मातुल, मातुलानी वधू (२।३।१७ ३।१।१२१ ६।२।७० २।४।६, २।४।६५) आदि का निर्देश किया है। पुत्र को परिवार की सुख-शान्ति का हेतु बतलाते हुए उसकी महत्ता प्रदर्शित की है। 'पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्। पुत्रस्य स्पर्शोऽपि शरीरस्य सुखं किं तर्हि मानसी प्रीतिः' (५।३।१२९)। अर्थात् पुत्र का स्पर्श केवल शारीरिक आनन्द का ही हेतु नहीं है अपितु मानसिक आनन्द का हेतु है। पुत्र को समस्त सम्बन्धों का आधार होने से हेम ने पुत्र को ही उत्तराधिकारी माना

है। जामाता, श्वशुर प्रभृति (३।१।५१) सम्बन्धों के विवाह की भी चर्चा की गयी है। तथ्य यह है कि परिवार ही एक ऐसा शिक्षणालय है जिसमें व्यक्ति स्नेह और सौहार्द का, गुरुजनों के प्रति आदर और भक्तिभाव का एवं सामूहिक कल्याण के लिए वैयक्तिक प्रवृत्तियों और महत्त्वाकांक्षाओं को दबाने का पाठ सीखता है। सत्य दान त्याग वात्सल्य मित्रता सेवा आदि सद्गुणों का विकास इन विभिन्न सम्बन्धों से ही होता है। अतः हेम की दृष्टि में विभिन्न पारिवारिक सम्बन्ध भी एक स्वतन्त्र संस्था है। समाज संगठन की दिशा में इस संस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विवाह—

प्राचीन काल से ही विवाह एक प्रमुख सामाजिक संस्था है। हेम ने 'नित्यं हस्ते पाणावुद्वाहे' (३।१।१५)—हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य अर्थात् पाणिग्रहण को विवाह कहा है। 'उद्वायाम्' (३।३।८१) सूत्र द्वारा भी वरण एवं पाणिग्रहण को विवाह संस्कार माना है। उपर्युक्त सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'पाणिगृहीति' (२।४।५२)—'पाणिगृहीति प्रकारा' शब्दा ऊढायां स्त्रियां कन्यायां निपात्यन्ते। यथा—पाणिर्गृहीतोऽस्या' पाणौ वा गृहीता पाणिगृहीति एवं करगृहीति। अर्थात् पाणिग्रहण के द्वारा पुरुष स्त्री का वरण करता है और विवाह हो जाने पर पत्नी को पाणिगृहीती कहा जाता था। पाणिगृहीता शब्द संस्कार की विधि से प्राप्त परिणीता स्त्री के लिए व्यवहार में आता था।

हेम ने कन्या की योग्यता कुमारी होना माना है। कुमारी कन्या विवाह के बाद कुमारी भार्या और उसका पति कौमार पति इन विशेषणों से सम्बोधित किये जाते थे। हेम ने लिखा है—कुमार्या भवो भर्ता कौमारः, तस्य भार्या कौमारी-कुमारी एव प्रतीयते (२।४।५९)। पत्नी अपने पति की प्रतिष्ठा स्वयं प्राप्त कर लेती थी। यथा—गर्ग विभाग के अधिकारी की स्त्री गर्गकी और आचार्य की स्त्री आचार्यानी कही जाती थी। विवाह गोत्र के बाहर होता था। हेम ने इसके लिए निम्न सात उदाहरण उपस्थित किये हैं।

१ अत्रिभरद्वाजानां विवाहोऽत्रिभरद्वाजिका
२ वसिष्ठकश्यपानां विवाहोऽत्र वसिष्ठकश्यपिका
३ भृग्वङ्गिरसानां विवाहोऽत्र भृग्वङ्गिरसिका
४ कुत्सकुशिकानां विवाहोऽत्र कुत्सकुशिकिका
५ गर्गभार्गवानां विवाहोऽत्र गर्गभार्गविका

६ कुरु-वृष्णीनां विवाहोऽत्र कुरुवृष्णिका

७ कुरु-कथानां विवाहोऽत्र कुरुकथिका

हेम के उक्त उदाहरणों में से पूर्व के पाँच उदाहरण तो पतञ्जलि के महाभाष्य में (४।१।१२५) आये हुए हैं। शेष दो इन्होंने नये प्रस्तुत किये हैं। अतएव स्पष्ट है कि विवाह गोत्र के बाहर होता था सगोत्रीय विवाह मान्य नहीं था।

विवाह योग्य कन्या को वर्या कहा है। इनका मत है—वर्यादय शब्दा उपयाम्यर्थेषु यथासंख्यं निपात्यन्ते। वृणातेर्यं वर्या उपया चेद्भवति। शतेन वर्या, सहस्रेण वर्या कन्या समस्तस्या (५।१।१२)। अर्थात् वर्या आदि शब्दों का विवाह के अर्थ में क्रमशः निपातन होता है। जिस वरण योग्य कन्या का विवाह सम्बन्ध किया जाता था—जो सर्वसाधारण के लिए वरण की वस्तु थी उस कन्या का सौ या हजार कार्षापण मूल्य चुकाया जाता था। वरपक्ष विवाह के समय कन्यापक्ष को धन देता था इसका समर्थन हेम के निम्न सन्दर्भ से भी होता है—

"विवाह वदम् कापापणान् ददाति, चतुरः कापापणान् ददाति" (७।२।१५)। अर्थात् वर्या का विवाह कन्या के पिता को धन देने पर बिना किसी रोक-टोक के धन देनेवालों के साथ सम्पन्न हो जाता था। इस प्रकार की कन्याओं की प्राप्ति के लिए वरपक्ष की ओर से सगाई की जाती थी। कन्या के माता-पिता जिसका सम्बन्ध अपनी ओर से निश्चित करते थे उसे वृत्या कहा है। विवाह योग्य कन्या को हेम ने पतिंवरा कन्या (५।१।११९) कहा है।

हेम के उल्लेखों से यह भी विदित होता है कि कन्या के विवाह की समस्या उस समय भी विषम हो गयी थी। इनका 'शोककरी कन्या' (५।१।१३) उदाहरण इस बात का साक्षी है कि कन्या के विवाह करने में कष्ट होने के कारण ही उसे शोक कारक माना गया है। पुत्र जन्म का उत्सव मनाया जाता था, पर कन्या के जन्म लेते ही घर में शोक छा जाता था। हेम के समय में स्वयंवरण की प्रथा समाप्त हो गयी थी और कन्या के विवाह का पूर्ण दायित्व माता-पिता पर ही आ गया था।

हेम ने पाणिनि के समान ही विवाहिता स्त्री के लिए जाया पत्नी और जानि (७।३।१६४) शब्दों का प्रयोग किया है। जिस युवक की स्त्री युवती होती थी उसे युवजानि, जिसकी स्त्री प्रिय होती थी उस पति को प्रियजानि, जिस पुरुष की वृद्धा स्त्री होती थी, उसको वृद्धजानि; जिसकी स्त्री सामान्य—

सुन्दरी होती थी उसको शोभनजानि; जिसकी स्त्री वृद्ध होती थी उसको वध्वाजानि एवं जिसके दूसरी स्त्री नहीं होती थी उसे अनन्यजानि कहा (७।३।१७४) है।

हेम ने देशविशेष के अनुसार स्त्रियों के सौन्दर्य का भी निरूपण किया है। २।२।१२१ सूत्र में 'मगधेषु स्तनौ पीनौ, कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे' अर्थात् मगध की स्त्रियों के स्थूल स्तन और कलिङ्ग की स्त्रियों के सुन्दर नेत्र होते थे। वृद्धपत्नी वृद्धपति, स्थूलपति स्थूलपत्नी बहुपति बहुपत्नी (२।४।५८) आदि उदाहरणों द्वारा दम्पतियों की शारीरिक स्थिति का बोध कराया है। शोभनाः सुजाता समस्ता वा दन्ता अस्या इति सुदती कुमारी (७।३।१५१) समदन्ती स्निग्धदती अत इव दन्ता अस्या अपोदती फालदती (७।३।१५२) आदि उदाहरणों द्वारा स्त्रियों के दाँतों के सौन्दर्य पर प्रकाश डाला है। फालदती को बदसूरत और सुदती को सुन्दरी माना है। इसी प्रकार कण्ठ (७।३।१७७) नाक (७।३।१६०-१६२) एवं कान की सुन्दरता को भी विवाह कार्य सम्पन्न करने के हेतु योग्यता माना गया है।

आचार्य हेम ने सवर्ण और असवर्ण दोनों ही प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। इन्होंने बतलाया है—'पुरुषेण सह समानो वर्णो ब्राह्मणत्वादि स्तस्या भवति। परा पुम्पाभिभवर्णा स्त्री परस्त्री। तस्या अन्तरापत्यं पराशव' (१।१।१७)। अर्थात् विजातीय विवाह होने पर जो सन्तान उत्पन्न होती थी वह पराशव कहलाती थी।

विवाह के समय प्रीतिभोज देने की प्रथा भी हेम के समय में प्रचलित थी। हेम के 'विवाहे बहुभिर्भुक्तमतिथिभि', बहुशो भुक्तमतिथिभि' (।२। १५), उदाहरण से विवाह में प्रीतिभोज के अवसर पर बहुत से अतिथियों के सम्मिलित होने एवं भोजन करने का सङ्केत मिलता है। बारात का स्वागत एवं अन्य क्रियाएँ आज के समान ही प्रचलित थीं।

अन्य संस्कार—

पारिवारिक जीवन विकास के लिए मध्यकाल में भी संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। परिवार की अनेक प्रवृत्तियाँ इन्हीं संस्कारों द्वारा संचालित होती थीं। सन्तान का शिक्षण सामाजिक परम्पराओं का संरक्षण और व्यक्तित्व का निर्माण भी अच्छे संस्कारों के द्वारा ही होता है। परिवार के श्रेष्ठ वातावरण का निर्माण भी अच्छे संस्कारों के फलस्वरूप ही होता है। आचार्य हेम ने निम्नांकित संस्कारों का उल्लेख किया है।

१ नामकरण—जन्म से ग्यारहवें दिन या दूसरे वर्ष के आरम्भ में यह

संस्कार सम्पन्न किया जाता है। नाम सुन्दर और कोमल अक्षरों में होना चाहिए। इन्द्रशर्म सुशर्म सुवर्म सुदामा अश्वत्थामा (७।१।१७०) आदि नाम अच्छे माने जाते हैं। उत्तर या पूर्वपद का लोप कर नाम छोटे ही रखे जाते हैं। यथा—शर्म वर्म देव दामा थामा (७।१।१७०) पद पूर्व और उत्तर दोनों के लिए ग्रहण किये जाते थे। उत्तर पद के लिए मान्य दत्त भूत गुप्त मित्र सेन आदि पद ग्राह्य माने हैं। नक्षत्र के नामों पर भी बालक के नाम रखे जाते थे।

२ अन्नप्राशन—हेम ने प्राशित्रम् (४।३।२५) को अन्नप्राशन कहा है। इस पद की व्याख्या करते हुए बतलाया है—'बालस्य यत्प्रथम भोजनं तदुच्यते प्राशित्रम्'—अर्थात् बच्चे का दाँत निकलने पर प्रथम बार अन्न खिलाने को प्राशित्र कहा है। यह संस्कार धर्मविधि पूर्वक सम्पन्न होता था।

३ चूडाकर्म—इसका दूसरा नाम मुण्डन-संस्कार भी है। यह पहले या तीसरे वर्ष में सम्पन्न किया जाता है। आचार्य हेम ने 'चूडादिभ्योऽण् ६।४।११९ सूत्र में 'चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्, चौलम्' उदाहरणों द्वारा इस संस्कार का उल्लेख किया है। ७।२।१३३ में मद्राकरोति, भद्राकरोति नापित–शिरोमद्रत्यकेशाच्छेदन करोति' सन्दर्भ द्वारा शिशु के कचच्छेदन का संकेत किया है। यह संस्कार भी विधि पूर्वक सम्पन्न किया जाता था।

४ कर्णवेध—तीसरे या पाँचवें वर्ष में कर्णवेध नामक संस्कार सम्पन्न किया जाता था। हेम ने 'अविद्धकर्ण शिशु' (३।२।८७) उदाहरण द्वारा इस संस्कार की ओर संकेत किया है।

५ उपनयन—हेम ने 'यज्ञोपवीतं पवित्रम् (७।२।८६) तथा उपनयनम् (५।३।११९) उदाहरणों द्वारा इस संस्कार का समर्थन किया है। इस संस्कार से उनका अभिप्राय विद्यारम्भ करने से है। यज्ञोपवीत को पवित्र माना है और उसे आर्यत्व का द्योतक कहा है। आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने इसे व्रतसूत्र रत्नत्रयसूत्र और यज्ञोपवीत नामों से अभिहित किया है। जिनसेन ने बताया है कि यज्ञोपवीत तीन लर का द्रव्यसूत्र है और हृदय में उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणों रूप भावसूत्र का प्रत्यक्ष सूचक है। हमारा अपना अनुमान है कि आचार्य हेम ने शब्दानुशासन की परम्परा का अनुसरण करने के लिए ही 'यज्ञोपवीतं पवित्रम् उदाहरण प्रस्तुत किया है। वास्तव में जैनधर्मानुमोदित व्रतों के साथ यज्ञोपवीत का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इसे रत्नत्रय या व्रतों का चिह्न मानना बुद्धि का व्यायाम ही है।

---

१ आदि पु. पर्व ३९ श्लो. ९४–९५

६ समापन—

विद्यार्जन की समाप्ति भी विद्यारम्भ के समान महत्व रखती है। हेम ने अङ्गसमापनीयम् श्रुतस्कन्धसमापनीयम् (६।४।१२२) द्वारा इस संस्कार का समर्थन किया है और इस अवसर पर स्वस्तिवाचन शान्तिवाचन और पुण्याहवाचन (६।४।१२१) करने का भी निरूपण किया है। यह संस्कार समावर्तन संस्कार का ही रूपान्तर है।

आश्रम—

आश्रम व्यवस्था धार्मिक संगठन के अन्तर्गत की जा सकती है। कहा जाता है कि वर्ण व्यवस्था के द्वारा समाज में कार्य विभाजन होता है और आश्रम व्यवस्था के द्वारा पद्धति निरूपण। आश्रम व्यवस्था मनुष्य के जीवन का पूरा समय-चक्र थी। इसके द्वारा समाज के प्रति मनुष्य के कर्तव्यों एवं उनके कार्यों का विवेचन किया गया था। समष्टि के कल्याण के लिए व्यक्ति की समस्त शक्तियों का अधिकाधिक उपयोग करना इस व्यवस्था का उद्देश्य है। आचार्य हेम ने अन्य वैयाकरणों के समान इस व्यवस्था को सामाजिक संस्था ही माना है। वस्तुतः आश्रम वह संस्था है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज हित के लिए अपना अधिक से अधिक उपयोग करता था। 'चातुराश्रम्यम् (७।२।१६४) द्वारा हेम ने प्राचीन परम्परा के आधार पर चारों आश्रमों का अस्तित्व बतलाया है। पर यह सत्य है कि वर्ण व्यवस्था के समान आश्रम व्यवस्था भी ढह चुकी थी। 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्' वाला सिद्धान्त मान्य नहीं था। हेम के मत से गृहस्थ और श्रमण ये दो ही आश्रम थे। इनके दीक्षातपसी अग्नितपसी श्रुततपसी मेधातपसी और आयव्ययतपसी (५।१।११) उदाहरणों द्वारा इस बात का संकेत मिलता है कि कोई भी व्यक्ति दीक्षा किसी भी समय आरम्भ कर सकता था। श्रमणा युष्मभ्यं दीयते श्रमणा अस्मभ्यं दीयते (२।२।२५) उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्रमण दीक्षा ही सर्वोपरि महत्व रखती थी। गृहस्थाश्रम श्रमणदीक्षा को प्राप्त करने का एक माध्यम था अतः किसी भी वर्ण का कोई भी व्यक्ति किसी भी अवस्था में श्रमण हो सकता था। निवृत्तमार्ग को प्रमुखता प्रदान की गयी है। श्रमणा अस्माकं शीलम् (२।२।२४) से सूचित होता है कि जीवन का आदर्श श्रमण धर्म ही था।

खान-पान

किसी भी राष्ट्र की सभ्यता पर खान-पान एवं पाकविधि से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह सत्य है कि सभ्यता का विकास होने पर मनुष्य अन्नपान की

विभिन्न विधियों का आविष्कार करता है। हेमचन्द्र की दृष्टि में शाकाहार ही आध्यात्मिक उत्थान एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष का परिचायक है। यद्यपि शब्द साधुत्व के लिए इन्होंने उदाहरणों में मांसाहार (६।२।१०१) को भी निर्दिष्ट किया है पर ये सिद्धान्ततः शाकाहार के ही पक्ष में हैं। इन्होंने 'भुजो भक्ष्ये' ४।१।११० में पाणिनि के समान भोज्य को भक्ष्य अर्थ में ग्रहण किया है। आचार्य हेम ने इस सूत्र की व्याख्या में कात्यायन और पतञ्जलि के शंका-समाधान को समाविष्ट कर लिया है—'भक्ष्यमभ्यवहार्यमात्रम्—न खर विशदमेव। यथा अब्भक्षो, वायुभक्ष इति'। इस पर टिप्पणी में लिखा है—'न खरविशदमेवेति' कठोरप्रत्यक्षमित्यर्थ'। अखरविशदमपि भक्ष्य दृष्टमिति दृष्टान्तमाह—अब्भक्षेति। अपो ह्ययं रूपं न कठिन प्रत्यक्षं त्वस्ति वायुस्तु कठिनो न प्रत्यक्षस्तस्यानुमानेन गम्यत्वात् तेन भोज्य एव इत्यादि सिद्धम्। अर्थात् भोज्य में ठोस और तरल दोनों प्रकार के पदार्थ आ जाते हैं पर भक्ष्य दाँत से चबाये जाने वाले भोजन के लिए ही व्यवहृत होता है अतः समस्त भोज्य पदार्थों को भक्ष्य नहीं कहा जा सकता। इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि अभ्यवहार्य मात्र भक्ष्य है—केवल खरविशद्—कठोर प्रत्यक्ष नहीं। अतः अप भक्ष्य और वायु भक्ष्य प्रयोगों में द्रव—तरल और अप्रत्यक्ष गम्य को भी ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि भक्ष्य के अन्तर्गत हेम के मतानुसार खाद्य, लेह्य और पेय ये तीनों प्रकार के पदार्थ संगृहीत हैं। भक्ष्य पदार्थों के अन्तर्गत निम्न प्रकार के भोज्य आते हैं:—

१ संस्कृत—

'संस्कृते भक्ष्ये' ६।२।१४० —'सूत उत्कर्षाधान संस्कार' अर्थात् जिससे पदार्थों में विशेष स्वाद की उत्पत्ति हो उस प्रकार की पाकक्रिया को संस्कार कहा जायगा। यथा—'भ्राष्ट्रे संस्कृता, भ्राष्ट्रा अपूपा' (६।२।१४०)—भाड़ की बड़ी कड़ाही बनाकर चूल्हे में रखकर भाड़ के भीतर सेक लेना भ्राष्ट्र अपूप—भाड़पुआ है। हेम ने इस सिद्धान्त द्वारा उस समय के समाज में नाना प्रकार के सुस्वादु पदार्थों के बनाने की विधि का निरूपण किया है। 'क्षीरादेयण्' ६।२।१४२ सूत्र में—'क्षीर संस्कृत भक्ष्य क्षैरेयम् क्षैरेयी यवागूः'। अर्थात् दूध के द्वारा बनायी गयी वस्तुओं को क्षैरेय कहा गया है। घी की दूध में बनायी गयी खीर को क्षैरेयी यवागू कहा जाता था। दूध और दही प्राचीन काल से ही भारतीयों के लिए प्रिय रहे हैं। इन दोनों से नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ तैयार किये जाते थे। दूध के समान हेम ने

दही से भी संस्कृत पदार्थ तैयार करने का उल्लेख किया है। 'दध्न इकण्' ६।२।१४२—'दध्नि संस्कृतं भक्ष्यं दाधिकम्' द्वारा दही के विशेष संस्कार द्वारा निष्पन्न भक्ष्य पदार्थों की ओर संकेत किया है। भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए इमली की खटाई का उपयोग भी मध्य में किया जाता था। हेम ने—"तिंतिडीकेन तिंतिडीकाभिर्वा संस्कृतं तैंतिडीकम्" (६।४।७) द्वारा इमली की सौंठ या चटनी का उल्लेख किया है।

हेम ने उल्लेख करते औदश्वित्, उदश्वित (६।२।१४०) उदाहरणों द्वारा मट्ठे से तैयार की गयी महेरी की ओर संकेत किया है।

मांस पकाने की विधियों का निर्देश करते हुए—'शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम्, उखायाम् उख्यम् (६।२।१४१) अर्थात् सलाख पर भूना हुआ मांस शूल्य मांस और तवे पर भूना हुआ मांस उख्य मांस कहलाता है। इन उदाहरणों को हेम ने शब्दों का साधुत्व बतलाने के लिए ही किया है।

२ संसृष्ट—

हेम ने 'संसृष्टे' ६।४।५ सूत्र में भोजन में किसी दूसरी वस्तु के अप्रधान रूप से मिलने को संसृष्ट कहा है। जैसे किसी वस्तु में दही डाल दिया जाय तो वह दाधिक कहलायेगी और नमक डाल दिया जाय तो लावणिक कही जायगी। इसी प्रकार मिर्च, अदरक, पीपल आदि मसाला जिस अचार में मिला हो वह मारीचिक, शार्ङ्गवेरिक और पैप्पलिक कहा जायगा। संसृष्ट से संस्कृत का भेद बतलाते हुए कहा है—"मिश्रणमात्र संसर्ग इति पूर्वोक्तस्सस्कृताद्भेद"। अर्थात् मिश्रण क्रिया की दृष्टि से संस्कृत और संसृष्ट दोनों समान हैं, पर संसृष्ट में मात्र मिश्रण रहता है पर मिलाये गये पदार्थ की प्रधानता नहीं रहती जब कि संस्कृत में दोनों मिलाये गये पदार्थ अपना समान महत्त्व रखते हैं तथा संस्कृत में मिश्रण करने से स्वाद में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि संस्कृत भोज्य पदार्थ निर्माण की विशेष पद्धति है, जिसमें दो या दो से अधिक पदार्थ मिश्रित कर कोई विशेष खाद्य-पदार्थ तैयार किया जाय। पर संसृष्ट में एक वस्तु प्रधान रहती है, उसे स्वादिष्ट करने के लिए अन्य पदार्थ का मिश्रण कर दिया जाता है। जैसे अचार में मसाले मिलाने पर भी अचार की प्रधानता है किन्तु अचार को स्वादिष्ट बनाने के लिए मसालों का संयोग अपेक्षित है। परन्तु संस्कृत के उदाहरण क्षीर में खीर बनाने की विशेष पद्धति तो अपेक्षित है ही, साथ ही दूध और चावल इन दोनों का समान महत्त्व है इनके समानुपातिक सम्यक् मिश्रण के बिना खीर तैयार नहीं हो सकती है। हेम ने संसृष्ट के निम्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

१ लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः (६।४।५)
२ चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः (६।४।५)
३ चूर्णिनो धानाः (६।४।५)
४ मुद्गैः संसृष्टो मौद्गः ओदनः (६।४।५)

प्रथम उदाहरण नमकीन दाल में नमक गौण है और दाल प्रधान है। यतः नमक के अभाव में भी दाल काम में लायी जा सकती है। नमक दाल को स्वादिष्ट मात्र बनाता है प्रधान भोज्य नहीं है। इस प्रकार चूर्ण—कसार से भरे हुए गूझे—'चूर्णिनः अपूपाः' कहलाते हैं। यहाँ गूझे के भीतर भरे हुए चूर्ण या कसार की अपेक्षा अपूप की प्रधानता है। इसी प्रकार चूर्णिनो धानाः में धान की प्रधानता और चूर्ण—कसार की गौणता है। मौद्गः ओदन में भात मुख्य खाद्य है और मूंग इच्छानुसार मिलाने की वस्तु है।

व्यञ्जन—

आचार्य हेम ने व्यञ्जन की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—"व्यञ्जनं येनान्नं रुचिमापद्यते तद्दधिघृतशाकसूपादि" (६।४।१२) अर्थात् जिन पदार्थों के मिलाने से या साथ खाने से खाद्य पदार्थ में रुचि अथवा स्वाद उत्पन्न होता है वे दही घी साग और दाल आदि पदार्थ व्यञ्जन कहलाते हैं। 'व्यञ्जनेभ्य उपसिक्ते' ६।४।८ में निम्न उदाहरण आये हैं:—

१ सूपेन उपसिक्तः सौपिक ओदनः—भात को स्वादिष्ट या रुचिवर्धक बनाने के लिए उसमें दाल का मिलाना। यहाँ दाल व्यञ्जन है।

२ दाधिक ओदनः—ओदन को रुचिपूर्ण बनाने के लिए दही का मिलाना। यहाँ पर दही व्यञ्जन है।

३ घार्तिकः सूपः—दाल को स्वादिष्ट बनाने के लिए घी मिलाना। यहाँ पर घी व्यञ्जन है।

४ तैलिकं शाकं—शाक का रुचिवर्धक बनाने के लिए तेल का छौंक देना। यहाँ पर तेल व्यञ्जन है।

व्यञ्जन नाना प्रकार के बनाये जाते थे। व्यञ्जनों से भोजन स्वादिष्ट और रुचिवर्धक बनता था।

आचार्य हेम के उदाहरणों में आये हुए भोज्य पदार्थों को निम्न तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) सिद्ध अन्न या कृतान्न
(२) मधुरान्न—मिठाइयाँ
(३) गव्य एवं फल

सिद्ध-अन्न—अन्न को पकाकर या सिझा कर तैयार किये गये पदार्थ—ओदन (७।१।२१)—यह सदा से भारत का प्रधान भोजन रहा है। इसका दूसरा नाम भक्त भी आया है। आचार्य हेम ने भिस्सा और ओदन (३।७।२९) ये दो भात के भेद बतलाये हैं। भिस्सा भूने हुए भात को कहा जाता था। यह दही नमक, जीरा आदि मसाला डालकर तैयार किया जाता था। ओदन—सादा भात है, यह अर्वा और भुजिया दोनों प्रकार के चावलों से तैयार किया जाता था। कुछ विद्वान् भुजिया चावल के भात को भिस्सा मानते हैं। पर हेम ने अपनी 'अभिधान चिन्तामणि' (३।६) में भिस्सा का अर्थ भुंजा हुआ नमकीन भात किया है।

चावल अनेक प्रकार के थे। चावलों के गुणों की भिन्नता से भात के प्रकारों में भी अन्तर हो जाता था। आचार्य हेम ने चावलों के भेदों का उल्लेख (।२।९) सूत्र के उदाहरणों में किया है।

यवागू—

जौ के द्वारा कई प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते थे जो साधारणतः यवागू कहलाते थे। जौ का दलिया दूध में पका कर हैरेयी यवागू (६।२।१२१) बनायी जाती थी। जौ की नमकीन लपसी बनाने को लवणा यवागू (६।३।७५) कहा है। जौ को भूनकर भी खाया जाता था। भ्रष्टा यवागू (६।२।७) भाड़ पर भुनाकर तैयार की जाती थी और इसका उपयोग भूंजे के रूप में किया जाता था। यावक (६।२।५१) यवानां विकारो यावः स एव यावकः—अर्थात् जौ को ओखल-मूसल से कूट कर भूसी अलग कर पहले पानी में उबालते थे फिर दूध चीनी मिलाकर खीर के रूप में इसका उपयोग किया जाता था। यह आजकल की आरकी का रूप है। पिष्टक (६।२।७६)—पीठा। इसके बनाने की कई विधियाँ प्रचलित थीं। सर्वप्रथम यह चने की दाल को पानी में भिगोकर भींग जाने पर पीस लेते थे और इसमें अनेक मसाला मिलाकर रख लेते थे। अनन्तर चावल के आटे की छोटी-छोटी लोयी बनाकर सेंक लेते थे और उसमें उक्त मसाले वाली पीठी भर कर पानी में सिझा लेते थे। कुछ लोग गेहूँ के आटे से भी बनाते थे। चावल के आटे की बनायी गयी लोइयों को बेलकर दूध खोआ देकर सिझा लेना भी पीठा कहा जाता था। नमकीन पीठा बेसन को पानी में औंटाकर पका लेने पर तैयार किया जाता था। बिहार में आज भी आस-पास प्रकार का पीठा तैयार किया जाता है।

पुरोडाश (६।२।५१)—हेम ने 'व्रीहिमय पुरोडाश' अर्थात् चावल के आटे में घी चीनी मेवा मिलाकर पुरोडाश बनाने की विधि बतलायी है।

पुरोडाश आटे की मोटी रोटी बनाकर उसमें घी चीनी मेवा मिलाने से बनता था। इसका आधुनिक रूप पँजीरी है। सत्यनारायण की कथा में आटे को भूनकर घी चीनी और किसमिस आदि मिलाकर यह पँजीरी-पँजीरी आज भी तैयार की जाती है। पुरोडाश यज्ञीय द्रव्य था पर कालान्तर में त्यौहारों के अवसर पर इसका प्रयोग सामान्य रूप से भी होता था।

मूँग की दाल—मूँग की दाल का प्रयोग बहुलता से होता था। हेम ने 'कच रोचते मम घृत सह मुद्गे' (४।२।५१) अर्थात् मूँग की दाल में घी डालकर खाना रुचिकर माना जाता था। वार्त्तिक सूपा (६।४।२८)—घी डालकर दाल खाने की प्रथा अच्छी मानी जाती थी। मूग की दाल के अतिरिक्त अरहर उड़द आदि की दालें भी व्यवहार में लायी जाती थीं।

कुल्माष (७।१।२१)—आचार्य हेम ने—'कुल्माषा' प्रायेण प्रायो ऽस्यामस्या पौर्णमास्या कौल्माषी' (७।१।१९५)—अर्थात् उस पौर्णमासी को कौल्माषी कहा जाता था जिसमें वर्ष में एक बार कुल्माष नामक अन्न नियमतः खाने की प्रथा प्रचलित थी। प्राकृत साहित्य में कुल्माष निकृष्ट अन्न को कहा गया है। संभवतः यह बाजरा या ज्वार के आटे में नमक और तैल डालकर बनाया जाता था। इसके बनाने की विधि यह थी कि सर्वप्रथम थोड़े से पानी में उक्त आटे को पकाकर लेते थे पश्चात् उसमें नमक तैल डालकर खाते थे। हेम ने 'कुल्माषखादोऽभ्यासा' (५।१।१५७) द्वारा लोक देश में कुल्माष खाने के प्रचार की ओर संकेत किया है। वटक (७।१।१९१)—'वटकान्नि प्रायेण प्रायो ऽस्यामस्या वाटकिनी' अर्थात् जिस पूर्णमासी को बटक—बड़े नियमतः खाये जाते थे उसे वाटकिनी पूर्णिमा कहा जाता था। प्राचीन भारत में यह प्रथा थी कि जिस दिन जो अन्न खाया जाता था वह दिन उस अन्न के नाम पर प्रसिद्ध हो जाता था। बड़ा खाने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। बड़ा बनाने के अनेक प्रकार प्रचलित थे। कुछ लोगों का मत है कि मगौड़ी को वटक कहा गया है।

शाक (७।१।१)—शाक को व्यंजन कहा है। यह खाद्य पदार्थों के साथ मिलकर भोजन को रुचिकर बनाता है। हेम ने तैलिक शाक (४।४।८) द्वारा साग को तैल में तलने की प्रथा का निर्देश किया है। 'यत्प्शाक शाक समूहो वा शाकी' (।१।२) द्वारा शाक समूह या बहुत बड़े शाक के ढेर को शाकी कहा है।

सक्तु (७।१।२१)—सक्तु का उपयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। सक्तु को पानी में घोलकर नमक या मीठा डालकर खाया जाता था। कहीं कहीं दूध और चीनी के साथ भी सक्तू को खाने की प्रथा थी। सक्तव्या

धाना (७।२।५) उदाहरण द्वारा भुने हुए धान—चावल से भी सत्तू बनाने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। इस सक्तूना पीत (२।२।९१) द्वारा पतले सत्तू का भी उल्लेख मिलता है।

मिठाइयों और पकवानों में निम्नलिखित मिठाइयों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

(१) गुडापूप (७।१।९४)
(२) तिलापूप (७।१।९४)
(३) भ्रष्ट्र अपूपा (१।२।१४१)
(४) चूर्णिनो अपूपा (१।७।५)
(५) शष्कुली (७।३।११)
(६) मोदक (७।३।२)
(७) गुडधाना (१।४।८; १।४।१९)
(८) हविरस (७।१।२९)
(९) पायस (१।२।१४८)
(१०) मधु (५।१।८३)
(११) पक्वास (७।२।३)
(१२) शर्करा (१।२।५५)

अपूप—

पुये भारत का बहुत पुराना भोजन है। गेहूँ के आटे को चीनी और पानी में मिलाकर घी में मन्द-मन्दी आँच से उतारे हुए मालपुये अपूप कहलाते थे। हेम का गुडापूप से अभिप्राय गुड डालकर बनाये हुए पुओं से है। तिलापूप आजकल के अँदरसे हैं। ये चावल के आटे में तिल डालकर बनाए जाते थे। भ्रष्ट्र अपूप आजकल की नानखटाई या रोटी है। भाड़ में रखकर इनको सेका जाता था। चीनी मिलाकर बनाये हुए भ्रष्ट्र अपूप वर्तमान बिस्कुट के पूर्वज हैं। चूर्णिन अपूप—पूये या गुझिया हैं। ये बसार का आटा भीतर भरकर बनाये जाते थे।

शष्कुली—आजकल की विशिष्ट पूरी है। इसे खस्ता कहा जासकता है। आटे में घी का मोयन देकर यह पकवान बनाया जाता था।

मोदक—मिठाइयों में सदा से प्रिय रहा है। यह चावल, गेहूँ या अन्य धान्यों के आटे से बनाया जाता था। पूजा में भी मोदकों का उपयोग किया जाता था यह बात हेम द्वारा उल्लिखित 'मोदकमयी पूजा (७।३।२) से स्पष्ट है।

गुडधाना—गुड में पगी हुई धानों को कहा गया है। दूसरे शब्दों में इसे गुडधानी भी कहा जा सकता है। प्राचीन समय की यह प्रधान मिठाई थी। सभी वैयाकरणों ने गुडधाना का प्रयोग किया है।

हविरस—चावलों के आटे को घी में भूनकर शर्करा के साथ एक विशेष प्रकार का खाद्य तैयार किया जाता था। कुछ लोगों का मत है कि यह दूध चावल और मेवा-मीठी से विशेष प्रकार की खीर के रूप में तैयार किया जाता

था। इसके अतिरिक्त साधारण उपयोग के लिए भी इसका व्यवहार होता था। मेरा अपना अनुमान है कि यह मीठा भात है।

पायसान्न—दूध में चीनी के साथ पकाया हुआ चावल पायसान्न है। इसे खीर कहा जा सकता है। प्राचीन और मध्यकालीन मिष्टान्नों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य हेम के समय में पायसान्न बनाने की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं।

पललं—तिल और गुड़ को कूटकर तिलकुट के रूप में यह तैयार किया जाता था। कहीं-कहीं तिल को गुड़ की चासनी में मिलाकर गजक के रूप भी यह तैयार किया जाता था। हेम के मत से कणरहित चावल पलल है। इन्होंने लिखा है—"पललम्—अकणो भीमादिः" (१०५ उ)।

दाधिक—दही और दूध के संयोग से विभिन्न प्रकार के सुस्वादु खाद्य तैयार किये जाते थे। दूध की दधि और नवनीत का अगणित तरह से उपयोग किया जाता था। सशर्कर पयः (३।२।५५) से स्पष्ट है कि चीनी मिलाकर दूध पीने की प्रथा भी प्रचलित थी। हैयङ्गवीन (६।२।५५)—नवनीत विशेष हितकर बताया गया है।

मधु—इसका दूसरा नाम क्षौद्र भी मिलता है। छोटी मक्खी का बनाया मधु क्षौद्र और बड़ी मक्खी के द्वारा निर्मित मधु भ्रामर कहा जाता था। मधु के अनेक प्रयोग प्रचलित थे। श्लेष्मघ्नं मधु (५।१।८३) कहकर इसे श्लेष्मा—फ्लैग्म को दूर करने वाला कहा है।

गुड़—गन्ने के रस को औटाकर गुड़, राब और चीनी बनायी जाती थी। गुड़ से पूए तथा और भी अनेक प्रकार की मिठाइयाँ तैयार होती थीं।

पेय-पदार्थ—पेय पदार्थों में दूध मट्ठा कषाय सौवीर—काँजी और सुरा का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेम ने देशविशेष के अनुसार पेय पदार्थों की प्रथा का उल्लेख किया है। पुनः पुनः क्षीरं पिबन्ति क्षीरपायिणः उशीनराः (५।१।१५७, २।३।१०); तक्रपायिणः सौराष्ट्राः, कषायपायिणो गान्धाराः, सौवीरपायिणो बाह्लीकाः (५।१।१५७, २।३।१०) तथा सुरापाणाः प्राच्याः (२।३।१०) से स्पष्ट है कि उशीनर—चिनाब के किनारे के निवासी दूध पीने के शौकीन, सौराष्ट्र निवासी मट्ठा पीने के शौकीन और गान्धार—आधुनिक अफगानिस्तान के पूर्वी भाग के निवासी कषाय रस के शौकीन थे। कोषकारों ने कषाय रस की परिभाषा करते हुए बतलाया है—"यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं बध्नाति हृदयं कषति पीडयति च स कषायः"। अर्थात् यह आज की चाय के समान कोई

१२ चरु (१।२।१४१)—तवा

१३ पात्रम् (७।१।२७ १।७।१६६) । (५२५ उ)—कोरा गिलास

१४ भाण्ड (१।३।७५)—हाँडी बटुआ बटलोई ।

१५ स्थाली (१।२।७२)—थाली

१६ सूर्मी (३७६ उणा)—पूरा

१७ पिठर (३११ उणा)—भाण्डम्—बड़े कड़ाहे के लिए प्रयुक्त है

१८ पात्री (७७५ उ)—भाजनम्—अन्न संग्रह करने के बड़े भाँड़े

१९ ताम्रम् (१।१।१७)—हसुआ

२० अमत्रम् (३५६ उ)—भाजनविशेष—

२१ मूमसम् (४६८ उ)—इसका दूसरा नाम चोला (८५७ उ) में आया है—मूसल

२२ स्थाल (७०६ उ)—भाजनम्—थाल

२३ कलशी (५३१ उ)—दधिमन्थनभाजनम् (दधिमन्थनभाजनम् ५३२ उ) दही मथने का बर्तन इसका दूसरा नाम कलसी है ।

२४ चमस (५६९ उ)—चम्मच

२५ कालायस (५८९ उ)—लोहे के बने बड़े बर्तन । मतान्तर से यह लोहे की सम्पुट के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ।

२६ प्रपाण (२७६ उ)—ताँबे का बरतन ।

२७ कटाह (१।७।१६२)—कड़ाहा

स्वास्थ्य एवं रोग—

आचार्य हेम ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' में अनेक रोग और उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में निर्देश किया है । इनकी दृष्टि में वात पित्त और कफ ही रोग का कारण है । इनके कुपित होने को रोग कहा जाता है और उपशम को स्वास्थ्य । इन्होंने बताया है—"वात-पित्तश्लेष्मसन्निपाताच्छमनकोपने ६।४।५१—शम्यति येन तच्छमनम् । 'कुप्यति येन तत्कोपनम्' । वातस्य शमनं कोपनं वा वातिकम्, पैत्तिकम् श्लैष्मिकम् सान्निपातिकम्" । अर्थात्—वात के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले रोग वातिक; पित्त के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले रोग पैत्तिक; श्लेष्म के निमित्त या प्रकोप से उत्पन्न होनेवाले रोग श्लैष्मिक कहलाते हैं । जब वात, पित्त और कफ ये तीनों प्रकुपित होते हैं तब सन्निपात रोग उत्पन्न होता है ।

वात का शमन करने के लिए तेल मालिश का प्रयोग करना हितकर होता है । पित्त का शमन करने के लिए घी और श्लेष्म का—कफ को

शान्त रखने के लिए मधु का प्रयोग प्रायः बताया है। इसका कथन है—
वातं हन्ति वातप्रम् तैलम् पित्तम घृतम्, श्लेष्माणं मधु (५।१।८१)।

प्राचीनकाल में अनेक रोग तो बने हुए थे ही, पर ज्वर का प्रकोप अधिक पाया जाता था। आचार्य हेम ने दो दिन पर आने वाले ज्वर को द्वितीयक, तीन दिन पर आने वाले ज्वर को तृतीयक, चार दिन पर आनेवाले ज्वर को चतुर्थक, एवं बहुत दिनों तक लगातार आनेवाले ज्वर को सततक (७।१।१९१) कहा है।

'कालहेतुफलाद्रोगे' (७।१।१९१) सूत्र में काल प्रयोजन और फल को रोगों के नामकरण का कारण कहा है। सर्दी देकर चढ़नेवाला बुखार शीतक (शीतः हेतुः प्रयोजनमस्य) और गर्मी से आनेवाला उष्णक कहा है। ज्वर के अतिरिक्त भिन्न विशेष रोगों के नाम उपलब्ध होते हैं।

१ वैपादिकम् (७।२।२७)—कुष्ठविशेष—यह प्रायः हाथ और पैरों में उत्पन्न होनेवाला गलित कुष्ठ है।

२ अर्श (११७ उ) बवासीर—यह प्राचीन काल से भयानक रोग माना गया है।

३ अर्म (११८ उ)—अक्षिरोग—नेत्रों में होनेवाला मोतियाबिन्दु के समान।

४ न्युब्ज (४।१।१२)—रोगविशेष—

५ मुमूर (११९ उ)—अतिकाया—स्थूलता का रोग। मोटापा आज भी एक प्रकार का रोग माना जाता है।

६ श्मेत्रं (४७१ उ)—संभवतः शोथ रोग है।

७ श्वेत्र (४७१ उ)—संभवतः कुष्ठविशेष—श्वेत कुष्ठ के लिए आया है।

८ पाटलं (४९५ उ) मोतियाबिन्दु—नेत्रों में पटल आ जाने को पाटल कहा है।

९ कामलो (४९५ उ)—काच-कामलादि रोग प्राचीन काल से प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। इस रोग से नेत्रों की ज्योति मन्द हो जाती है। कुछ लोगों ने इसे पाण्डु रोग भी कहा है।

१० हृद्रोग (३।१।९७)—हृदय रोग।

११ यक्ष्म (११८ उ) क्षय जैसा असाध्य रोग।

१२ सन्निपात (६।३।१४२)—त्रिदोष के बिगड़ जाने पर उत्पन्न होने वाला असाध्य या कष्टसाध्य रोग।

१३ शिरोर्तिः (५।३।११३)—सिरदर्द।
१४ हृदयशल्यम् (३।२।९४)—हृदय में होनेवाला दर्द।
१५ हृदयदाह (३।२।९४)—हृदय में जलन उत्पन्न करनेवाला रोग।
१६ भगन्दर (५।१।११४)—भगं दारयति भगन्दरो व्याधिः।
१७ वातातीसार (७।२।६१)

आचार्य हेम ने औषधि के अगद, जायु और भेषज ये तीन नामान्तर बतलाये हैं। जायु की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है—'जयत्यनेन रोगान् भेष्मान्‌ वा जायु' औषध (१ उ)—अर्थात् जिससे रोग दूर हो औषधि है। 'भेषजादिभ्यष्ट्यण्' ७।२।१६४ में भेषजमेव भैषज्यम् अर्थात् भेषज को ही भैषज्य कहा है। इससे ध्वनित होता है कि विभिन्न औषधियों के संयोग से भी औषधि निर्माण की प्रथा वर्तमान थी। कर्पूर का नाम (४१९ उ) में रोगशमक औषधि के लिए आया है। काष्ठादि औषधियों के अतिरिक्त धातुज औषधियों के व्यवहार का संकेत—कासीसं धातुजमौषधम् (५७९ उ) द्वारा प्राप्त होता है।

रोगों के पचाने जाने तथा शीघ्र निकालने की प्रक्रिया से भी अवगत थे। अवरयपाच्य, अवश्यरेच्यम् (७।१।११५) उदाहरण उपर्युक्त कथन की पूर्णतया पुष्टि करते हैं।

वस्त्र, अलंकार एवं मनोविनोद—

वस्त्रों का व्यवहार आर्थिक समृद्धि एवं रुचि परिष्कार का सूचक तो है ही साथ देश की औद्योगिक उन्नत अवस्था का भी परिचायक है। आचार्य हेम शब्दानुशासन के रचयिता हैं अतः उदाहरणों में नाना प्रकार के वस्त्रों का निरूपण किया है। हेम ने 'उपाकूपासमयाय' ३।३।९९ में शरीर की वेषभूषा को सजाने पर जोर दिया है। इन्होंने वस्त्र के लिए चेल, चीवर वस्त्र वसन आच्छादन एवं परिधान का प्रयोग किया है। 'चीवरं परिधत्ते परिचीवरयते (३।४।४१) अर्थात् चीवर धारण करने का विधान आरम्भिक श्रमणों और ब्रह्मचारियों के लिए है। बौद्ध भिक्षु भी चीवर धारण करते थे। चीवरों को स्वयं स्वच्छ भी करते थे यह बात 'चीवरं समाजयति संचीवरयते' (३।४।४१) से सिद्ध होती है।

परिधान की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'समाच्छाद्नन् परिधानम्' (३।४।४१)—शरीर का आच्छादन करनेवाले वस्त्र को परिधान कहा है। हेम का यह संकेत भी है कि गुह्य अंग का समाच्छादन ही परिधान है अर्थात् धोती के अर्थ में परिधान का प्रयोग आया है। हेम ने ऊपरि वस्त्र को और

कहा है (११२ ड) तथा 'चीरं जीर्णं वस्त्रं वल्कलं च' (१११ ड) द्वारा वल्कल को भी चीर बताया है।

वस्त्र बुनने की प्रथा का निरूपण करते हुए "प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी- तन्तुवायशलाका सा निर्गतास्मादिति निष्प्रवाणि पटः" (७।१।१८१) अर्थात्, तुरीय तन्तु, वेम और शलाका द्वारा वस्त्र बुने जाते थे तथा सीकर नाना तरह के वस्त्र बनाये जाते थे। 'कौशेयम्' ६।२।१९ से स्पष्ट है कि रेशमी वस्त्रों को कौशेय अलसी के तन्तुओं से बने ('उमा अतसी तस्या विकारोऽवयवः औमकम्, औमम्' ६।२।१०) वस्त्रों को औम—औमक एवं ऊनी वस्त्रों को (ऊर्णाया विकारः औणकम्, और्णः) ६।२।१० और्ण—और्णक कहते थे। सूत से बने वस्त्र कार्पास कहलाते थे। इन तीनों प्रकार के वस्त्रों का उपयोग हेम के समय में होता था। कार्पास का व्यवहार सर्वसाधारण में प्रचलित था। वस्त्रों को नाना प्रकार के रङ्गों से रंगने की प्रथा भी प्रचलित थी। 'रागाट्टो रक्ते' ६।२।१ सूत्र से स्पष्ट है कि कुसुम्भ रङ्ग से रङ्गा गया वस्त्र कौसुम्भ कषाय से रङ्गा काषाय मञ्जिष्ठ से रङ्गा गया माञ्जिष्ठ, हरिद्रा के रङ्ग से रङ्गा हारिद्र नील से रङ्गा नील एवं पीत से पीत कहलाता था। रंगे वस्त्र धारण करने की प्रथा स्त्रियों में विशेष रूप से वर्तमान थी।

स्त्रियाँ महावर मेंहदी और गोरोचन का भी व्यवहार करती थीं। लाक्षया रक्तं लाक्षिकम्, रोचनया रक्तं रौचनिकम् (६।२।२) अर्थात् पैरों को लाक्षा से रङ्गने की प्रथा और हाथों को रोचन—कुङ्कुम या मेंहदी से रङ्गने की प्रथा प्रचलित थी। आजकल के समान अधरोष्ठों को भी रोचन से रंजित किया जाता था। दासियाँ युवतियों का नाना प्रकार से शृंगार करती थीं। सत्करोति कन्याम् भूषयति (३।१।२१) से अवगत होता है कि विवाह के अवसर के अतिरिक्त अन्य उत्सव या त्यौहारों के समय कन्याओं का विशेष शृंगार किया जाता था। शृंगार में सुगन्धित चन्दन पद्मगन्धित कमल, पूतगन्धित करम्भ (७।३।१४४) का उपयोग विशेष रूप से किया जाता था। सुगन्धित मालाओं का धारण करना एवं सुगन्धित चतुर्जातिक चूर्ण का लेप लगाना अच्छा समझा जाता था।

कंठ, बाहु भुज कर ग्रीवा आदि स्थानों पर अलंकार (६।३।१२) धारण किये जाते थे। वस्त्रों में निम्नलिखित वस्त्रों का प्रधान रूप से व्यवहार पाया जाता है।

१ उष्णीष (५८१ ड)—शिरोवेष्टनम्—पगड़ी या साफा। प्राचीन और मध्यकाल में पगड़ी या साफा बाँधने की प्रथा प्रचलित थी।

२ अधोंशुकम्—धोती इसका दूसरा नाम परिधान भी आया है।

३ प्रावारा—दुशाला। राजाच्छादना प्रावाराः (३।४।११) से ज्ञात होता है कि यह राजा महाराजाओं के ओढ़ने योग्य ऊनी या रेशमी चादर थी। कौटिल्य के अनुसार जंगली जानवरों के रोएँ से प्रावार नामक दुशाला बनता था यह पाण्डुकम्बल की अपेक्षा मृदु और सुन्दर होता था।

कम्बल—'कम्बलाभावेऽपि' ७।१।३७ में कम्बल के लिए अपनी गर्मी कम को कम्बलीया कर्म्या कहा है। कम्बल कई प्रकार के होते थे। पाण्डु रंग से भी कम्बल बनते थे। इन कम्बलों से रथों के पर्दे बनते थे ये रथ 'पाण्डु कम्बलेन वृतः पाण्डुकम्बली रथः (६।२।१३२) कहलाते थे।

कौपीन—(६।४।१८५) 'कौपीनशब्द' पापकर्मणि गोपनीये पायूपस्थे तदावरणे च चीवरखण्डे वर्तते' (६।४।१८५)—कौपीन शब्द लंगोटी के अर्थ में आया है। उस समय भी लंगोटी लगाने वाले भिक्षु विचरण करते थे।

वासस् (५।३।१२५)—'राजपरिधानानि वासांसि' उदाहरण द्वारा राजकीय वस्त्रों को वासस कहा है। ये वस्त्र भड़कीले और चमकीले होते थे।

क्रीड़ा विनोद—

आमोद-प्रमोद में सभी लोगों की अभिरुचि रहती है। क्रीड़ा करने के लिए उद्यानों में भ्रमण नगरों की रथयात्रा हाथी-घोड़ों की सवारी प्रभृति कार्य आचार्य हेम के समय में होते थे। आचार्य हेम ने निम्न सूत्रों में क्रीड़ा का निर्देश किया है:—

१ अक्षेन क्रीड़ा जीये ३।१।८१

२ क्रीडोऽकूजने ३।३।३३

अभ्योषखादिका—

अभ्योषा खाद्यन्तेऽस्यामिति अभ्योषखादिका (५।३।१२१)—जौ गेहूँ की बालों को अग्नि में भून कर कूटकर गुड़ मिलाकर अपूप तैयार किये जाते थे। इस क्रीड़ा में अपूपों का सेवन किया जाता था। कामसूत्र में भी इस क्रीड़ा का (७।३।१) नाम आया है।

उद्दालपुष्पभञ्जिका—

'उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां सोद्दालकपुष्पभञ्जिका'(५।३।१२१)—उद्दालक पुष्पों का भञ्जन जिस क्रीड़ा में सम्पन्न किया जाय वह उद्दालकपुष्पभंजिका है। आप्टे ने अपने कोष में लिखा है—"A sort of game played

by the people in the eastern districts (in which Uddalaka flowers are broken or crushed") उद्दालक जातक में आया है कि वाराणसी के राजा का पुरोहित उद्दालक पुष्पों के बगीचे में अपनी गणिका को उद्यानक्रीडा के लिए ले जाता था। यह क्रीडा वह उद्यानक्रीडा है जिसमें उद्दालकपुष्पों का चयन और भञ्जन किया जाता था।

वारणपुष्पप्रचायिका (५।३।१११)—यह ऐसा या खास के पुष्पों को एकत्र करने की क्रीडा है। वारण की शाखों को झुका कर पुष्पों का चयन हाथ की पहुँच के भीतर लाई हुई शाखा से अपने ही हाथ से करना होता था। इस प्रकार की क्रीडा का उत्सव वैशाखी पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता था।

शालभञ्जिका—शाला भज्यन्ते यस्यां सा शालभञ्जिका (५।३।१११) शाल वृक्ष की डालियों को झुकाकर स्त्रियाँ पुष्पों का चयन करती थीं यह क्रीडा शालभञ्जिका कहलाती थी। भरहुत साँची की शालभञ्जिका एवं मथुरा की कुषाणकला में उक्त क्रीडाओं में संलग्न स्त्रियों की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। यह पूर्व भारत की क्रीडा थी।

चन्दनतक्षा—चन्दनास्तक्ष्यन्ते यस्यां—चन्दनतक्षा क्रीडा (५।३।१११) चन्दन के वृक्षछेदन द्वारा क्रीडा सम्पन्न की जाती थी।

प्रहरण क्रीडा—

प्रहरणात् क्रीडायां णः ६।२।११६—इस क्रीडा का नाम उस प्रहरण या आयुध के नाम अभिहित किया जाता था, जिसे लेकर यह क्रीडा सम्पन्न की जाती थी। इस क्रीडा का मुख्य उद्देश्य अपनी कला व कौशल का प्रदर्शन करना था। इसी कारण आचार्य हेम ने लिखा है—"यत्राप्रद्वेषेण घातप्रतिघाती स्यातां सा क्रीडा" (६।२।११६)—अर्थात् शत्रुता के बिना प्रेमपूर्वक शस्त्रों के घात-प्रतिघात करने की क्रिया क्रीडा है। उदाहरणों में—'दण्ड' प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा (६।२।११६)—लाठी भाँजने का खेल दिखलाकर दाण्डा लिखा है। आज तक भी लाठी चलाने की प्रवीणता दिखलाने के लिए इस प्रकार की क्रीडा की जाती है। मौष्टा—मुक्केबाजी का खेल, पादा—लतियाने का खेल आदि। मालाक्रीडा का नाम भी हेम ने गिनाया है तथा उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—माला भूषणमस्यां क्रीडायाम्—जिस क्रीडा में माला आभूषण को अनेक प्रकार से धारण कर मनोरंजन किया जाय वह मालाक्रीडा है।

मल्लयुद्ध (६।२।६)—मल्लयुद्ध के लिए अखाड़े का निरूपण करते हुए हेम ने—'विशाखोऽस्या वर्तते वैशाखा क्रियाभूमि क्रीडा'

(३।२।११५)—अर्थात् जिस क्रीड़ा में तेल गिराया जाता था वह क्रीड़ा तैलपाता कहलाती थी। अखाड़े को चिकना और अच्छा करने के लिए तेल देकर मिट्टी को मृदुल भी करने की ओर उक्त उदाहरण में संकेत वर्तमान है। अखाड़े में दो पहलवान आपस में ललकारपूर्वक युद्ध करते थे। आज भी मल्लयुद्ध की क्रीड़ा प्रसिद्ध है। दर्शक लोग मल्लयुद्ध देखकर आनन्दित होते थे।

मृगया—मृगयेच्छा याच्ञा तृष्णा कृपाभा श्रद्धान्तर्धा (५।३।१०१) शिकार खेलकर पशु हिरण एवं हिंसक जीवों के घात द्वारा मनोरंजन किया जाता था।

अक्षद्यूत—द्यूत दीव्यसि, अक्षान् दीव्यति (२।२।१४), अक्षैर्द्यूतं चैत्रेण (२।२।१९) उदाहरणों से स्पष्ट है कि द्यूतक्रीड़ा पासों के द्वारा खेली जाती थी। तथा खेल और पासा दोनों ही अक्ष कहलाते थे। पासों का खिलाड़ी आक्षिक कहलाता था। खेल अक्ष—चौकोर पासे और शलाका—लम्बे पासों से खेला जाता था। इन पासों पर अंक रहते थे। आचार्य हेम ने पाँच पासे के खेल का उल्लेख किया है। इन्होंने 'संख्याक्षशलाकं परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ' (३।१।३८) में लिखा है— 'पंचिका नाम द्यूत पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति। तत्र यदा सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति तदा पातयितुर्जयः। अन्यथापाते पराजयः। एकेनाक्षेण शलाकया वा न तथावृत्तम् यथा पूर्वं जये एकपरि द्विपरि, त्रिपरि, परमेणचतुष्परि। पञ्चसु त्वेकरूपेषु जय एव भवति। अक्षेणेदं न तथा वृत्तम् यथापूर्वं जये अक्षपरि। शलाकापरि, पाशकेन न तथावृत्तम् (३।१।३८)। अर्थात् पंचिका नाम जुआ पाँच अक्ष या पाँच शलाकाओं से खेला जाता है। जब वे सब पासे सीधे या औंधे एक से गिरते हैं तब पासा फेंकने वाला जीतता है, किन्तु यदि कोई पासा उल्टा गिरता है तो फेंकने वाला उसके दाव में हारता है। उदाहरण के लिए जब चार पासे एक से पड़ते हैं और एक उल्टा गिरता है तो खिलाड़ी कहता है अक्षपरि शलाकापरि—एकपरि। इन चार शब्दों का अर्थ है—एक पासे से हारना। यदि दो पासे उल्टे पड़ते हैं तो द्विपरि तीन पासे उल्टे पड़ते हैं तो त्रिपरि और चार पासे उल्टे पड़ते हैं तो चतुष्परि कहा जाता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य हेम ने विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

केचित् समविषमद्यूते समभित्युक्ते यदा विषमं भवति तदा अक्ष-

परिशलाकमपरीति प्रयुञ्जत इत्याहुः । अन्ये पूर्वं पदमाहुर्तं तत्र पतितमिष्टं सिद्धं पुनस्तदाहुः यदा न पतति तदाय प्रयोगोऽक्षपरि शलाकापरीत्याहुः (३।१।३८)। कुछ लोगों का मत है कि सम-विषम रूप में सम पैसा फेंकने पर विषम पासा आ जाय तो अक्षपरि शलाकापरि का प्रयोग किया जाता है। एक अक्षों से खेला जाय तो अक्षपरि और शलाकाओं से खेला जाय तो शलाकापरि कहलाता है। अन्य विचारकों का यह मत है कि पहले जो कहा गया है यदि वही पासा आ जाय तो खिलाड़ी की विजय होती है, और प्रतिद्वन्द्वी खिलाड़ी की पराजय; और कहा गया पासा न आवे तो अक्षपरि या शलाकापरि कहलायेगा। वस्तुतः यह जुआरियों की हार-जीत की माया है किस प्रकार उनको विजय प्राप्त होती है यही यहाँ निर्देश किया गया है।

मनोविनोद के साधनों में उत्सव विशेष भी सम्मिलित थे। आचार्य हेम ने 'मासे भावी मासिका उत्सवः' (६।३।१ १) अर्थात् महीने पर चलने वाले उत्सव का निर्देश किया है।

आचार-विचार—

जनसाधारण में प्रचलित आचार-व्यवहार किसी भी समाज की संस्कृति का परिचायक होता है। आचार्य हेम ने अपने समय तथा उसके पूर्ववर्ती समाज के आचार-विचारों का सम्यक् निरूपण किया है। समाज के आदर्श का निरूपण करते हुए लिखा है—"इमा परस्परां परस्परस्य वा स्मरन्ति इमा परस्परां परस्परस्मिन् वा स्निह्यन्ति, इमे कुले परस्परं भोजयतः सखीभि कुलैर्वा इतरेतरामितरेतरेण वा भोज्यते" (१।२।१) इस सन्दर्भ से अवगत होता है कि जनसाधारण में स्नेह और प्रेम रहना चाहिए जिससे वे परस्पर में स्नेह करें और आवश्यकता पड़ने पर स्मरण कर सकें। भोजन सम्बन्धी आदान-प्रदान भी अपेक्षित है। परस्पर में भोजन करने कराने से समाज की भित्ति दृढ़ होती है और सामाजिकता का विकास होता है। अतिथि-सत्कार का महत्त्व तो सभी आचार्य मानते हैं। आचार्य हेम ने समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए परस्पर उपकार और सहयोग करना नितान्त आवश्यक माना है "अनुकम्पा कारुण्येन परस्यानुग्रह तथा अनुकम्पया युक्ता नीतिस्तद्युक्तनीति" (७।३।१७)। अर्थात् दया या करुणापूर्वक अन्य व्यक्तियों की सहायता करना एवं कार्यों में सहयोग प्रदान करना मनुष्य के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा या दया की नीति को अपना लेता है वह व्यक्ति समाज का बड़ा उपकार करता है।

भी सम्मान करते थे और समाज भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। 'उप विनीतास्तत्रो गुरवो मानयन्ति' (१।१।६२) उदाहरण से स्पष्ट है श्रद्धालु और विनीत शिष्य गुरु के लिए प्रियपात्र बनता था। 'विहरति देशमाचार्यः' (२।२।) से अवगत होता है कि आचार्य लोग स्वकल्याण के अतिरिक्त समाजसुधार और समाज-परिष्कार के हेतु देश में विचरण करते थे।

गर्वोक्तियाँ समाज में प्रचलित अवश्य थीं पर समाज-कल्याण की दृष्टि से गर्वोक्तियों को महत्त्व नहीं दिया जाता था। 'स मे मुष्टिमध्ये तिष्ठति' (२।२।२९)—यह मेरी मुट्ठी में है आदि गर्वोक्तियाँ औपचारिक मानी गयी हैं। इसी प्रकार 'यो यस्य द्वेष्यः स तस्याक्ष्णोः प्रतिवसति। यो यस्य प्रियः स तस्य हृदये वसति' (२।२।२९) अर्थात् जो जिसका प्रिय है, वह उसके हृदय में बसता है और जो जिसका द्वेष्य—द्वेष की वस्तु है वह उसकी आँखों में निवास करता है। ये दोनों उदाहरण भी हृदय की भावनाओं पर प्रकाश डालते हैं। समाज में राग-द्वेष के परिष्कार को प्रश्रय माना जाता था।

किसी बात का विश्वास दिलाने के लिए शपथ लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। जब लोग कही हुई बात की सचाई पर विश्वास नहीं करते थे तो प्रत्यय उत्पन्न करने के लिए शपथ की जाती थी। इस शपथ के सम्बन्ध में बताया है—'यदीदमेव न स्यात् इष्टं मे इष्टं माभूत् अनिष्टं वा भवत्विति शपथं करोति (७।२।१७१) अर्थात् यदि मेरा यह कथन यथार्थ न हो तो मेरा इष्ट—कल्याण न हो और अनिष्ट—अमङ्गल हो जाय। इससे ध्वनित होता है कि हृदयशुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है। जिसके हृदय में छल-छद्म नहीं है वही व्यक्ति इस प्रकार की शपथ ले सकता है।

आचार-विचार के अन्तर्गत व्रत-नियम भी परिगणित किये जाते हैं। आचार्य हेम ने 'व्रतं शास्त्रविहितो नियमः' (३।४।७२) अर्थात् शास्त्रविहित नियमों का पालन करना व्रत है। शास्त्रविहित नियमों में 'देवमस्वादीन् हिंस्' (५।४।८१) सूत्र में महाव्रतों को शास्त्रविहित व्रत बताया है। सामान्य भाषा में प्रतिज्ञा करने के नियम को व्रत कहा जाता है। 'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा। (७।१ सर्वार्थ)—अर्थात् कर्तव्य के करने का और अकर्तव्य के त्याग का जो नियम किया जाता है वह व्रत है। पापों से निवृत्त होने रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पाँच महाव्रत हैं। आचार्य हेम ने लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा

है—'पय एव मया भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्णाति वा पयोव्रत यति। सावद्यान्नं मया न भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्णाति वा सावद्यान्नव्रतयति' (४।४।२२)—अर्थात् दूध का मुझे सेवन करना चाहिए, इस प्रकार का नियम लेकर जो दूध को ही ग्रहण करता है वह पयोव्रती कहलाता है। पापान्न को मैं नहीं ग्रहण करूँगा इस प्रकार का नियम लेकर जो पापान्न सेवन का त्याग करता है वह सावद्यान्नव्रती कहलाता है।

हेम ने 'चान्द्रायणं च चरति' ४।४।८२ में चान्द्रायण व्रत का निर्देश किया है। देवव्रती तिलव्रती (४।४।८२) आदि व्रत भी प्राचीन भारत की एक नयी व्रत-परम्परा पर प्रकाश डालते हैं।

'गोदानादीनां ब्रह्मचर्ये ४।४।८१ सूत्र में 'गोदानस्य ब्रह्मचर्यं—गौदानिकम्—यावत् गोदानं न करोति तावत् ब्रह्मचर्यम्—अर्थात् गोदान तक पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना—गौदानिक है। इसी प्रकार—आदित्यव्रतानामादित्यव्रतिकम् (४।४।८१)—आदित्यव्रत का पालन करने वाला आदित्यव्रतिक कहा जाता है।

'धर्माधर्माच्चरति' ४।४।७९ में धर्मानुष्ठान और अधर्म से विरक्ति रखना भी जीवन का लक्ष्य बताया गया है। 'यावज्जीवं सुरामांसं वर्जयाम्' (५।४।५) द्वारा मद्यपान को जीवन पर्यन्त निषेध बताया है। स्वस्ति (६०२) शब्द दानशाला के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रपा (५१९ उ) शब्द पियाऊ के अर्थ में आया है। अतः स्पष्ट है कि दानशालायें और पियाऊशालायें समाज के सहयोग के लिए आवश्यक मानी जाती थीं। अतिथि की महत्ता अपरिमित थी। हेम ने लिखा है—अतिथिमर्थं भोजयति य यमतिथिं जानाति क्षमते विपारयति वा सं सं मम भोजयतीत्यर्थः (५।४।५४)

जीवन के लिए शुचिता को आवश्यक मानते हुए लिखा है—शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् शुचित्वं (७।१।६९) अर्थात् शौच को जीवन में अवश्य कार्य या भाव द्वारा उतारना आवश्यक है।

विशेष आचार विचारों पर भी 'अक्षिणी निमील्य हसति मुखं व्यादाय स्वपिति पादौ प्रसार्य पतति दन्तान् प्रकाश्य जल्पति (५।४।६९) अर्थात् आँख बन्द कर हँसता है मुख फाड़कर सोता है पैर फैलाकर पड़ता है बत्तीसी दिखलाकर बोलता है इस प्रकार कहता है। यद्यपि उक्त कार्य व्यक्ति विशेष के रहन-सहन के अन्तर्गत आयेंगे तो भी इनका सामाजिक आचार-विचार के साथ सम्बन्ध है यतः उक्त क्रियाएँ अच्छी नहीं समझी जाती थीं इसीलिए इनका त्याज्य रूप में उल्लेख किया है।

लोकमान्यतायें—

दैनिक जीवन में ज्योतिष अथवा मुहूर्त शास्त्र को बड़ा महत्त्व प्राप्त है। प्रत्येक नवीन कार्य को शुभ मुहूर्त में आरम्भ करने का विशेष ध्यान सदा से रखा जाता रहा है। राज्याभिषेक युद्ध के लिए प्रस्थान गृहप्रवेश पुत्र-समारम्भ विवाह संस्कार यात्रारम्भ आदि कार्य ज्योतिष शास्त्र-सम्मत शुभ घड़ियों में सम्पन्न किये जाते रहे हैं।

'ज्योतिषम्' ६।३।१९९ द्वारा ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन पर जोर दिया गया है। आचार्य हेम ने 'हेतौ संयोगोत्पाते ६।३।१५९ सूत्र में उत्पात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'प्राणिनां शुभाशुभसूचको महाभूतपरिणाम उत्पातः' (६।३।१५९)—अर्थात् प्राणियों के शुभाशुभ-सूचक प्रकृति के विकार को उत्पात कहा है। यथा—भूकम्प चन्द्र ग्रह के कारण उत्पन्न होता है (सोमग्रहस्य हेतुरुत्पात—सोमग्रहणिको भूमिकम्पः) (६।३।१५९)। इसी प्रकार संग्राम के कारण इन्द्र धनुष दुर्भिक्ष के कारण परिवेष एवं पुत्र प्राप्तिसूचक सम्बन्धी तिथियों का वर्णन किया है। शरीर में रहने वाले शुभाशुभ चिह्नों का भी वर्णन किया है। 'चिह्नं शरीरस्थं शुभाशुभसूचकं तिलकालकादि' । यथा आयामो ब्राह्मणः, पतिघ्नी कन्या' (७।१।८०)—स्पष्ट है कि शरीर में रहनेवाले तिल मस्सा आदि चिह्न भविष्य के शुभाशुभ की सूचना देते हैं। भाग्यशाली ब्राह्मणकुमार के शारीरिक चिह्न स्वयमेव प्रकट होकर उसके भविष्य की सूचना देते हैं। इसी प्रकार पतिघातक कन्या की हस्तरेखा स्वयं ही उसके वैधव्य की सूचक होती है।

आचार्य हेम ने नक्षत्रों में सम्पन्न किये जानेवाले कार्यों का भी उल्लेख किया है। श्रविष्ठा—श्रविष्ठा नक्षत्र में सम्पन्न होनेवाले कार्य श्राविष्ठीय (६।३।१ ५), फाल्गुनी में सम्पन्न किये जानेवाले कार्य फाल्गुनीय (६।३।१ ६), इसी प्रकार अन्य नक्षत्रों में सम्पन्न किये जानेवाले कार्यों का भी निर्देश किया है। इन नक्षत्रों में उत्पन्न हुए व्यक्तियों के नाम भी नक्षत्रों के नामों पर रखे जाने की प्रथा का निर्देश किया है। दिन, अहोरात्र मास पौर्णमासी अयन ऋतु के नामों के साथ वत्सरः, संवत्सरः परिवत्सरः, अनुवत्सरः, अनुसंवत्सरः, विवत्सरः और इद्वत्सरः (७३९ च) के नाम भी उल्लिखित हैं। 'पुष्येण पायसमश्नीयात्' (६।२।७८) से स्पष्ट है पुष्य नक्षत्र में खीर के भोजन का विधान ज्योतिष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस दिन पायसान्न के भक्षण से बुद्धि की वृद्धि होती है। ज्योतिष में पुष्य नक्षत्र का बड़ा महत्त्व माना गया है इसमें विधिवत् खीर या ब्राह्मी का सेवन करने से बुद्धि की वृद्धि होती है।

कला-कौशल—

सभ्यता और संस्कृति के परिचायक कला-कौशल से भी हेम परिचित थे। सौन्दर्य चेतना उनके रग-रग में व्याप्त है। सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में विविध पुष्पों का प्रयोग, केशों का आकर्षक श्रृंगार अङ्गरागलेपन हेम के युग की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

चित्रकला, सङ्गीत वाद्य, नृत्य एवं स्थापत्य के सम्बन्ध में आचार्य हेम ने प्रचुर सामग्री उपस्थित की है। आचार्य हेम ने 'शिल्पं कौशलम् विज्ञान प्रकर्षः (६।४।५७) द्वारा दो बातों पर प्रकाश डाला है।

(१) कौशल—कुशलता या चतुराई। जिस कला का अभ्यास करना हो उसकी चतुराई—प्रवीणता होनी चाहिए। इसे एक प्रकार से Practical knowledge कह सकते हैं।

(२) विज्ञान प्रकर्ष—विषय का पूर्ण पाण्डित्य—विषय की अन्तिम सीमा तक जानकारी। इसे Theoretical knowledge कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि शिल्प में प्रयोगात्मक और सिद्धान्तात्मक दोनों ही प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनों के सन्तुलन को ही शिल्प कहते हैं। शिल्प कला का स्थान तभी ग्रहण करता है जब उसमें हृदय का संयोग रहता है। आचार्य हेम के उक्त विवेचन से यह स्पष्टतया जाना जा सकता है।

पाणिनि के समान हेम ने भी नृत्य सङ्गीत और वाद्य को शिल्प के अन्तर्गत ही माना है। इनका कथन है कि नृत्य शिल्प जिनका पेशा है वे नार्तिक, गीत शिल्प जिनका पेशा है वे गैतिक, वाद्य शिल्प जिनका पेशा है वे वादनिक मृदङ्ग शिल्प जिनका पेशा है वे मार्दङ्गिक कहलाते हैं। नृत्तं शिल्पमस्य नार्तिकः, गीतं गैतिकः, वादनं वादनिकः मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः, पाणविकः मौरजिकः, वैणिकः (६।४।५७)। इसमें सन्देह नहीं कि हेम ने नृत्य गीत वादित्र और नाट्य या अभिनय का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। हेम ने गीति गेय गायिक और गायन शब्द का साधुत्व भी प्रदर्शित किया है।

वाद्यों में मृदङ्ग मुरज पणव, वीणा, मड्डुक झर्झर और दुन्दुभि का उल्लेख मिलता है। हेम ने 'दक्षिणाम गाथकाय देहि प्रवीणायेत्यर्थः, दक्षिणायै द्विजा स्पृहयन्ति (२।२।६०) उदाहरणों से स्पष्ट किया है कि वीणा पर गाने-वाले को दक्षिणा दो दक्षिणा के लिए द्विज लोग आपस में ईर्ष्या करते हैं। अपस्वरयति मृदङ्गः विविधवाद्यं करोतीत्यर्थः (३।४।४२)—मृदङ्गवादन से नाना

तरह की ध्वनि निकाली जा रही है। मड्डुकवादन शिल्पमस्य माड्डुकः, झाझरिकः (६।४।५८) प्रयोगों से स्पष्ट है कि मड्डु और झझर वाद्य बजाने का भी पेशा करने वाले विद्यमान थे। शङ्ख दुन्दुभि वीणा पणव (३।३।६९) वाद्य भी अत्यन्त लोकप्रिय थे।

'केनेदं चित्रं लिखितमिह नगरे मनुष्येण संभाव्यते' (५।२।७९) अर्थात् इस चित्र को इस नगर में किस मनुष्य ने बनाया है से स्पष्ट है कि चित्र बनाने की कला का भी यथेष्ट प्रचार था। शिल्पसम्बन्धी जो सामग्री उपलब्ध होती है उससे भी स्पष्ट है कि वास्तुकला (३।३।१०८) और चित्रकला (३।२।११८) भी अध्ययनीय विषय माने जाते थे।

शिक्षा और साहित्य—

आचार्य हेम ने शिक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्रदान की है। इन्होंने बतलाया है कि शिक्षा प्राप्त करता हुआ विद्यार्थी उस प्रकार विद्या-लक्ष्मी से युक्त हो जाता है, जिस प्रकार कार्षापण से कोई अभीष्ट वस्तु खरीदी जा सकती है। तात्पर्य यह है कि निष्कपट भाव से विद्या प्राप्त करने वाले छात्र को सभी विद्याएँ ऐसा उसी प्रकार सुलभ है जिस प्रकार सीधी-सादी लकड़ी को छीलने या तराशने में कोई कष्ट नहीं होता है। लिखा है—"द्रुतुल्यः द्रव्ययं माणवकः। द्रव्यं कार्षापण। यथा अग्रन्थि अजिह्म दारु तक्ष्यमाणविशिष्टरूप भवति तथा माणवकोऽपि विनीयमानो विद्यालक्ष्म्यादिभाजन भवतीति द्रव्यमुच्यते। कार्षापणमपि विनियुज्यमान विशिष्टेष्टमाल्याद्युपभोगफल भवतीति द्रव्यमुच्यते' (७।१।११५)।

विद्यार्थी की योग्यता का निरूपण करते हुए हेम ने निम्न गुणों का आवश्यक माना है—

(१) नम्रता—विनय

(२) शील—सदाचार

(३) मेधा—प्रतिभा

(४) श्रम—परिश्रम करने की क्षमता विद्यार्जन में परिश्रम करनेवाला।

आचार्य हेम ने शिष्य के लिए विनय गुण को आवश्यक माना है। इनके 'यूयं विनीतास्तदभो गुरवो मानयन्ति' (२।१।२१) यूयं विनीता स्तद्गुरवो वो मानयन्ति (२।१।२२) उदाहरणों से स्पष्ट है कि विनयी शिष्य को ही गुरु मानते थे। जो अविनीत या उद्दण्ड होता था उसकी गुरु लोग उपेक्षा करते थे।

'युवां शीलवन्तौ तद्वां गुरवो मानयन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति (२।१।२१) अर्थात् कुछ छात्र आपस में वार्तालाप करते हुए कहते हैं कि आप लोग शीलवान्-सदाचारी हैं इसलिए गुरु आपको मानते हैं हम लोग शीलवान् हैं इसलिए हमें गुरु लोग मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि छात्र के लिए शीलवान् होना नितान्त आवश्यक था।

'एते मेधाविनो विनीता अथो एते शास्त्रस्य पात्रम्, एतस्मै सूत्रं देहि एतस्मै अनुयोगमपि देहि' (२।१।३३)। अर्थात् ये विनीत और प्रतिभाशाली हैं अतः ये शास्त्र ग्रहण करने के पात्र हैं। इनको सूत्र और अनुयोग की शिक्षा देनी चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण से यह सूचित होता है कि छात्र के लिए प्रतिभाशाली होना आवश्यक था। प्रतिभा के अभाव में विद्यार्जन सम्भव नहीं होता था। 'अधीत्य गुरुभिरनुज्ञातेन हि खट्वारोढव्या' (३।१।५९) गुरु से पढ़कर उनकी आज्ञा मिलने पर ही खाट पर शयन या आसन ग्रहण करना चाहिए। गुरुकी आज्ञा के बिना खाट पर बैठने वाला छात्र जाल्म कहलाता था। गुरु की सेवा करने से शास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु की कृपा शास्त्रपारगामी होने के लिए आवश्यक मानी गयी है। 'यदि गुरूनुपासीत शास्त्रान्तं गच्छेत्' 'यदि गुरूनुपासिष्यते शास्त्रान्तं गमिष्यति' (५।४।२५) उदाहरणों से उक्त तथ्य की सिद्धि होती है। जो छात्र श्रम करने में कमी करता था, उसे गुरु दण्ड भी देते थे यह बात 'छात्राय चपेटां प्रयच्छति' (२।२।२९) से सिद्ध होती है। आचार्य हेम ने *प्रधानतः चार प्रकार के छात्रों का उल्लेख किया है। दाम्भिक सूचिक,* रामसिक और पार्श्वक। यो मिथ्याव्रती परमतार्थं दम्भाजिनमुपाधायार्थानन्विच्छति स दाम्भिक उच्यते—जो दूसरों को प्रसन्न करने के लिए झूठा ब्रह्मचारी बन विद्या ग्रहण करता है वह दाम्भिक है। यो मृदुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थान् तीक्ष्णोपायेनान्विच्छति रामसिकः स एव उच्यते—जो सरलता से सीखे जाने वाले विषयों को कठोरता से पढ़ना चाहता है वह रामसिक कहलाता है। ऋजुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थाननृजूपायेन योऽन्विच्छति स पार्श्वक उच्यते—जो ऋजु उपाय से सीखने योग्य विषयों को कठिन उपाय से पढ़ना चाहता है वह पार्श्वक है (७।१।१७१)। सूचिक छात्र कठिनाई से शिक्षित किये जाते हैं। नियमित रूप से अध्ययन करने वाले छात्र को आम्नात कहा है।

ध्वांक्षेण क्षेपे (३।१।९)—नियमों का उल्लंघन करने वाले छात्रों की निन्दा की जाती थी। ऐसे छात्र तीर्थध्वांक्ष तीर्थकाक तीर्थबक तीर्थश्वा तीर्थसारमेय एवं तीर्थकुक्कुर (३।१।९) कहलाते थे। जो गुरु के निकट स्थिरता और विनयपूर्वक अध्ययन नहीं करते थे उन्हीं छात्रों के लिए

उपर्युक्त शब्द व्यवहार में लाये जाते थे। आक्रीडी–आक्रीडित इत्येवंविध (५।२।८१) छात्र को विद्यार्जन का अधिकारी नहीं माना गया है। परिश्रम के बिना विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

आचार्य हेम ने शिक्षा के अन्तर्गत न्याय न्यास लोकायत पुनरुक्त संहिता पद, क्रम संघट्ट वृत्ति संग्रह आयुर्वेद गण गुण, स्वागम इतिहास, पुराण भारत व्याख्यान, आख्यान द्विपदा ज्योतिष गणित अनुपद, लक्षण अनुलक्षण सुलक्षण अथर्वन् (६।२।११८), गोलक्षण अश्वलक्षण हस्तिलक्षण (६।२।११९) वार्तिक सूत्र (६।२।११२) वायसविद्या, सर्पविद्या धर्मविद्या संसर्गविद्या, अंगविद्या (६।२।१२१) यज्ञ (६।२।१२२) मीमांसा उपनिषद् (६।२।१२६), शतपथ ब्राह्मण (६।२।१२७), अन्य ब्राह्मण (६।२।१२९) निरुक्त, व्याकरण निगम वास्तुविद्या क्षत्रविद्या, त्रिविद्या, उत्पात मुहूर्त निमित्त एवं ग्रन्थ (६।२।१०८) की गणना की है। 'षड्जीवनिकायमन्त्यमवसानं कृत्वाधीते सषड्जीवनिकायमधीते श्रावकः। एवं सलोकबिन्दुसारमधीते पूर्वधर' (३।१।१७६) से स्पष्ट है कि श्रावक षड्जीवनिकायपर्यन्त आगम का अध्ययन करता था और पूर्वधर लोकबिन्दुसार नामक चौदहवें पूर्व तक अध्ययन करता था। अभिप्राय यह है कि श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—यथा—आचार सूत्रकृत स्थान समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययन अन्तकृद्दश अनुत्तरौपपादिकदश प्रश्नव्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें से पूर्वगत के चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व अग्रायणीय वीर्यानुवाद अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय प्राणावाय क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। हेम के अनुसार अध्ययन की अन्तिम सीमा लोकबिन्दुसार नाम का पूर्व है।

इनके अङ्गसमापनीयम् श्रुतस्कन्धसमापनीयम् (६।३।१२२) से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

आर्थिक जीवन

अर्थ जीवन का मूल है। धनवांस्त्वमसो त्वा लोको मानयति (२।१।३१) प्रयोग भी सम्मान का कारण धन को सिद्ध करता है। आचार्य हेम ने आर्थिक जीवन के अन्तर्गत निम्न तीन बातों को सम्मिलित किया है—

(१) कृषिव्यवस्था
(२) पशुपालन
(३) व्यापार और अन्य पेशा

कृषि—

पाणिनि के समान आचार्य हेम ने कृषि की उन्नति पर पूर्ण प्रकाश डाला है। भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है अतः व्याकरण ग्रन्थों में कृषि एवं उसके अंग सम्बन्धी प्रचुर नाम आये हैं।

खेत—आचार्य हेम ने 'क्षेत्र धान्यादीनामुत्पत्त्याधारभूमि' (७।१।७८) अर्थात् जिसमें अन्न या फसलें उत्पन्न हों उसे क्षेत्र–खेत कहा है। कृषि योग्य भूमि अलग अलग खेतों में बँटी रहती थी और मूंग, प्रियंगु, व्रीहि कोद्रों आदि के खेत पृथक्-पृथक् नामों से अभिहित किये जाते थे। इक्षूणां क्षेत्रम् इक्षुशाकटम् मूलशाकटकम् शाकशाकिनम् (७।१।७८) कुलत्थानां क्षेत्र कौलत्थीन मौद्गीनम्, प्रैयङ्गवीणम् नैवारीणम् कौद्रवीणम् (७।१।७९) व्रीहि क्षेत्र व्रैहेयम् शालेयम् (७।१।८) यवाना क्षेत्रं यव्य (७।१।८१), अणूनां क्षेत्रमणव्यम्, माष्यम (७।१।८२) उमाना क्षेत्रम् उम्यम् भङ्ग्यम् तिल्यम (७।१।८३) के उल्लेखों से स्पष्ट है कि धान्य के नाम पर खेतों का नामकरण किया जाता था।

'केदाराण्ण्यश्च (६।२।१३) में केदार उस खेत को कहा गया है जहाँ हरी फसल बोयी गयी हो और जिसमें पानी की सिंचाई होती हो। अर्थशास्त्र में केदार शब्द आर्द्र खेतों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिस खेत में हरी फसल खड़ी रहती थी, उसे केदार कहा जाता था। हेम ने हरे वन को भी केदारवन कहा है। हरी फसल से लहलहाते खेतों का समूह कैदार्य या कैदारक कहा जाता था। ऐसी योग्य भूमि को वर्प कहा है। जिस भूमि में खेती सम्भव नहीं थी उस भूमि को (ऊषरं क्षेत्रम् ७।२।२६) कहा है। ऊपर रेहड़ या नोनी धरती को कहा गया है। जिस भूमि में खेती होती थी या जो खेती के योग्य बनायी जा सकती थी उसे 'कृषिमत्क्षेत्रम् (७।२।२) के नाम से अभिहित किया गया है।

खेतों की नाप जोख—खेत नाप-जोख के आधार पर एक दूसरे से घेरे हुए थे। 'काण्डात्प्रमाणे (२।४।२४)—द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। इसकी टिप्पणी में लिखा है—'यत्रम्यां काण्डाभ्यां क्षेत्रपरिच्छिन्न न काण्डेऽपि क्षेत्रमंनित' (२।४।२४) अर्थात् द्विकाण्ड और त्रिकाण्ड खेतों के क्षेत्रफल को सूचित करते हैं। एक

काण्ड की लम्बाई सोलह हाथ प्रमाण होती है तथा एक काण्ड क्षेत्र १२ × १२ पुरुष होता है और द्विकाण्ड १८ × १२ वर्ग पुरुष, त्रिकाण्ड ७२ × १२ वर्ग पुरुष प्रमाण होता है।

जोतना या कृष—जुताई के लिए कृष धातु थी। जुताई करने या भूमि कमाने में बहुत श्रम करना पड़ता था। दो बार की जोत के लिए द्वितीयाकरोति (द्वितीयं वारं करोति क्षेत्रं द्वितीयाकरोति–द्वितीयं वारं कृषतीत्यर्थः ७।२।१३५) और तीन बार जोत के लिए तृतीया करोति (तृतीय वारं कृषतीत्यर्थः (७।२।१३५) शब्द प्रचलित थे। आजकल भी दूसरी जोत, तीसरी जोत शब्द प्रचलित हैं। खेत की गहरी जुताई के लिए शम्बाकरोति शब्द आया है। इसका अर्थ बतलाते हुए लिखा है—अनुलोमकृष्टं पुनस्तिर्यक् कृषतीत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः शम्बसाधन कृषिरिति शम्बेन कृषतीत्यर्थः। एके तु शम्बाकरोति कुक्षिवमित्युदाहरन्ति। लोहके वा यष्टिकुण्डलिका वा शम्बम् तत् कुक्षिवस्य करोतीत्यर्थः (।२।१३५) अर्थात् हल को पलट-तिरछा चलाकर खेत को गहराई के साथ जोता जाता था। जिस हल में लोहे का बड़ा फाल लगा रहता था उस हल को शम्ब कहा जाता था। इस हल के द्वारा गहरी जुताई किये जाने को शम्बाकरोति कहा गया है। आचार्य ने इस सूत्र की टिप्पणी में शम्ब एक प्रकार के हल को माना है इस हल की तीन विशेषताएँ होती थीं—

(१) लम्बा फाल लगा रहता था।

(२) फाल की बनावट इस प्रकार की होती थी जिससे कूंड चौड़ा और गहरा होता था।

(३) यह हल साधारण परिमाण से बड़ा होता था।

हल—हल का उल्लेख आचार्य हेम ने कई सूत्रों और उदाहरणों में किया है। 'हलस्य कर्षे' ७।१।२१ हलसीरादिकण् ७।१।६ ६।३।१११ सूत्रों में हल्य हल, हालिक सैरिक आदि शब्दों का प्रयोग आया है। हलस्य कर्षो हल्या हल्यो वा द्वयोर्द्विहल्या त्रिहल्या परमहल्या उत्तमहल्या बहुहल्या। यत्र हले कृष्टे स मार्गः कर्षः, कृष्यते इति कर्षः क्षेत्रमित्यन्ये (७।१।२१)—अर्थात् एक हल की जोत के लिए पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी इसका प्रमाण १½ एकड़ भूमि है। द्विहल्य का २½ एकड़ और त्रिहल्य का प्रमाण चार एकड़ भूमि है। एक परिवार के लिए द्विहल्या भूमि पर्याप्त समझी जाती थी। बड़े परिवार परमहल्या भूमि रखते थे। अच्छी भूमि को उत्तमहल्या कहा जाता था।

हल दो प्रकार के थे—बड़ा और छोटा। बड़ा हल गहरा बोने और खेत को गहरा जोतने के काम में लाया जाता था। लम्बी लम्बी रहनेवाली लकड़ी को जिसमें जुआ लगाया जाता था उसे हलीषा बीच के भाग को योत्र (५।२।८०) और अग्रभाग को हाल, सैर (हलस्य हालं, सीरस्य सैरं ६।२।२) कहा है। हल लोहे का बना फाल है, इसे अयोविकार कहा है।

हल में जोते जानेवाले बैलों को हालिक या सैरिक (हलं वहतीति हालिकः सैरिकः ७।१।६) कहा गया है। इन्हें योत्र—जोत से जुए में कसा जाता था (५।२।८०)।

किसान या कृषक—कृषक तीन प्रकार के होते थे—

(१) अहलि या अहलः (७।३।२१)

(२) सुहलि या सुहलः

(३) दुर्हलः या दुर्हलि

जिन कृषकों के पास अच्छा हल होता था वे सुहल-सुहलि कहलाते थे जिनके पास निजी हल नहीं होता था वे अहल-अहलि अथवा अपहल कहलाते थे और जिनका हल पुराना, निमा तथा कम चौड़ाई वाले फलिये का होता था उन्हें दुर्हल-दुर्हलि कहा जाता था।

कृषि के विभिन्न अवयवों के लिए निम्नांकित शब्दों का प्रयोग हुआ है।

बोना—वप्तः वाप्यापनम् (५८९ उ), वपन तथा वप धातु से ण्यत् प्रत्यय करके वाप्य—बोने योग्य खेत के लिए आया है। आचार्य हेम ने—बीजाकरोति क्षेत्रम्। उप्ते पश्चात् बीजैः सह कृषतीत्यर्थः। अर्थात्—खेत में बीज छींट कर हल चलाने को बीजाकरोति क्षेत्र कहा (७।२।१२६) है।

लवनी—जो खेत कटाई के लिए तैयार रहता था वह लाव्य कहलाता था। फसलों का लून और काटनेवाले को लुनक कहा है (७।३।२१)। कटनी दात्र या लानित्र से की जाती (५।२।८७) थी।

मणनी (निष्पाक ६।२।५८)—फसल काटकर खलिहान में ले जाते थे खलिहान के लिए चुना हुआ खेत खल्य (६।२।२५) कहा जाता था। खलिहानों के समूह को खलया या खलिनी (६।२।१०) कहा गया है। खलिहानों को ऐसे स्थान पर रखा जाता था जहाँ अग्नि का उपद्रव न हो और अग्नि से अन्न की रक्षा की जा सके (७।१।१०)।

निकार—मणनी के पश्चात् निकार बरसाई की जाती थी (५।२।८०)।

खलेबुस—खलिहान में भूस के ढेर को खलेबुस कहा है।

यवबुसम्—खलिहान में जौ के भूसे का ढेर (६।३।११४)।

फसलें—

मुख्यतः फसलें दो प्रकार की थीं—कृष्टपच्या खेती से उत्पन्न और अकृष्टपच्या—जो स्वयं ही उत्पन्न हो जैसे नीवार आदि जंगली धान्य। बोने और पकने के समय के अनुसार फसलों का नाम पड़ता था। बोने के अनुसार चार प्रकार की फसलों का आचार्य हेम ने उल्लेख किया है। (१) शरद्युप्ता शारदा (६।३।११८)—शरद ऋतु में बोयी गयी शारदा (२) हेमन्ते हैमन्त (६।३।११८)—हेमन्त में बोयी गयी हैमन्त (३) ग्रीष्म में बोयी गयी ग्रैष्म या ग्रैष्मक और (४) आश्वयुज्यां कौमुदायामुप्ता आश्वयुजकः (६।३।११८) अर्थात् आश्विन में बोयी गयी आश्वयुजक कहलाती थी। इसी प्रकार अगहन में पकनेवाली आग्रहायणिक (६।३।११९) वसन्त में पकनेवाली वासन्त्य शरदि पच्यन्ते शारदा (६।३।११७) शरद में पकनेवाली शारदा और शिशिर में पकनेवाली शैशिरा (६।३।११) कहलाती थी।

वृक्ष और औषधियाँ—

इस सन्दर्भ में वृक्ष न्यग्रोध अश्वत्थ इंगुदी, वेणु, बृहती सणु, षड्, कम्बु (६।२।४९), जम्बु (६।२।६), कदर खदिर पलाश (७।३।८), हरीतकी पिप्पली कोशातकी श्वेतपाकी अर्जुनपाकी कण्टकी नखरजनी शष्कण्डी, दन्ती, दोडी, दासी, वप्या अभिका, शिखा, मुक्ता, क्रोष्टा, दूर्वा, शाक कण्टकारिका, पैप्पलिक (६।१।७०) नारी मूषाकी कन्दाली तर्करी, गुडूची पाकुली माची मोची, कुङ्कुमी भेरी माल्ली मृगी बदरी पाकली, कोशातकी मकी मल्लकी पूपी सूपी सूर्पी, सूर्मी, अरीढकी आलकी वल्कली कर्णली पेरी बन्धी गोष्ठी घाकुली जगरसी सल्पोरी (२।४।१९), देवदारु, भद्रदारु, निदग्धी शिरीष कुरिका मिरिका करीर श्रीरिका कमरि क्षीर (६।३।६०), खदिर आम्र पीयूष एवं दारु (६।३।६६) के नाम आये हैं। औषधियों में कुछ औषधियों के गुणों का भी उल्लेख किया है। अजमी को सन्निपातहन्त्री कहा गया है।

पुष्पों में मल्लिका यूथिका नवमल्लिका मालती पाटल पुष्प, सिन्दुवार कदम्ब, करवीर अशोकपुष्प चम्पक, कर्णिकार एवं कोविदार (६।१।५०) के नाम आये हैं। औषधियाँ पुष्प और वृक्ष भी आय के साधन थे अतः इनका भी आर्थिक जीवन के साथ सम्बन्ध है।

व्यापार-वाणिज्य—

हेम के समय में वाणिज्य-व्यापार बहुत ही विकसित और उन्नतिशील

था। अतः इन्होंने व्यापार वाणिज्य विषयक पुराने और नये शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। 'मूल्यैः क्रीते' ६।४।१५० और 'सुवर्णकार्षापणात्' ६।४।१४८ सूत्रों से अवगत होता है कि सोने चाँदी और ताँबे के सिक्के व्यवहार में काम आते थे। बाजार में माल खरीदने और बेचने का काम सिक्कों के द्वारा ही होता था। "द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, त्रिकम्, पञ्चकम् यावत्कम्, तावत्कम्, कतिभिः क्रीतम् कतिकम्, त्रिंशत्कम्, विंशतिकम्, चत्वारिंशत्कम्, पञ्चाशत्कम्, साप्ततिकम्, आशीतिकम् नावतिकम्, प्रास्थिकम्, (६।४।१३०) शतेन क्रीतम् शत्यम्, शतिकम् (६।४।१३१), सहस्रेण क्रीतं साहस्रं (६।४।१३७), द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम, अध्यर्धसुवर्णम्" (६।४।१४८) से स्पष्ट है कि वस्तुओं की कीमत दो-तीन कार्षापण से लेकर सहस्र कार्षापण तक थी। आधा कार्षापण और डेढ़ कार्षापण का भी व्यवहार होता था। हेम ने निम्न-लिखित सिक्कों का उल्लेख किया है।

सुवर्ण (६।४।१४८)—प्राचीन भारत में सुवर्ण नाम का एक सिक्का प्रचलित था। हेम ने 'द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम्, अध्यर्धसुवर्णम्' (६।४।१४८) में दो सुवर्णों से खरीदी हुई वस्तु को द्विसुवर्ण कहा है। डा. भाण्डारकर का मत है[1] कि आरम्भ हिरण्य की कुछ संज्ञा थी और उसी के जब सिक्के ढल जाते थे तब वे सुवर्ण कहलाते थे। कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण सिक्के का वजन १५ ग्रेन होता था।

कार्षापण (६।४।१४८)—यह भारतवर्ष का सबसे प्रसिद्ध चाँदी का सिक्का है। इसका वजन ३२ रत्ती होता था। आहतं रूप्यमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः। विद्याविक्रमतायमाहीमाराविषु पञ्चप्रमुत्पद्यते तदाहतं रूप्यम् (७।२।५४)। सोने और ताँबे के भी कार्षापण होते थे इनकी तौल एक कर्ष—८ रत्ती रहती थी। आचार्य हेम का मत है कि कार्षापण से प्रत्येक उपयोग योग्य वस्तु खरीदी जा सकती है। यथा—कार्षापणमपि विनियुज्यमान विशिष्टमस्योपभोगफलं भवति (७।१।११५)। सौ कार्षापणों से खरीदी हुई वस्तु को शत्य और शतिक (६।४।१३१) और हजार की कीमत वाली वस्तु को साहस्र कहा है। 'हाटकं कार्षापणम्' (६।२।४२) से सिद्ध है कि यह सोने का भी होता था।

निष्क (६।४।१४७)—यह वैदिक काल से चला आया हुआ सोने का सिक्का है। आचार्य हम ने मोल लिया अर्थ में द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतम्

---

[1] देखें—प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र पृ. ५१

वस्तु—द्विनिष्कम्, त्रिनिष्कम्, बहुनिष्कम् (६।४।१४३) रूप सिद्ध किये हैं। अर्थात् दो निष्क में मोल की हुई वस्तु को द्विनिष्क तीन निष्क से मोल की हुई वस्तु को त्रिनिष्क और बहुत निष्कों से मोल की हुई वस्तु को बहुनिष्क कहा है। हेम ने 'हाटकस्य विकार, हाटको निष्क' (६।२।४२) द्वारा निष्क सोने का सिक्का होता था इस बात की सूचना दी है।

पण—यह कार्षापण का चौथा नाम है। यह ३२ रत्ती चाँदी के वजन का होता था। हेम ने 'द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतं' द्विपण्यम्, त्रिपण्यम्—अर्थात् दो पण से मोल की हुई वस्तु द्विपण्य और तीन पण से मोल की हुई वस्तु त्रिपण्य कही जाती थी।

पाद—यह कार्षापण के चौथाई भाग का होता था। इसका वजन भी आठ रत्ती बताया गया है। दो पाद से मोल की हुई वस्तु द्विपाद्यम् और तीन पाद से मोल की हुई वस्तु त्रिपाद्यम् कहलाती थी। हेम ने लिखा है—माषपणसाहचर्यात् पाद' परिमाणं गृह्यते, न प्राण्यङ्गम् (६।४।१४८) अर्थात् माष और पण के बीच में पाद शब्द के आने से यह परिमाण सूचक है प्राणि-अङ्ग सूचक नहीं।

माष (६।४।१४८)—यह चाँदी और ताँबे का सिक्का था। चाँदी का तौल माष दो रत्ती का और ताँबे का पाँच रत्ती का होता था। द्विमाष्यम्, त्रिमाष्यम्, अध्यर्धमाष्यम् से स्पष्ट है कि वस्तुओं का मोल दो माष तीन माष और डेढ़ माष भी होता था।

काकणी (६।४।१४९)—यह माष का चौथाई होता था। अर्थशास्त्र में ताँबे के सिक्कों में इसका उल्लेख (२।१९) मिलता है। द्विकाकणीकम्, त्रिकाकणीकम्, अध्यर्धकाकणीकम् से स्पष्ट है कि ये माल दो तीन और डेढ़ काकणी से खरीदी गयी वस्तु के हैं। हेम ने काकणी के व्यवहार की चर्चा की है।

शाण—यह भी एक सिक्का है। आचार्य हेम ने ६।४।१४९ और ६।४।१५० इन दोनों सूत्रों में इस सिक्के का उल्लेख किया है। द्विशाण्यम्—द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्विशाण्यम् त्रिशाण्यम्, पञ्चशाणम् पञ्चशाण्यम् आदि प्रयोग इस सिक्के के प्रचलन पर प्रकाश डालते हैं। यह निश्चित परिमाण और मूल्यवाला सिक्का था। महाभारत में बताया है—अष्टौ शाणा' शतमाने वहन्ति (आरण्यक पर्व १३४।१४)—सौ रत्तीवाले शतमान में आठ शाण होते थे। अतएव एक शाण की तौल १२½ रत्ती होती थी। चरक में शाण को ४ रत्ती प्रमाण कहा है। आचार्य हेम ने शाण का वजन कर्ष का चतुर्थ भाग 'शाणः कर्षचतुर्भागः (३।३।१९) माना है।

कंस—यह भी सिक्का है। द्वाभ्यां कंसाभ्यां द्विकंस्या या क्रीतम् द्विकंसम्, त्रिकंसम् (६।४।१४१) से स्पष्ट है कि यह कांसे धातु का सिक्का था। हमारा अनुमान है कि यह दो पैसे के बराबर का सिक्का था।

विंशतिक—हेम ने बताया है कि 'विंशतिर्मानमस्य विंशतिकम् तेन क्रीतम्—वैंशतिकम्—अर्थात् जिस सिक्के का मान बीस हो उसको विंशतिकम् तथा उस विंशतिक से खरीदी वस्तु वैंशतिक कही जायगी। यह ऐसा कार्षापण है जिसमें २० माष होते थे इसलिए यह सिक्का विंशतिक कहलाता था।'[1]

वसन—वसनेन क्रीतम्—वासनम्—वसन से खरीदी हुई वस्तु वासन कहलाती थी। आचार्य हेम ने रामसी वस्त्र को वसन कहा है (५।३।१२५)। दूसरी परिभाषा में कुसुमयोगाद्गन्धो वस्त्रं—(४।४।३५)—पुष्पों से सुवासित वस्त्र को वसन कहा गया है। इस प्रकार के वस्त्र से खरीदी हुई वस्तु वासन कही जाती थी। अथवा वसन नाम का कोई सिक्का भी हो सकता है जिसका प्रयोग प्राचीन समय में होता था।

व्यवहार और क्रय विक्रय—

क्रय विक्रय के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग हुआ (६।४।१५८) है। यह आन-आयात सम्बन्धी व्यापक व्यापार के लिए प्रयुक्त होता था (क्रय विक्रयेण जीवति क्रय विक्रयिकः ६।४।१६)। और स्थानीय क्रय विक्रय के लिए पण शब्द का व्यवहार होता था। आपण-दूकान या बाजार में क्रय विक्रय के लिए प्रदर्शित वस्तुएँ पण्य कहलाती थीं। आचार्य हेम ने पण्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—पण्यं विक्रेय भवति। आपूपा पण्यमस्य आपूपिकः (६।४।५४) जो क्रय विक्रय से अपनी आजीविका चलाता था वह व्यापारी कहलाता था। छोटे व्यापारी किराना नमक उशीर हरिद्रा हरिद्रपर्णी गुग्गुल, मलय (६।४।५५) शलालु (६।४।५६) को बाजार में बेचते थे और बड़े व्यापारी इन पदार्थों को बाहर से मंगाकर थोक रूप में बेचने और खरीदते थे। थोक व्यापारी सामान को एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर बेचते थे।

आचार्य हेम ने बड़े व्यापारी के लिए द्रव्यक शब्द का प्रयोग किया है और इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—द्रव्यं हरति वहति आवहति द्रव्यकः (६।४।१६०)—जो पूंजी लगाकर सामान ले जाता हो लाता हो और अपने माल की स्वयं देखभाल करता हो उसे द्रव्यक कहा है। दूसरे व्यापारी वणिक थे। वस्न की व्याख्या में बताया है—वस्नो नियतकालक्रय मूल्यम् (६।४।१६) अर्थात् निश्चित समय के क्रय मूल्य को वस्न कहते हैं

१ देखो—पाणिनिकालीन भारत पृ. २६२।

जो इस प्रकार का व्यापारी हो उसे वणिक कहा जायगा। तात्पर्य यह है कि इस कोटि के व्यापारी वायदा—सट्टा का कार्य करते थे। ये रोकड़-पूंजी व्यापार में नहीं लगाते थे बल्कि जबान से ही इनका कारोबार चलता था।

प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थाएँ थीं। शिल्पियों के संगठन को श्रेणी, व्यापारियों के संगठन को निगम और माल लादकर वाणिज्य करनेवाले व्यापारियों को सार्थवाह कहा जाता था।

व्यापारियों के भेद—

सूत्र ४ 'प्रस्तारसंस्थानतदन्तकठिनान्तेभ्यो व्यवहरति' ४।४।७२ "प्रस्तारं व्यवहरतीति प्रास्तारिकः, सांस्थानिकः, कांस्यप्रस्तारिकः, लौहप्रस्तारिकः, गोसंस्थानिकः, अश्वसंस्थानिकः, कठिनान्त—वांश कठिनिकः वार्धकठिनिकः" अर्थात् वस्तुओं का व्यापार करनेवाले व्यापारी तीन प्रकार के थे। जो व्यापारी खनिज पदार्थ—लोहा, कांसा, चाँदी, सोना आदि का व्यापार करते थे वे प्रास्तारिक कहलाते थे और जो पशुओं के व्यापारी थे वे सांस्थानिक कहलाते थे। इस प्रकार के व्यापारी गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गधा आदि पशुओं के यातायात का व्यापार करते थे। तीसरे प्रकार के व्यापारी बांस, चमड़ा, काठ आदि का व्यापार करते थे। माल के खरीदने बेचने का माध्यम सिक्के थे।

साई—

बाजार में किसी चीज की बिक्री पक्की करने के हेतु साई दी जाती थी जिसे सत्याकरोति कहा है। 'सत्याकरोति वणिग् भाण्डम्। भाण्डवणादिग्रहणम् मयावश्यमेतत् क्रेतव्यमिति विक्रेतारं प्रत्याययति' (५।४।६६) साई का उद्देश्य ग्राहक की ओर से सौदा पक्का करना था और बेचनेवाले को पूरा विश्वास दिला देना था कि ग्राहक माल अवश्य खरीदेगा।

लाभ—

लाभ और मूल की व्याख्या करते हुए बताया है—'पण्यादीनामुपादानमूल्यातिरिक्तं प्राप्तं द्रव्यं लाभः' (५।१।४७)—व्यापारी पदार्थों के निर्माण में जो लागत लगती है वह उसका मूल्य कहलाती है। इस मूल्य से जो अतिरिक्त द्रव्य प्राप्त होता है उसे लाभ कहते हैं।

शुल्क—

व्यापारियों के माल पर चुंगी लगती थी जिसे शुल्क कहते थे। जितना शुल्क जिस माल पर लगता था उसीके आधार पर व्यवहार में माल का नाम पड़

जाता था (६।४।१५८)। चुंगीघर को शुल्कशाला और वहाँ से प्राप्त होने वाली आय को शौल्कशालिक कहा है (शुल्कशालायाः आगतम्'—शौल्कशालिकः ६।३।१५२)। शुल्कशाला राज्य की आमदनी का प्रमुख साधन थी। शुल्कशाला—चुंगी घर में नियुक्त अधिकारी को भी शौल्कशालिक (६।३।७७) कहा है। हेम की 'पणिजां रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कम्' (६।४।१५८) परिभाषा से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि यह शुल्क रक्षा के लिए सरकार को दिया जाता था और सरकार व्यापारियों की रक्षा का प्रबन्ध करती थी।

चुंगी सामान की तादाद के अनुसार लगती थी और वह कई बार ली जाती थी। हेम के 'द्वितीयस्मिन्नस्मै वा वृद्धिरायो लाभ उपदा शुल्कं वा देयं द्वितीयकः, तृतीयिकः, पञ्चमिकः, पष्ठिकः' (६।४।१५९) प्रयोग इस बात के समर्थक हैं कि प्रत्येक नगर में चुंगी लगती थी। इसी प्रकार लाभ भी एकाधिक बार लिया जाता था। जिस थोड़े माल पर आधा रुपया चुंगी लगती थी उसे चुंगी की भाषा में आर्धिक या भागिक (भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः—६।४।१४) कहा है।

वाणिज्य पथ—

एक नगर से दूसरे नगर के आने जाने के लिए पथ—सड़कें थीं जिनसे व्यापारियों को आना जाना पड़ता था। आचार्य हेम ने 'शङ्कूत्तरकान्तार राजवारिस्थलजङ्गलादेस्तेनाहृते च' ६।४।१०—शङ्कुपथेनाहृतो याति वा शाङ्कुपथिकः, औत्तरपथिकः कान्तारपथिकः, राजपथिकः वारिपथिकः स्थालपथिकः जाङ्गलपथिकः।

शङ्कुपथ—पहाड़ी मार्ग है। जहाँ बीच में चट्टानें आ जाती थीं वहाँ शङ्कु या लोहे की कील चट्टानों में ठोककर चढ़ना पड़ता था। इस प्रकार कठिन पथ को शङ्कुपथ कहा है।

उत्तरपथ—यह बहुत ही प्रसिद्ध व्यापार का मार्ग रहा है। यह राजगृह से गान्धार जनपद तक जाता था। दक्षिणापथ श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जाता था। उत्तरापथ से लाया जानेवालों को औत्तरपथिक-उत्तरपथेना-हृतः याति वा (६।४।१०) कहा है। इस मार्ग के दो खण्ड थे। एक तो बल्ख से कारपीय सागर तक जो फैलती होकर यूरोप तक चला जाता था। दूसरा गान्धार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होता हुआ सिन्धु सतलज और यमुना पार करके हस्तिनापुर और कान्यकुब्ज प्रयाग का मिलाता हुआ पाटलिपुत्र एवं ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। इस मार्ग पर

यात्रियों के ठहरने के लिए निषद्याएँ, कुएँ और छायादार वृक्ष लगे हुए थे। सर्वत्र एक-एक कोस पर सूचना देने वाले चिह्न बने थे। इसी मार्ग का बीच का टुकड़ा तक्षशिला, पुष्कलावती से कापिशी होता हुआ बाह्लीक तक जाता था और वहाँ पूर्व में कम्बोज की ओर से आते हुए चीन के कौशेय पथों से मिलता था।

कान्तारपथ और जांगलपथ—कौशाम्बी से अवन्ति होकर दक्षिण में प्रतिष्ठान और पश्चिम में भरुकच्छ को मिलानेवाला विन्ध्याटवी या विन्ध्य के बड़े जंगल का मार्ग कान्तार पथ या जांगलपथ के नाम से प्रसिद्ध था।

स्थलपथ—

यह मार्ग दक्षिण भारत के पाण्ड्य देश से पूर्वीघाट और दक्षिणकोशल होकर आनेवाला मार्ग है। भारत से ईरान की ओर जानेवाले खुश्की रास्ते को भी स्थलपथ कहा है। आचार्य हेम ने 'स्थलादेर्मधुकमरिचेऽण् ६।३।९१— 'स्थलपथेनाहृतं माधुकं मारिचं वा' अर्थात् स्थल पथ से मधुक—मुलहठी और मिर्च लायी जाती थी।

अजपथ—

जिस मार्ग में केवल एक बकरी चलने की गुंजाइश हो तो उसे अजपथ कहते हैं। सम्भवतः यह पहाड़ी मार्ग है, जिस पर बकरी और भेड़ों के ऊपर थैलों में माल लादकर ले जाते थे।

वारिपथ—

वंक्षु से कास्पपीय सागर तक का मार्ग वारिपथ कहलाता था। इसी रास्ते भारतीय माल नदियों के जल द्वारा पश्चिमी देशों में पहुँचाया जाता था।

ऋणदान—

धनिक के लिए आचार्य हेम ने द्रव्यवान्, सत्त्ववान्, धनवान् (७।२।५), आढ्य (१६७ उ), स्वापतेय (१।३।२४) हिरण्यवान् (७।१।१ ९) शब्दों का उल्लेख किया है। आढ्य के अन्तर्गत इभ्य—धनिक थे जिन्हें सरकार द्वारा हाथी पर सवारी करने का अधिकार प्राप्त था। (६।४।१०४) वे नैगम या महाजन कहे जाते थे। वे धनिक लक्षपति कोटिपति होते थे। वे लोग ऋण देते थे इसलिए ऋणदाता को उत्तमर्ण और ऋण लेनेवाले को अधमर्ण कहा जाता था। ब्याज को वृद्धि कहा है। 'अधमर्णेनोत्तमर्णाय गृहीतधना तिरिक्तं वृद्धिः' (६।४।१५८) अर्थात् ऋण लेनेवाला महाजन को जो मूलधन के अतिरिक्त ब्याज देता है, उसे वृद्धि कहते हैं। ऐसे ब्याज को कुसीद

तोल का होता था। नये बछड़े के लिए किया गया ऋण वत्सतरार्ण कहलाता था।

उपर्युक्त ऋण सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि कृषि व्यापार पशुपालन के समान ऋण देकर ब्याज से रुपये कमाना भी आर्थिक साधन के अन्तर्गत था।

निमान मान प्रमाण—

व्यापार तथा उद्योग धन्धों के प्रकर्ष के लिए नाप तोल का प्रचार होना आवश्यक है। आचार्य हेम ने मान की व्याख्या करते हुए बताया है—

मानमियत्ता सा च द्वेधा संख्या परिमाणं च (५।३।८१)—वजन और मात्रा निश्चित करने का नाम मान है और यह मान दो प्रकार का होता है—संख्या और परिमाण—नाप।

कुछ वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं के बदले में भी खरीदी जाती थीं इस प्रकार के व्यवहार को निमान कहते हैं। इस प्रकार की अदला-बदली का आधार वस्तुओं का आन्तरिक मूल्य ही होता था। हेम के—'द्वौ गुणावेषां मूल्यभूतानां यवानामुदश्वित् क्रियता, उदश्वितो मूल्यम्' (७।१।१५२)—अर्थात् जौ की अपेक्षा मट्ठे का मूल्य आधा था। एक सेर जौ देने पर दो सेर मट्ठा प्राप्त होता था यही मट्ठे के परिवर्तन का आधार मूल्य कहलाता था। हेम ने गायों के बदले में भी वस्तुओं के खरीदे जाने का निर्देश किया है। इनके पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा दशाश्वा (२।४।२३) उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाँच घोड़ों के बदले में खरीदी हुई वस्तु पञ्चाश्वा और दस घोड़ों के बदले में खरीदी वस्तु दशाश्वा कहलाती थी।

हेम ने 'द्वाभ्यां काण्डाभ्यां क्रीता द्विकाण्डा, त्रिकाण्डा शाटी' (२।४।२३) उदाहरण दिये हैं। दो या तीन काण्ड से खरीदी गयी साड़ी। शूर्प प्रमाण से क्रीत वस्तु को शौर्पिक कहा है 'द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीत द्विशूर्पम्, त्रिशूर्पम् अध्यर्धशूर्पम् (६।४।१४१) अर्थात् दो द्रोण प्रमाण का शूर्प एवं दो शूर्प प्रमाण एक गोणी (लगभग ढाई मन वजन) होती है। दो शूर्प से खरीदी वस्तु द्विशूर्प तीन शूर्प से खरीदी वस्तु त्रिशूर्प और डेढ़ शूर्प से खरीदी वस्तु अध्यर्धशूर्प कहलाती थी। इस प्रकार पञ्चगोणि और दशगोणि प्रयोग भी प्रचलित थे।

प्रमाण—

आयाममानं प्रमाणं तद् द्विविधम्। ऊर्ध्वमान तिर्यग्मानञ्च। तत्रोर्ध्व मानात्—जानुनीप्रमाणमस्य जानुमात्रमुदकम्, ऊरुमात्रमुदकम्।

तिर्यग्मानात्—रज्जुमात्र भूमि तन्मात्री तावन्मात्री' (७।१।१४४) अर्थात् लम्बाई के माप को प्रमाण कहते हैं और इसके दो भेद हैं—ऊर्ध्वमान तथा तिर्यग्मान। ऊर्ध्वमान द्वारा वस्तु की ऊँचाई मापी जाती है जैसे घुटने भर पानी एक पुरुष पानी हाथी डुबा पानी (७।१।१४१) आदि उदाहरण गहराई या ऊँचाई को प्रकट करते हैं। तिर्यग्मान द्वारा लम्बाई-चौड़ाई मापी जाती है—जैसे एक रज्जु भूमि। तिर्यग्मान सूचक निम्न शब्द हैं—हस्त (।३।१४२)—हाथ—दो हाथ का एक गज होता है।

दिष्टि, वितस्ति (७।१।१४२)—१२ अंगुल प्रमाण

शम (७।१।१४२)—शमा चतुर्विंशति अंगुलानि—२४ अंगुल प्रमाण

पुरुष (७।१।१४१)—३½ हाथ प्रमाण

हस्ति (७।१।१४१)—७ हाथ ऊँचा ९ हाथ लम्बा। साधारणतः १३½ फुट माप है

काण्ड (२।७।२४)—१६ हाथ या २४ फुट लम्बा माप। मतान्तर से ४ गज।

दण्ड (७।१।१४४)—२ गज

रज्जु (७।१।१४१)—४ गज

मान (६।४।२६६)

तराजू से तौल कर जिनका परिमाण जाना जाता था वे वस्तुएँ मान कहलाती थीं। आचार्य हेम ने निम्न तौलों का उल्लेख किया है—

१ माष (६।४।१७८)—पाँच रत्ती प्रमाण।

२ काकणी (६।४।१७९)—सवा रत्ती प्रमाण।

३ शाण (६।४।१२६)—२ रत्ती प्रमाण।

४ बिस्त (६।४।१४४)—बिस्त को कर्ष या अक्ष का पर्याय माना जाता है। इसकी तौल अस्सी रत्ती होती है।

५ कुडव (७।१।१४५)—एक प्रस्थ—१२½ तोले के बराबर।

६ कर्ष (७।१।१४५)—दस सेर प्रमाण।

७ पल (७।१।१४६)—४ तोला पलमात्र सुवर्णम्।

८ प्रस्थ (।३।१४२)—५ तोला प्रस्थमात्रो व्रीहिः।

९ कंस (६।४।१४१)—५ सेर प्रमाण।

१० शूर्प (६।४।१६०)—१ मन ११ सेर १६ तोला।

११ द्रोण (६।४।१५१)—१ सेर-द्रौणिकम्।

१२ खारी (६।४।१५१)—२ मन खारीकम्।

१३ गोणी (२।२।१ १ ७।१।१२१)—गोण्यमेये गोण्यास्तुल्यम्—गौणिकम्—२१ मन प्रमाण की गोणी होती थी।

आजीविका के साधन पेशे—

हाथ से कार्य कर आजीविका चलानेवाले व्यक्ति विभिन्न प्रकार के पेशे करते थे। आचार्य हेम ने 'हस्तेन कार्यं हस्त्यम् (६।४।१ १) द्वारा इस प्रकार की आजीविका करने वालों की ओर संकेत किया है। हेम ने कारि, शिल्पी (६१९ उ) और कारु (५।१।१५) द्वारा हाथ से काम करनेवालों को कारि और कारु कहा है। कुछ पेशेवरों के नाम नीचे दिये जाते हैं—

१ रजक (५।३।६५)—वस्त्र प्रक्षालन द्वारा आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

२ नापितः (७।२।१३७)—हजामत काम कर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

३ कुम्भकारः (७।१।८५)—मिट्टी के बर्तन बनाकर आजीविका करनेवाला।

४ तन्तुवायः (७।१।५५)—जुलाहा—वस्त्र बुनकर आजीविका करनेवाला।

आखनिकः (५।३।११०) खनकः (५।१।६५)—खान खोदकर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

आनायी (५।३।१३५)—जाल बिछाकर मत्स्यबन्धन या हरिणबन्धन द्वारा आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

पारान (१०२ उ)—रंगोपजीवी—रंगरेज का कार्य कर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

गन्धिकः या गन्धी (७।२।६)—इत्र या पुष्पों की गन्ध का कार्य करनेवाला।

पाक्षिकः (६।४।३१)—पक्षी पकड़ने अर्थात् व्याध का कार्य करनेवाला।

मायूरिकः (६।४।३१)—मयूर पकड़नेवाला।

तैत्तिरिकः (६।४।३१)—तित्तिर पकड़कर बेचनेवाला।

बादरिकः (६।४।३)—बदराण्युञ्छति वर्चिनोति—बेर आदि फल चुनकर बेचनेवाला।

नैवारिकः (६।४।३)—निवार—जंगली धान को चुनकर आजीविका सम्पादन करनेवाला।

श्यामाकिकः (६।४।३)—श्यामा नामक धान को चुनकर करनेवाला

कम्बलकारकः (७।३।१८१)—कम्बल वस्त्र बुनकर आजीविका सम्पन्न करनेवाले।

चर्मकार (७।१।७५) चमार—चमड़े की वस्तुएँ बनाकर आजीविका सम्पन्न करनेवाला।

कर्मार—(६।३।१९७)—लोहार औजार बनानेवाला।

नर्तक: (५।१।६५)—नाचने का पेशा करनेवाले।

गायक: (५।१।६६)—गाने का पेशा करनेवाले।

भारवाह (५।१।७२)—बोझा ढोने का कार्य करनेवाले।

चित्रकर (५।११ १)—चित्रकारी का पेशा करनेवाले।

धनुष्कर (५।११ २)—धनुष बनाने का कार्य करनेवाले।

ऋत्विज (५।१।६२)—यज्ञ आदि का पेशा या पौरोहित्य कार्य करनेवाले।

स्वर्णकार (६।३।६२)—सुनार इन्हें पश्यतोहर कहा है।

वैद्य (६।२।१२१)—आयुर्वेद-चिकित्सा का पेशा करनेवाला।

ज्योतिषी (६।३।१९९)—ज्योतिष विद्या का पेशा करनेवाले।

कर्मकर (५।११ १)—मजदूर—शारीरिक श्रम करनेवाले। इसी को कर्मकरी कहा गया है।

तक्षायस्कार (३।१।११६)—बढ़ई यह रथों के पहियों पर लोहा चढ़ाने का कार्य करता था।

वेतनजीवी—

नियत काल के लिये नियत वेतन पर किसी व्यक्ति को काम के लिये स्वीकृत करना परिक्रयण कहलाता था। 'परिक्रियते नियतकालं स्वीक्रियते येन तत् परिक्रयणं वेतनादि' (६।२।६७) जो व्यक्ति इस प्रकार परिक्रीत होता था वह अपने परिक्रेता—मालिक से वेतन प्राप्त करने पर स्वीकृति देता था। इसी कारण भाषा में 'शताय परिक्रीतः, शतादिना नियतकाल स्वीकृतम्' (२।२।६) प्रयोगों से स्पष्ट है कि एक सौ या एक सहस्र कार्षापण मुद्रा पर तुम्हें काम पर नियत कर लिया गया स्वीकार करो। भृति या मजदूरी पर लगाये गए मजदूर का नाम उसकी मजदूरी या उसके कार्यकाल से रखा जाता था। मजदूर मासिक और दैनिक दोनों ही प्रकार की मजदूरी पानेवाले होते थे।

भाक्त (६।३।७१)—भक्तमस्मै नियुक्तं दीयते भाक्तम्—रोजाना भोजन पर रहने वाला मजदूर।

औदनिक (६।३।७२)—ओदनमस्मै नियुक्तं दीयते औदनिकः—भात के भोजन पर रहनेवाला मजदूर।

आग्रभोजनिक (६।३।०)—अग्रभोजन अस्मै नियुक्तं दीयते आग्रभोजनिक—सबसे पहले भोजन जिसको कराया जाय इसी भोजन पर जो कार्य करे वह श्रमिक आग्रभोजनिक कहलाता था। तथ्य यह है कि इस प्रकार

ये व्यक्ति मजदूर नहीं होते थे बल्कि सम्मानित सहयोगी रहते थे। इन्हें सहयोग और सहकारिता के आधार पर श्रम में सहयोग देना पड़ता था।

आपूपिक (६।४।७)—पुओं के भोजन पर काम करनेवाला सहयोगीश्रमिक।

शाष्कुलिक—(६।४।७)—शष्कुली के भोजन पर काम करनेवाला मजदूर।

मासिक (६।४।७१)—मासो नियुक्तमस्मै दीयते—मांस जिस मजदूर को दिया जाता हो वह मासिक कहलाता था।

इन मजदूरों के अतिरिक्त बड़े-बड़े वेतन पाने वाले कर्मचारियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं—

१ शौल्कशालिकः (६।४।७४)—शुल्कशालायां नियुक्तः—चुंगी घर का अधिकारी।

२ आपणिकः (६।४।७४)—दुकान पर माल बेचनेवाला या हिसाब किताब के लिये नियुक्त मुनीम।

३ दौवारिकः (६।४।७४)—द्वारपाल।

४ आक्षपटलिकः (६।४।७४)—द्यूतगृह का अधिकारी।

५ देवागारिकः (६।४।७५)—देव मन्दिर का अधिकारी।

६ भाण्डागारिकः (६।४।७५)—भाण्डार का अधिकारी—खजांची।

७ आयुधागारिक (६।४।७५)—शस्त्रशाला का अधिकारी।

८ कोष्ठागारिक (६।४।७५)—कोठारी।

९ आतरिकः (६।४।७४)—पारकर वसूल करने का अधिकारी।

पारिपार्श्विक (६।४।९९)—परिपार्श्व वर्तते पारिपार्श्विकः—आरक्षक।

पारिमुखिकः (६।४।९९)—सेवक।

लालाटिक (६।४।३५)—यः सेवको दृष्ट्वा स्वामिनो ललाटमिति दूरतो याति न स्वामिकार्येषूपतिष्ठते स एवमुच्यते। ललाटमेव वा कोप प्रसादलक्षणाय यः पश्यति स लालाटिकः। अर्थात् जो सेवक स्वामी के काम में तत्पर नहीं रहता है स्वामी को आते हुये देखकर उपस्थित हो जाता है अथवा जो स्वामी की प्रसन्नता और क्रोध को अवगत करने के लिये उसके ललाट की ओर देखता रहता है वह लालाटिक कहलाता है। यह सेवक का एक भेद है कोई स्वतन्त्र प्रकार नहीं है।

भाटक—

उक्त साधनों के अतिरिक्त आमदनी का एक साधन भाड़ा भी था। भाड़े पर घोड़ा गाड़ी रथ आदि सवारियों के अतिरिक्त दुकान और मकान भी दिये जाते थे। आचार्य हेम ने बताया है—भोगयितॄणां भाटकमिति यावत् (६।४।५२)। नौका के भाड़े को आतरिक और दुकान के भाड़े को आपणिक कहा है।

संघ राज्य थे जिनमें शासन की अनेक श्रेणियाँ प्रचलित थीं। कुछ व्रात श्रेणी के संघ थे जिनमें सभा, परिषद् सभामुख्य वर्ग अंक लक्षण आदि संघशासन की प्रमुख विशेषताएँ वर्तमान थीं। ऊपर के दोनों संघ इस प्रकार के हैं जो आयुधों द्वारा लूट-मार करके आत्मनिर्वाह करनेवाले कबीलों के रूप में थे। ये अपना एक मुखिया चुनकर किसी प्रकार संघ शासन चलाते थे। व्रात और पूग इसी प्रकार के संघ थे। पूग संघ की आजीविका निश्चित नहीं थी पर इतना सत्य है कि ये लूटमार की अवस्था से ऊपर उठकर अर्थोपार्जन के लिये अन्य साधनों को काम में लाते थे। इनका संघ अर्थोपजीवी तो था ही पर इनका शासन कुछ व्यवस्थित था। ७।३।६ सूत्र में 'लोहध्वजाः पूगाः' में लोहध्वज पूगों का निर्देश किया है।

व्रात उन उद्धत जातियों की संज्ञा थी जिनका आर्यों के साथ संघर्ष हुआ था और जो शारीरिक श्रम द्वारा या बल से अपनी आजीविका का उपार्जन करते थे। ये वर्णाश्रम धर्म बाह्य जातियाँ थीं। पूग ग्रामणी—ग्राम मुखिया कहलाते थे उसी प्रकार व्रातों में भी ग्रामणी थे। शस्त्रजीवी संघों में पर्शव, दामन यौधेय आदि भी परिगणित थे। हेम ने 'पर्शोरपत्य बहवो माणवकाः पर्शवः शस्त्रजीविसंघः (७।३।६६); दामनस्यापत्य बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघः दामनीयः (७।३।६७); युधाया अपत्य बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसंघः यौधेयः (७।३।६५); शबराः शस्त्रजीविसंघः, कुन्तेरपत्य बहवो माणवकाः कुन्तयः शस्त्रजीविसंघः कौन्त्यः (७।२।६२); मल्लाः मघः मल्लः (७।२।६२); कुण्डीविशाः शस्त्रजीविसंघः कौण्डीविश्यः (७।२।६२); आदि संघों का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि संघशासन यहाँ-वहाँ प्रचलित था।

दामन्यादि गणों में जिन प्रकार आयुधजीवी संघों का निर्देश हेम ने किया है।

(१) दामन्यादि (।३।६)—दामनि औलपि काकदन्ति अच्युतन्ति शत्रुन्तपि, सार्वसेनि बैन्दवि, मौञ्जायन तुलभ सावित्रीपुत्र, बैजवापि, औदकि।

(२) पार्श्वादि (७।३।६६)—पर्शु, असुर बाह्लीक वयस् मरुत्, दशार्ह पिशाच अशनि कार्षापण, सत्वत् वसु।

(३) यौधेयादि (७।३।६५)—यौधेय शौभ्रेय शाक्रेय ज्यावाणेय धार्तेय वार्तेय त्रिगर्त भरत उशीनर।

इस प्रकार इन तीनों गणों में कुल ३३ संघों का उल्लेख है।

संघ के प्रत्येक राजा या कुल के प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या

प्रभुसत्ता में समान अधिकार प्राप्त था। गण के अन्तर्गत राजाओं के जितने कुल या परिवार होते थे उनके क्षत्रिय अपत्यों के लिए राजन्य यह पारिभाषिक संज्ञा (राज्ञोऽपत्ये राजन्य: क्षत्रिय जातिश्चेत् राजनोऽन्य—६।१।१४१) प्रचलित थी। हेम ने उक्त शब्द की साधनिका के लिए 'जातौ राज्ञः' ६।१।९२ यह सूत्र पृथक् लिखा है। वस्तुतः यह शब्द अभिषिक्त क्षत्रिय के लिए ही प्रयुक्त होता था।

शासन तन्त्र का संचालन युक्त या आयुक्त, नियुक्त और परिषद् आदि के द्वारा होता था। राजकीय कार्य का निर्वाह करनेवाले आयुक्त कहलाते थे। दायित्वपूर्ण कार्य के लिए नियुक्त किये गये व्यक्ति नियुक्त कहे जाते थे (६।३।७४)। आचार्य हेम ने—'नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारित' ६।३।७४ द्वारा नियुक्त अधिकारियों के स्वरूप की ओर संकेत किया है। इन्होंने शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः, आक्षपटलिक एवं आयुधागारिक जैसे उच्चकोटि के अधिकारियों का निर्देश किया है।

राजा के निजी कर्मचारी या परिपार्श्वक भी नियुक्त कोटि के अधिकारियों में गिने जाते थे (६।४।२९)।

राजशासन में दूत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद में दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उसकी संज्ञा प्रसिद्ध होती थी (७।१।१६)। समाचार ले जानेवालों का भी निर्देश है (७।१।१६८)। हेम ने आक्रन्द नाम के दूत का (६।३।७) भी उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार पृष्ठभाग में रहनेवाला मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था और उस राजा के पास दूत भेजने को आक्रन्दिक कहते थे।

राज्य की आमदनी के साधन—

१ आय—ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग: आय:। भूमिकर (६।४।१५८)

२ शुल्क—वणिजां रक्षानिर्वेशो राजभाग: शुल्कम् (६।४।१५८)—चुङ्गी से आमदनी—शुल्क।

३ आतर (६।३।७४)—घाटाकर।

४ आपण (६।३। ७)—दूकानों से वसूल किया जानेवाला कर।

५ आक्षपटल (६।३।७४)—द्यूत स्थानों से वसूल किया जानेवाला कर।

इसके अतिरिक्त उत्कोच और कक्ष का भी उल्लेख पाया जाता है। उपदा उत्कोच। कक्ष उत्कोट इति यावत् (६।४।१५८)। घूँस लेने को उपदा कहा है और भेंट में प्राप्त होनेवाली वस्तुओं को कक्ष कहा है। राजकर्मचारी घूँस लेते थे तथा राजा को अनेक प्रकार की वस्तुएँ नजराने में प्राप्त होती थीं।

अन्य विशेषतायें—

सांस्कृतिक विशेषताओं के अतिरिक्त हैम व्याकरण में नाना वैज्ञानिक विशेषतायें भी विद्यमान हैं। इन विशेषताओं के सम्बन्ध में दूसरे अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ व्युत्पत्ति और अर्थ सम्बन्धी दो-एक विशेषता पर विचार कर ही इस प्रकरण को समाप्त किया जायगा।

१ इन्द्रियम् (७।१।१७४)— इन्द्र आत्मा इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् चक्षुरादिरुच्यते। इन्द्रेण दृष्टमिन्द्रियम्। आत्मा हि चक्षुरादीनि दृष्ट्वा स्वविषये नियुङ्क्ते। इन्द्रेण सृष्टमिन्द्रियम्। आत्मकृतेन हि शुभाशुभेन कर्मणा तथा-विधविषयोपभोगायास्य चक्षुरादीनि भवन्ति। इन्द्रेण जुष्टमिन्द्रियम्, तद् द्वारेणास्य विज्ञानोत्पादनात्। इन्द्रेण दत्तमिन्द्रियम्—विषयग्रहणाय विषयेभ्यः समर्पणात्। इन्द्रस्यावरणक्षयोपशमसाधनमिन्द्रियम्"। अर्थात्—इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। आत्मा यद्यपि ज्ञानस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के रहने से स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है अतः पदार्थों को जानने में जो लिङ्ग—निमित्त चक्षुरादि हैं उनको इन्द्रिय कहते हैं। आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा विषय को जानकर पदार्थों के ग्रहण या त्याग में प्रवृत्त होती है। इन्द्र—नाम कर्म के द्वारा निर्मित होने से इन्द्रियों को इन्द्र के नाम पर इन्द्रिय कहा जाता है। आत्मा के द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म से विषय ग्रहण करने में समर्थ चक्षुरादि इन्द्रियाँ होती हैं। आत्मा के द्वारा सेवित इन्द्रियाँ हैं क्योंकि आत्मा को इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों का ज्ञान होता है। विषय ग्रहण करने के लिए नामकर्म द्वारा इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। इन्द्र शब्द का अर्थ आवरण—कर्मावरण का क्षयोपशम इस क्षयोपशम जन्य ज्ञान को ग्रहण करनेवाले साधन इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

२ काकतालीयम् (७।१।११७)—'यथा कथञ्चिद् व्रजतः काकस्य निपतता तालेनातर्कितोपनतमिलितमाणः संयोगो काकतालयोरुच्यते तत्तुल्यं काकतालीयम्। अर्थात् कौआ किसी प्रकार उड़ता हुआ चला जा रहा है, इसी समय अकस्मात् ताल फल ताड़-वृक्ष से गिरता है संयोगवश उस फल का कौए से संयोग हो जाता है। इसी अकस्मात् सम्पन्न हुए संयोग का नाम 'काकतालीय' न्याय है।

३ अन्धकवर्तिकम् (७।१।११७)—'अन्धकस्य वर्तिकया उपरि अतर्कित पादन्यास उच्यते। अन्धकस्य बाहूत्क्षेपे वर्तिकया करे निक्षपनं वा तत्तुल्यम् अन्धकवर्तिकीयम् अर्थात्—अन्धे व्यक्ति का बटेर के ऊपर अचानक पैर पड़ जाने को अन्धकवर्तिकम् कहा जाता है। अथवा अन्धे व्यक्ति के हाथ में उछलते समय अचानक बटेर का आना तो यह भी अन्धक-वर्तिक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि हैम ने अन्धकवर्तिक न्याय की

व्युत्पत्ति दो प्रकार से प्रस्तुत की है। प्रथम—अन्धे के पैर के नीचे बटेर का आना और दूसरी व्युत्पत्ति में अन्धे के हाथ में बटेर का आना। दोनों ही व्युत्पत्तियों के अनुसार अचानक किसी वस्तु की प्राप्ति होने को अन्धकवर्तिकन्याय कहा जायगा।

४ अजाकृपाणीयम् (७।१।११७) 'अजया पादेनावकिरन्त्यास्मघाय कृपाणस्य दर्शनमजाकृपाणम्—तत्तुल्यमजाकृपाणीयम्' अर्थात् बकरी आनन्दविभोर होकर पैरों से मिट्टी कुरेदती है, इस मिट्टी कुरेदने के समय उसे मारने के लिए उठा खड्ग दिखलायी पड़े तो उस समय उस बेचारी बकरी का खून जम जाता है इसी प्रकार आनन्द के समय कोई अनिष्टपूर्ण घटना दिखलायी दे तो इसे अजाकृपाणीय न्याय कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि रंग में भंग होना ही अजाकृपाणीय है।

५ असूया—परगुणासहनमसूया (७।३।८९)—दूसरे के गुणों को सहन न करना—दूसरे के गुणों में दोष निकालना असूया—ईर्ष्या है।

६ सम्मति—कार्येष्वाभिमतस्य सम्मतिः पूजनं वा (७।३।८९)—कार्यों में अपना अभिप्राय करना सम्मति है। अथवा कार्यों का आदर करना सम्मति है। आचार्य हेम के मत से किसी के कार्यों पर अपना भला या बुरा विचार प्रकट करना अथवा किसी के कार्यों का समर्थन करना या आदर देना सम्मति है।

७ प्रत्यासत्ति (७।३।७९)—'सामीप्यं देशकृता कालकृता वा प्रत्यासत्तिः' अर्थात् देशापेक्षया या कालापेक्षया समीपता को प्रत्यासत्ति कहते हैं। किसी वस्तु की निकटता दो प्रकार से होती है—(१) देश की अपेक्षा और (२) काल की अपेक्षा।

८ अस्तिमान् (७।२।१)—अस्ति धनमस्य अस्तिमान्—जिसको धन हो—धनिक को अस्तिमान् कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट है कि धन अस्तित्व का कारण होने से धनिक को अस्तिमान् कहा है।

९ स्वस्तिमान् (।२।१)—स्वस्ति आरोग्यमस्यास्ति स्वस्तिमान्। अत्रास्तिस्वस्ती अव्ययौ धनारोग्यवचनौ। जिसे आरोग्य—स्वास्थ्य हो, उसे स्वस्तिमान् कहते हैं। अस्ति और स्वस्ति अव्यय को धन और आरोग्य का वाचक माना गया है।

१ अविच्छेद (७।४।७५)—सातत्य क्रियान्तरैरव्यवधानमविच्छेदः। किसी कार्य के निरन्तर होने में बीच में किसी रुकावट का न आना। अर्थात् निरन्तर का नाम अविच्छेद है।

११ आशंसा (५।३।१२)—'आशास्यस्य अनागतस्य प्रियस्यार्थस्याशंसनं प्राप्तुमिच्छा आशंसा'। अर्थात् अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा आशंसा है।

१२ साधु (१ ड)—सम्यग्दर्शनादिभिः परमपदं साधयतीति साधुः, उत्तमक्षमादिभिः तपोविशेषैर्भावितात्मा साध्नोति साधुः, उभयलोकफलं साधयतीति साधुः। अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा जो परमपद की साधना करता है, वह साधु है। उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव आदि दस धर्म एवं अनशन ऊनोदर आदि तपों के द्वारा आत्मा की भावना की साधना करता है वह साधु है। दोनों लोकों के फल की साधना करनेवाला साधु है।

१३ कौपीन (६।३।१४५)—कूपप्रवेशनमर्हतीति कौपीनं—जिसको पहनकर कुँए आदि में सरलतापूर्वक प्रवेश किया जाय वह कौपीन है। वस्तुतः इसे संन्यासी धारण करते थे और वे इसे पहनकर जलाशय में स्नान किया करते थे इसी कारण अर्थविस्तार बतलाने के लिए कौपीन की यह व्युत्पत्ति प्रस्तुत की गयी है।

१४ छत्री (७७५ प)—छादयतीति छत्रम् छत्री वा धर्मवारणम्—जो आच्छादित करे और धूप से रक्षा करे उसे छत्र या छत्री कहते हैं।

१५ धेनुष्या (७।१।११)—धेनुष्या या गोमता गोपालकायाधमर्णेन योत्तमर्णाय वा ऋणप्रदानाद्दोहनार्थं धेनुर्दीयते सा धेनुरेव धेनुष्या। अर्थात् कर्जदार महाजन को इस शर्त पर कि जब तक कर्ज चुक नहीं जाता, तब तक इस गाय का दूध दुहो अर्थात् दूध दुहकर ऋण वसूल करो और जब ऋण चुक जाय तो गाय वापस कर देना धेनुष्या है। यह एक कर्ज चुकाने का पारिभाषिक शब्द है।

'स मे मुष्टिमध्ये तिष्ठति' मुहावरा—वह मेरी मुट्ठी में है 'यो यस्य द्वेष्य' स तस्याक्ष्णो प्रतिवसति'—जो जिसका शत्रु होता है वह उसकी आँखों में निवास करता है। यो यस्य प्रिय' स तस्य हृदये वसति, जो जिसका प्रिय होता है, वह उसके हृदय में निवास करता है।

इस प्रकार हेम ने शब्द व्युत्पत्तियाँ, मुहावरे तथा अनेक देशी परिभाषाएँ (सातवें अध्याय के चतुर्थपाद के अन्त में) निर्दिष्ट की हैं जिनसे भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ता है।

आभार—

इस प्रबन्ध के लिखने में आदरणीय डॉ॰ हीरालालजी जैन अध्यक्ष प्राकृत, पालि एवं संस्कृत विभाग जबलपुर से सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः उनके प्रति अपनी पूर्ण श्रद्धा-भक्ति प्रकट करता हूँ। आदरणीय पूज्य पं॰ सुखलालजी संघवी ने इसे आद्योपान्त पढ़ने की कृपा की इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। श्रद्धेय भाई लक्ष्मीचन्द्रजी जैन मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी को भी नहीं भूल सकता हूँ। अन्त में चौखम्बा संस्कृत सीरीज एवं चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी के व्यवस्थापक बन्धुद्वय मोहनदासजी गुप्त एवं विट्ठलदासजी गुप्त के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनके अदम्य सहयोग से यह रचना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो रही है। सहयोगियों में प्रिय भाई श्री राजारामजी जैन का भी इस सन्दर्भ में स्मरण कर लेना आवश्यक है। उनसे प्रूफ संशोधन में सहयोग मिलता रहा है। पूज्य मुनिश्री कृष्णचन्द्राचार्य वाराणसी का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने हस्तसिद्धहेमशब्दानुशासन की लिखी प्रति को उपयोग करने का अवसर प्रदान किया। श्री पं॰ रुद्रमणिजी त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य व्याकरणाध्यापक राजकीय संस्कृत विद्यालय आरा का भी हार्दिक आभारी हूँ, जिनसे पाणिनितन्त्र के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों की जानकारी उपलब्ध हुई।

प्रस्तावना अंश कुछ बढ़ गया है। इसका कारण यह है कि हैम व्याकरण के सामाजिक और सांस्कृतिक विश्लेषण पर एक अध्याय पृथक् लिखना था, किन्तु समयाभाव से वह अध्याय प्रूफ प्रति लिखने के समय लिखा नहीं जा सका। अतः उक्त विषय का समावेश प्रस्तावना में करना पड़ा है।

ह॰ दा॰ जैन कालेज आरा
(मगध विश्वविद्यालय)
२५-८-६३

नेमिचन्द्र शास्त्री

आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन

(हैमप्रकाश में व्याकरणशास्त्र का तुलनात्मक विवेचन)

ही रहेगा। अतः हमने धातुपारायण की विशेषताओं को बतलाकर लिङ्गानुशासन का सर्वाङ्गीण अध्ययन उपस्थित किया है। शब्दों के संकलन क्रम की हमारी विवेचना बिल्कुल नयी है। यह सत्य है कि हेम के लिङ्गपाठ पाणिनि की अपेक्षा मौलिक हैं। गणपाठ, धातुपाठ एवं लिङ्गानुशासन आकृति और प्रकृति दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

चतुर्थ अध्याय में पाणिनीय तथा हैम शब्दानुशासन का तुलनात्मक और आलोचनात्मक संक्षिप्त और सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किया है। यह समस्त अध्याय बिल्कुल मौलिक और नवीन गवेषणाओं से युक्त है। आज तक हैम पर इस प्रकार का अध्ययन किसी ने भी उपस्थित नहीं किया है। हमने अपने अध्ययन के आधार पर हेम और पाणिनि को निम्न दृष्टिकोणों से तोलने की चेष्टा की है।

१—पाणिनि और हेम की ग्रन्थन-शैली में मौलिक अन्तर है। पाणिनीय व्याकरण में एक विषयक सूत्र भी कहीं-कहीं अत्यन्त व्यवहित हो गये हैं पर हेम में ऐसी बात नहीं है। अतः ग्रन्थन शैली के आधार पर दोनों शब्दानुशासनों की प्रकरण क्रमानुसार तुलना।

२—पाणिनि ने अनेक संज्ञाओं की चर्चा की है, पर हेम ने संज्ञाओं की विस्तृतता और गुरुता के बिना ही प्रक्रिया निर्वाह कर लिया है। अतएव संज्ञाओं की दृष्टि से दोनों वैयाकरणों की तुलना।

३—हेम का आविर्भाव उस समय हुआ जब पाणिनीय व्याकरण का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हो चुका था इतना ही नहीं बल्कि उसके आधार पर कात्यायन तथा पतञ्जलि जैसे विशिष्ट वैयाकरणों ने सैद्धान्तिक गवेषणाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। इस प्रकार हेम के सामने पाणिनि की अनुपलब्धियाँ और अभावपूर्तियाँ भी वर्तमान थीं। फलतः हेम ने उन सारी सामग्रियों का उपयोग कर अपने शब्दानुशासन को सर्वाङ्गीण एवं समयानुकूल बनाया। अतः पाणिनि और हेम की अनुशासन सम्बन्धी उपलब्धियों, अनुपलब्धियों और अभावों के आधार पर तुलना।

४—हेम ने पाणिनि की प्रत्याहार पद्धति को स्थान न देकर वर्णमाला क्रम से ही प्रक्रिया का निर्वाह किया है। अतः उक्त दोनों आचार्यों की प्रक्रिया पद्धति में तुलना।

५—पाणिनि ने लौकिक शब्दों का अनुशासन करते समय प्रत्ययों आदेशों तथा आगम आदि में जो अनुबन्ध लगाये हैं, उनका सम्बन्ध वैदिक स्वर प्रक्रिया के साथ भी सुव्यवस्थित रखा है, जिसके कारण लौकिक संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनुशासन को समझने में कुछ क्लेश आ जाता है, किन्तु हेम ने उन्हीं अनुबन्धों को ग्रहीत किया है, जिनका प्रयोजन तत्काल सिद्ध होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाणिनीय तन्त्र में भले ही साथ ही साथ वैदिक भाषा का भी अनुशासन होता

गया है, परन्तु श्रेष्ठ संस्कृत का सुबोध अनुशासन हेम के द्वारा ही हुआ है। अतएव दोनों की उक्त प्रक्रिया पद्धति के अनुसार तुलना।

६—हेम के पहले काल-विवेचन सम्बन्धी विभिन्न व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं, कुछ नयी और कुछ पुरानी भी, जिनमें बहुतों का हेम ने अनुकरण तथा अनुसरण किया है किन्तु इन्होंने यह सदा ध्यान रखा है कि सरल एवं समतानुसारिणी व्यवस्था ही लाभप्रद हो सकती है, अतः यह इसीका परिणाम है कि हेम ने अति प्रचलित लकारीय व्यवस्था को त्याग कर वर्तमाना अद्यतनी, श्वस्तनी, आदि संज्ञाओं द्वारा ही समुचित व्यवस्था कर ली है। अतएव पाणिनि और हेम के धातुरूप धातु प्रक्रिया और कालव्यवस्था पर तुलनात्मक चिन्तन।

७—हेम ने पाणिनि का सर्वथा अनुकरण न कर सूत्रों के नये-नये उदाहरण दिये हैं, जो भाषा के व्यावहारिक क्षेत्र में इनको मौलिक देन कहे जायेंगे। अतः सूत्रों और रूपों की दृष्टि से दोनों की तुलना।

८—सरलता संक्षिप्तता और वैज्ञानिकता की दृष्टि से दोनों का तुलनात्मक विवेचन।

पञ्चम अध्याय में पाणिनीतर प्रमुख वैयाकरणों के साथ और षष्ठ अध्याय में जैन वैयाकरणों के साथ हेम की तुलना की गयी है। इस तुलना में साम्य और वैषम्य दोनों पर प्रकाश डाला है। संज्ञा, सन्धि नाम आख्यात, स्त्री-प्रत्यय कृत्प्रत्यय और तद्धित प्रत्ययों को लेकर तुलनात्मक विवेचन करने का आयास किया गया है। एक प्रकार से यह संस्कृत व्याकरण शास्त्र का तुलनात्मक इतिहास है। हैम के साथ-साथ अन्य शब्दानुशासनों का विवेचन भी यथास्थान होता चला है।

हम यह जोरदार शब्दों में कह सकते हैं कि हैम शब्दानुशासन की तो बात ही क्या समस्त व्याकरण शास्त्र में अद्यावधि तुलनात्मक विवेचन परीक्षण और अध्ययन नहीं के बराबर हुआ है। इस दिशा में हमारा यह प्रथम प्रयास है और बहुत कुछ अंशों में नवीन और मौलिक सामग्री से समलंकृत है।

सप्तम अध्याय में प्राकृत शब्दानुशासन का एक अध्ययन किया है। हेम का आठवाँ अध्याय प्राकृत शब्दानुशासन करने वाला है। इस अध्याय के चार पाद हैं। प्रथम पाद में स्वर और असंयुक्त व्यञ्जनों का विकार द्वितीय में संयुक्त व्यञ्जनों का विकार कारक प्रकरण तद्धित प्रत्यय तृतीय पाद में शब्दरूप धातुरूप कृत् प्रत्यय और चतुर्थ पाद में धात्वादेश शौरसेनी मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची एवं अपभ्रंश भाषा का अनुशासन वर्णित है। हमने अपने अध्ययन में विकार विधायक सिद्धान्तों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। दो-चार स्थलों पर आलोचना और तुलना भी की गयी है।

आठवें अध्याय में प्राकृत वैयाकरणों के साथ हेम की तुलनात्मक समीक्षा उपस्थित की गयी है। प्राकृत वैयाकरणों में सबसे पुराने वैयाकरण वररुचि हैं; इनका हेम के ऊपर कितना और कैसा प्रभाव है, इसकी सम्यक् विवेचना की है। हमारा जहाँ तक ख्याल है, हेम प्राकृत वैयाकरण में निम्न बातों में विशिष्ट हैं।

१—आर्ष और प्राकृत अर्थात् पुरानी और नयी दोनों ही प्राकृत भाषाओं का एक ही साथ अनुशासन किया है। इस क्षेत्र में हेम अद्वितीय हैं।

२—वर्ण विकारों के सिद्धान्त निरूपण में सरलता, वैज्ञानिकता और सामान्य का पूरा ध्यान रखा गया है संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम की प्रणयन शैली समस्त प्राकृत वैयाकरणों से श्रेष्ठ है।

३—एक ही व्याकरण में हेम जैसा पूर्ण अनुशासन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होगा। इन्होंने जिस विषय को उठाया है, उसका अनुशासन सभी दृष्टिकोणों से पूर्णरूपेण उपस्थित किया है। इस एक व्याकरण के अध्ययन के उपरान्त अन्य व्याकरणों की जानकारी की अपेक्षा नहीं रहती है। अतः सार रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हेम प्राकृत शब्दानुशासन के सम्यक् अध्ययन से समस्त प्राकृत भाषाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इतना विस्तृत और गम्भीर ज्ञान अन्य किसी एक व्याकरण से नहीं हो सकता है।

४—भाषादेश और अपभ्रंश भाषा का सर्वांगपूर्ण अनुशासन हेम व्याकरण के अतिरिक्त अन्य किसी प्राकृत व्याकरण में नहीं है।

५—हेम ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन व्यवस्थित और वैज्ञानिक पद्धति में उपस्थित किया है।

६—विषय-विवेचन के क्षेत्र में हेम सभी पूर्वकालीन और उत्तरकालीन वैयाकरणों से आगे हैं।

नवम अध्याय में आधुनिक भाषा विज्ञान के क्षेत्र में हेम सिद्धान्त कितने उपयोगी हैं और भाषा विज्ञान के कितने सिद्धान्त हेम में कहाँ-कहाँ पर उपलब्ध हैं, इस पर विचार किया गया है। यह सत्य है कि हेम ऐसे शब्दशास्त्री हैं जिनमें आधुनिक भाषाविज्ञान के अधिकांश सिद्धान्त उपलब्ध हैं।

वाक्य-विचार रूपविचार सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व का विश्लेषण ध्वनि अध्ययन, ध्वनि परिवर्तन के कतिपय कारण और उसकी दिशाएँ—आदिस्वरलोप मध्यस्वरलोप अन्त्यस्वरलोप आदिव्यञ्जनलोप मध्यव्यञ्जनलोप, अन्त्यव्यंजन लोप आदिस्वरागम मध्यस्वरागम अन्त्यस्वरागम समस्वरागम, आदि व्यञ्जनागम मध्यव्यञ्जनागम अन्त्यव्यञ्जनागम स्वर और व्यंजन विपर्यय,

विषमीकरण, सन्धि, गुण, वृद्धि, उष्मीकरण, अनुनासिकता, घोषीकरण, अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, अभिश्रुति और अपिश्रुति आदि सम्यक् प्रकार से निरूपित हैं।

यों तो सभी व्याकरणों में भाषाविज्ञान के कुछ न कुछ सिद्धान्त अवश्य मिलते हैं, पर हेम में उक्त विज्ञान के सिद्धान्त प्रचुरता और स्पष्टता के साथ उपलब्ध हैं। संस्कृत और प्राकृत वैयाकरणों में स्वरभक्ति, समीकरण और विषमीकरण का मौलिकता, स्पष्टता और दृढ़ता के साथ विवेचन करनेवाले हेम ही हैं।

आधुनिक आर्यभाषाओं की प्रमुख प्रवृत्तियों का अस्तित्व भी हेम में वर्तमान है। अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के वैयाकरणों में सर्वाङ्गपूर्णता, वैज्ञानिकता और सरलता की दृष्टि से आचार्य हेम का अद्वितीय स्थान है। इनकी उद्भावनाएँ नवीन और तर्कसम्मत हैं।

प्रथम अध्याय

जीवन परिचय

बारहवीं शताब्दी में गुजरात के सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास की विधायक कड़ी आचार्य हेमचन्द्र युगान्तरकारी और युगसंस्थापक व्यक्तित्व को लेकर अवतीर्ण हुए थे। इनकी अप्रतिम प्रतिभा का रस पा गुजरात की उर्वर धरती में उत्पन्न साहित्य और कला की नव मल्लिकाएँ अपने कुसुम सुमनों के मधुर सौरभ से समस्त दिग्दिगन्त को मत्त बनाने का उपक्रम करने लगीं। पाटलिपुत्र कान्यकुब्ज, वलभी उज्जयिनी काशी प्रभृति समृद्धिशाली नगरों की उदात्त स्वर्णिम परम्परा में अणहिलपुर ने भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने का आयास किया। शासकों की कलाप्रियता ने सोमनाथ माउण्ट-आबू, पाटण टेकरी अचलेश्वर, सिद्धपुर, शत्रुञ्जय प्रभृति स्थानों में नयनाभिराम स्थापत्यों का निर्माण कराया। ये देवमन्दिर केवल धर्मायतन ही नहीं थे अपितु कलाकेन्द्र भी थे। अभिनय संगीत चित्र आदि ललित कलाओं की उपलब्धि इन स्थानों पर होती थी। यहाँ केवल संगमर्मर पर मोहक चित्रकारी ही पुष्पोपहार लेकर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने को प्रस्तुत नहीं थी किन्तु साहित्य की अमर कृतियाँ भी मानव मस्तिष्क की ज्ञानतन्त्रियों को झंकृत कर अमृतरस के आस्वाद द्वारा मदमत्त करने के सुलभ और सुकुमार व्यापार में संलग्न थीं। ये रचनाएँ जितनी ही मादक हैं उतनी ही मनोहर। सँवारे हुए देवमन्दिरों की भाँति वेदिका पर स्थित प्रतिमा की भाँति उद्यान में लहलहाती मालती लता की भाँति एवं मदन-नन्दन-द्रुम की सुकुमार शाखाओं के विकसित किसलय की भाँति गुजरात आह्लाद सौन्दर्य का विलासोल्लास धर्म का यौवन काल, सर्वविद्याओं का स्वयंवृतपति एवं समस्त ज्ञान का मिलनतीर्थ बन गया। जिस प्रकार प्रदीप के प्रकाश से तिमिराच्छन्न भित्ति हो भासुर प्रकाश का निधान बन जाता है, उसी प्रकार हेमचन्द्र को पाकर गुजरात अज्ञान धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों से मुक्त हो शोभा का समुद्र गुणों का आकर कीर्ति का कैलास एवं धर्म का त्रिवेणी संगम बन गया। शत शत मुखों से मुखरित हो एक साथ यह ध्वनि कर्णकुहरों में मन्द्रित होने लगी कि साहित्य और संस्कृति के लिए अब गुजरात शरत्कालीन मेघ खण्डों में अन्तरित शरत्सूर्य की प्रभा के समान अधिकतर रमणीय रूप प्राप्त करेगा।

जन्मतिथि और जन्मस्थान—

संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के मूर्धन्य प्रणेता, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात के प्रधान नगर अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण-पश्चिम कोण में स्थित 'धुन्धुका' नगर में विक्रम संवत् ११४५ में कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में हुआ था। संस्कृत ग्रन्थों में इसे 'धुंधुक्क नगर' या 'धुन्धुकपुर' भी कहा गया है। यह प्राचीनकाल में ख्यातिपूर्ण एवं समृद्धिशाली नगर था।

माता पिता और उनका धर्म—

हमारे चरितनायक के पिता मोढ़वंशोत्पन्न 'चाच्चिग'[1] नाम के व्यवहारी (सेठ) और माता पाहिणी देवी थी। इनके वंशजों का निकास मोढेरा ग्राम से हुआ था अतः ये मोढवंशी कहलाते थे। आज भी इस वंश के वैश्य 'श्रीमोढ बणिये' कहे जाते हैं। इनकी कुलदेवी 'चामुण्डा' और कुलयक्ष 'गोनस' था, अतः माता-पिता ने देवता-प्रीत्यर्थ उक्त दोनों देवताओं के आद्यन्त अक्षर लेकर बालक का नाम 'चाङ्गदेव' रखा। यही चाङ्गदेव आगे चलकर सूरिपद प्राप्त होने पर हेमचन्द्र कहलाया।

इनकी माता पाहिणी और मामा नेमिनाग जैन धर्मावलम्बी[2] थे किन्तु इनके पिता को मिथ्यात्वी कहा गया है। प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार ये शैव प्रतीत होते हैं क्योंकि उदयन मंत्री द्वारा रुपये दिये जाने पर इन्होंने 'शिवनिर्माल्य' शब्द का व्यवहार किया है और उन रुपयों को शिवनिर्माल्य के समान त्याज्य कहा है। कुलदेवी चामुण्डा का होना भी यह संकेत करता है कि वंशपरम्परा से इनका परिवार शिव-पार्वती का उपासक था। गुजरात में ग्यारहवीं शती में शैव मत का प्राबल्य भी रहा क्योंकि चालुक्यों के समय में गुजरात में गाँव गाँव में सुन्दर शिवालय सुर' मठ थे। सन्ध्या समय उन शिवालयों में होने वाली शंखध्वनि और घण्टानाद से गुजरात का वायुमण्डल शब्दायमान हो जाता था।

पाहिणी का जैन धर्मावलम्बी और चाचिग का शैवधर्मावलम्बी होकर एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं आता है। प्राचीन काल में दक्षिण और गुजरात में एक ही परिवार में जिनमें पत्नी और पति का धर्म भिन्न-भिन्न था।

---

१ देखें प्रभावक चरित का हेमचन्द्रसूरि प्रबन्ध श्लो० ११–१७
एकदा नेमिनागनामा श्रावकः समुत्थाय श्रीदेवचन्द्रसूरीन् व्यज्ञपयत् सदोषी सा पत्नी।
—प्रबन्धकोश पृ ४७

शैशव काल—

शिशु चाङ्गदेव बहुत होनहार था। पालने में ही उसकी भविष्णुता के शुभ लक्षण प्रकट होने लगे थे। एक समय श्रीदेवचन्द्राचार्य अणहिलपत्तन से प्रस्थान कर तीर्थयात्रा के प्रसंग में धुंधुका पहुँचे और वहाँ मोढवंशियों की वसही—जैनमन्दिर में देवदर्शन के लिए पधारे। उस समय शिशु चाङ्गदेव जिसकी आयु आठ वर्ष की थी खेलते-खेलते अपने समवयस्क बालकों के साथ वहाँ आगया और अपने बाल चापल्य स्वभाव से देवचन्द्राचार्य की गद्दी पर बड़ी कुशलता से जा बैठा। उसके अलौकिक शुभ लक्षणों को देखकर आचार्य कहने लगे, यदि यह बालक क्षत्रियोत्पन्न है तो अवश्य सार्वभौम राजा बनेगा। यदि यह वैश्य अथवा विप्रकुलोत्पन्न है तो महामात्य बनेगा और यदि कहीं इसने दीक्षा ग्रहण कर ली तो युगप्रधान के समान अवश्य इस युग में कृतयुग की स्थापना करने वाला होगा। चाङ्गदेव के सहज साहस, शरीर सौष्ठव, प्रतिभा एवं भव्यता ने आचार्य के मन पर गहरा प्रभाव डाला और वे सानुराग उस बालक को प्राप्त करने की अभिलाषा से उस नगर के व्यवहारियों को साथ ले स्वयं चाच्चिग के निवासस्थान पर पधारे। उस समय चाच्चिग व्यापार्थ बाहर गया हुआ था। अतः उसकी अनुपस्थिति में उसकी विवेकवती पत्नी ने समुचित स्वागत-सत्कार द्वारा अतिथियों को सन्तुष्ट किया।

आचार्य देवचन्द्र ने बातचीत के प्रसङ्ग में चाङ्गदेव को प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की। आचार्य द्वारा पुत्र-याचना की बात आकर्णन कर पुत्रगौरव से अपनी आत्मा को गौरवान्वित समझ वह प्रभावती हर्षविभोर हो अश्रुपात करने लगी। पाहिणी देवी ने आचार्य के प्रस्ताव का हृदय से स्वागत किया और वह अपने अधिकार की सीमा का अवलोकन कर लाचारी प्रकट करती हुई बोली — प्रभो! सन्तान पर माता-पिता दोनों का अधिकार होता है। पतिदेव बाहर गये हुए हैं वह मिथ्यादृष्टि भी हैं अतः मैं अकेली इस पुत्र को कैसे आपको दे सकूँगी।

पाहिणी के इस कथन को सुनकर प्रतिष्ठित सेठ-साहूकारों ने कहा—'तुम इसे अपने अधिकार से गुरुजी को दे दो। पतिदेव के आने पर उनसे भी स्वीकृति ले ली जायगी।

पाहिणी ने उपस्थित जनसमुदाय का अनुरोध स्वीकार कर लिया और अपने पुत्ररत्न को आचार्य को सौंप दिया। आचार्य इस योग्य भविष्णु पुत्र को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने बालक से पूछा—'वत्स! तू हमारा शिष्य बनेगा?' चाङ्गदेव—'जी हाँ अवश्य बनूँगा' इस उत्तर से आचार्य

अत्यधिक प्रसन्न हुए। उनके मनमें यह आशंका बनी हुई थी कि चाचिग यात्रा से वापस लौटने पर कहीं इसे छीन न ले। अतः वे उसे अपने साथ ले जाकर कर्णावती पहुँचे और वहाँ उदयन मन्त्री के यहाँ उसे रख दिया। उदयन उस समय जैनसंघ का सबसे बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति था। अतः संरक्षण में चाङ्ग देव को रखकर आचार्य देवचन्द्र निश्चिन्त होना चाहते थे।

चाचिग जब ग्रामान्तर से लौटा तो वह अपने पुत्र सम्बन्धी घटना को सुनकर बहुत दुःखी हुआ और तत्काल ही कर्णावती की ओर चल दिया। पुत्र के अप-हार से वह दुःखी था अतः गुरु देवचन्द्राचार्य की भी पूरी भक्ति न कर सका। ज्ञानराशि आचार्य तत्काल उसके मन की बात समझ गये अतः उसका मोह दूर करने के लिए अमृतमयी वाणी में उपदेश देने लगे। इसी बीच आचार्य ने उदयन मन्त्री को भी अपने पास बुला लिया। मन्त्रिवर ने बड़ी चतुराई के साथ चाचिग से वार्तालाप किया और धर्म के नाते भाई होने के नाते श्रद्धापूर्वक अपने घर ले गया और बड़े सत्कार से उसे भोजन कराया। तदनन्तर उसकी गोद में चाङ्गदेव को विराजमान कर पंचाङ्ग सहित तीन दुशाले और तीन लाख रुपये भेंट किए। कुछ तो गुरु की धर्मदेशना से चाचिग का चित्त द्रवीभूत हो गया था और अब इस सम्मान को पाकर वह स्नेह-विह्वल हो गया और बोला— आप तो तीन लाख रुपये देते हुए उदारता के व्याज में कृपणता प्रकट कर रहे हैं। मेरा पुत्र अमूल्य है परन्तु साथ ही मैं देखता हूँ कि आपकी भक्ति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अमूल्य है अतः इस बालक के मूल्य में अपनी भक्ति ही रहने दीजिए। आपके द्रव्य का तो मैं शिवनिर्माल्य के समान स्पर्श भी नहीं कर सकता।

चाचिग के इस कथन को सुनकर उदयन मन्त्री बोला— आप अपने पुत्र को मुझे सौंपेंगे तो उसका कुछ भी अभ्युदय नहीं हो सकेगा। परन्तु यदि इसे आप पूज्यपाद गुरुवर्य महाराज के चरणारविन्द में समर्पण करेंगे तो वह गुरुपद प्राप्त कर बालेन्दु के समान त्रिभुवन का पूज्य होगा। अतः आप सोचविचार कर उत्तर दीजिए। आप पुत्रहितैषी हैं साथ ही आप में साहित्य और संस्कृति के संरक्षण की भी ममता है। मन्त्री के इन वचनों को सुनकर चाचिग ने कहा—'आपका वचन ही प्रमाण है मैंने अपने पुत्ररत्न को गुरुजी को ही भेंट किया'। देवचन्द्राचार्य इन वचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और धर्मप्रचार की महत्त्वाकांक्षा से कमलवन में अवरुद्ध पद्म की पंखुड़ियों की तरह उनका मुखकमल विकसित हो गया।

इसके पश्चात् उदयन मंत्री के सहयोग से चाचिग ने चाङ्गदेव का दीक्षा महोत्सव सम्पन्न किया। चतुर्विध संघ के समक्ष देवचन्द्राचार्य ने स्तम्भतीर्थ

के पार्श्वनाथ चैत्यालय में विक्रम सं० ११५४ माघ शुक्ला १४ शनिवार को धूमधामपूर्वक दीक्षा संस्कार सम्पादित किया और चाङ्गदेव का दीक्षा नाम सोमचन्द्र रखा।

हेमचन्द्र का शैशवकालीन उक्त इतिवृत्त प्रबन्धचिन्तामणि के आधार पर लिखा गया है। ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य कुमारपालप्रबन्ध, चन्द्रप्रभसूरि विरचित प्रभावकचरित एवं राजशेखरसूरि विरचित प्रबन्धकोष में यह इतिवृत्त कुछ रूपान्तरित मिलता है। प्रभावकचरित में बताया गया है कि पाहिणी ने स्वप्न देखा[1] कि उसने चिन्तामणि रत्न अपने आध्यात्मिक परामर्श दाता को सौंप दिया है। उसने यह स्वप्न साधु देवचन्द्राचार्य के सम्मुख कह सुनाया। देवचन्द्र ने इस स्वप्न का विश्लेषण करते हुए कहा कि उसे एक ऐसा पुत्र रत्न प्राप्त होगा, जो जैन सिद्धान्त का सर्वत्र प्रचार और प्रसार करेगा।

जब चाङ्गदेव पाँच वर्ष का हुआ, तब वह अपनी माता के साथ देवमन्दिर में गया और जब माता पूजा करने लगी तो आचार्य देवचन्द्र की गद्दी पर जाकर बैठ गया। आचार्य ने पाहिणी को स्वप्न की याद दिलायी और उसे आदेश दिया कि वह अपने पुत्र को शिष्य के रूप में उन्हें समर्पित कर दे। पाहिणी ने अपने पति की ओर से कठिनाई उपस्थित होने की बात कही। इस पर देवचन्द्राचार्य मौन हो गए। इस पर पाहिणी ने अनिच्छापूर्वक अपने पुत्र को आचार्य को भेंट कर दिया। तत्पश्चात् देवचन्द्र अपने साथ बालक को स्तम्भतीर्थ ले गए जो आधुनिक समय में खम्भे कहलाता है। यह दीक्षा संस्कार विक्रम सं० ११५० में माघशुक्ला १४ शनिवार को हुआ।

ज्योतिष की दृष्टि से कालगणना करने पर माघ शुक्ला १४ को शनिवार विक्रम सं० ११५४ में पड़ता है, वि० सं० ११५० में नहीं। अतः प्रभावक चरित का उक्त सम्वत् अशुद्ध मालूम पड़ता है।

शैशव काल के सम्बन्ध में एक तीसरी कथा ऐसी उपलब्ध है, जो न तो प्रभावक चरित में मिलती है और न मेरुतुंग की प्रबन्धचिन्तामणि में। इस कथा के लेखक राजशेखर सूरि हैं। इन्होंने अपने प्रबन्धकोष में बताया है कि देवचन्द्र की धर्मोपदेश सभा में नेमिनाग नामक श्रावक ने उठकर कहा कि "भगवन्! यह मेरा भानजा आपकी देशना सुनकर प्रबुद्ध हो दीक्षा माँगता है। जब यह गर्भ में था तब मेरी बहन ने स्वप्न में एक आमका सुन्दर वृक्ष देखा था जो स्थानान्तर में बहुत फलवान् होता हुआ चिरस्थायी पड़ा।" गुरुजी ने कहा "इसके पिता की अनुमति आवश्यक है।" इसके पश्चात् मामा नेमिनाग ने अपनी बहन

---

[1] प्रभावकचरित पृष्ठ २९८ श्लोक १७—४५।

के घर पहुँच कर मानस की प्रत्याचना की चर्चा की। माता-पिता के निषेध करने पर भी चाङ्गदेव ने दीक्षा धारण कर ली।

कुमारपाल प्रबन्ध में लिखा है, कि एक बार पाहिनी ने देवचन्द्र से कहा, कि मैंने स्वप्न में ऐसा देखा है कि मुझे चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ है जो मैंने आपको दे दिया। गुरु जी ने कहा कि इस स्वप्न का यह फल है कि—तेरे एक चिन्तामणि तुल्य पुत्र उत्पन्न होगा, परन्तु गुरु को सौंप देने से वह सूरिराज होगा गृहस्थ नहीं। कालान्तर में जब चाङ्गदेव गुरु के आसन पर जा बैठा, तब उन्होंने कहा देख पाहिनी सुश्राविके! तूने एक बार जो अपने स्वप्न की चर्चा की थी उसका फल आँख के सामने आ गया है। अनन्तर देवचन्द्र संघ के साथ चाङ्गदेव की याचना करने पाहिनी के घर पहुँचे। पाहिनी ने परवालों का विरोध सहकर भी अपना पुत्र देवचन्द्र को सौंप दिया।

शिक्षा और सूरिपद—

दीक्षित होने के उपरान्त सोमचन्द्र का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। तर्क लक्षण एवं साहित्य विद्या का बहुत थोड़े ही समय में पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। देवचन्द्र सूरि ने सात वर्ष आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण करते हुए और चार महीने किसी सद्गृहस्थ के यहाँ निवास करते हुए व्यतीत किए। सोमचन्द्र भी उनके साथ बराबर थे अतः अल्पायु में ही इन्होंने देश—देशान्तरों के परिभ्रमण से अपने शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि की। हमें इनका नागपुर में धनद नामक सेठ के यहाँ तथा देवेन्द्रसूरि और मलयगिरि के साथ गौड़देश के खिल्लूर ग्राम एवं स्वतः काश्मीर में जाना मिलता है। इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने समस्त शास्त्रों का आलोडन-विलोडन कर अपने ज्ञान को वृद्धिंगत किया था।

ज्ञान के साथ—साथ चरित्र भी अपूर्व कोटि का था। चतुर्विध संघ इनके गुणों से अत्यधिक प्रभावित था। आचार्य के ३६ गुण इनमें आत्मसात् हो चुके थे अतः नागपुर के धनद नामक व्यवहारी ने विक्रम सं ११६६ में सूरि पद प्रदान महोत्सव सम्पन्न किया। सोमचन्द्र की हेम के समान कान्ति और चन्द्र के समान आह्लादकता होने के कारण—तदनुरूप 'हेमचन्द्राचार्य' यह संज्ञा रखी गयी। इक्कीस वर्ष की अवस्था में सूरि पद को प्राप्त कर हेमचन्द्र ने साहित्य और समाज की सेवा करने का आयास आरम्भ किया। इस नवीन आचार्य की विद्वत्ता तेज, प्रभाव और स्पृहणीय गुण, दर्शकों को सहज ही में अपनी ओर आकृष्ट करने लगे।

हेमचन्द्र ने अपने गुरु का नामोल्लेख किसी भी कृति में नहीं किया है।

प्रभावक चरित और कुमारपाल प्रबन्ध के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है, कि हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र ही रहे होंगे। देवचन्द्राचार्य को हम एक सुयोग्य विद्वान् के रूप में पाते हैं। अतः इसमें आशंका की गुंजायश नहीं कि हेमचन्द्र को किसी अन्य विद्वान् आचार्य ने शिक्षा प्रदान की होगी। हाँ, यह अवश्य प्रतीत होता है, कि हेमचन्द्र का कुछ काल के उपरान्त अपने गुरु से अच्छा संबंध नहीं रहा। इसी कारण उन्होंने अपनी कृतियों में गुरु का उल्लेख नहीं किया है। मेरुतुंग ने एक उपाख्यान लिखा है जिससे उनके गुरु–शिष्य संबंध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बताया गया है कि देवचन्द्र ने अपने शिष्य को स्वर्ण बनाने की कला बताने से इन्कार कर दिया, अतः शिष्य ने अन्य सरल विधानों की सुचारु रूप से शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। अतएव स्वर्ण गुटिका की शिक्षा देना उन्होंने अनुचित समझा। हो सकता है उक्त घटना ही गुरु–शिष्य के मनमुटाव का कारण बन गयी हो।

प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र ने ब्राह्मीदेवी—जो विद्या की अधिष्ठात्री मानी गयी है—की साधना के निमित्त काश्मीर की एक यात्रा आरम्भ की। वे इस साधना द्वारा अपने समस्त प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करना चाहते थे। मार्ग में जब ताम्रलिप्ति होते हुए रैवतगिरि पहुँचे, तो नेमिनाथ स्वामी की इस पुण्यभूमि में इन्होंने योगक्रिया की साधना आरम्भ की। इस साधना के अवसर पर ही सरस्वती उनके सम्मुख प्रकट हुई और कहने लगी— वत्स! तुम्हारी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी। समस्त वादियों को पराजित करने की क्षमता तुम्हें प्राप्त होगी। इस वाणी को सुनकर हेमचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी आगे की यात्रा स्थगित कर दी और वापस लौट आये।[१]

उपर्युक्त घटना असम्भव नहीं मालूम होती है। इसका समर्थन 'अभिधान चिन्तामणि' से भी होता है। भारत में कई मनीषी विद्वानों ने मन्त्रों की साधना द्वारा ज्ञान प्राप्त किया है। हम नैषधकार श्रीहर्ष तथा कालिदास के सम्बन्ध में भी ऐसी बातें सुनते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह—

हेमचन्द्र का गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह के साथ सर्वप्रथम कब और कैसे मिलन हुआ इसका सन्तोषजनक इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होता है। कहा जाता है कि एक दिन सिद्धराज जयसिंह हाथी पर सवार होकर पाटण के राजमार्ग से जा रहे थे। उनकी दृष्टि मार्ग में ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक जाते हुए हेमचन्द्र पर

---

१ विशेष के लिए देखें—लाइफ आव् हेमचन्द्र द्वितीय अध्याय। तथा काव्यानुशासन की अंग्रेजी प्रस्तावना पृ. cclxxvi–cclxxix.

पड़ी। मुनीन्द्र की शान्त मुद्रा ने राजा को प्रभावित किया और अभिवादन के पश्चात् उन्होंने कहा, प्रभो! आप महल में पधारकर दर्शन देने की कृपा करें। तदनन्तर हेमचन्द्र ने यथावसर राजसभा में प्रवेश किया और अपनी विद्वत्ता तथा चरित्रबल से राजा को प्रसन्न किया। इस प्रकार राजदरबार में इनका प्रवेश आरंभ हुआ और इनके पाण्डित्य, दूरदर्शिता और सर्वधर्म स्नेह के कारण इनका प्रभाव राजसभा में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

सिद्धराज को धर्म-चर्चा सुनने की बड़ी अभिरुचि थी। एक बार उन्होंने हेमचन्द्र से कहा कि हम ब्राह्मण ग्रन्थों में अपने मत की स्तुति और दूसरों के मत की निन्दा सुनते हैं। प्रभो! बतलाइये कि संसार-सागर से पार करने वाला कौनसा धर्म है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने पुराणोक्त शास्त्र का निम्नलिखित आख्यान कहा —

शंखपुर में शान्त नामक एक सेठ और यशोमति नाम की उसकी स्त्री रहती थी। पति ने अपनी पत्नी से अप्रसन्न होकर एक दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया। अब वह नवोढा के वश होकर बेचारी यशोमति को फूटी आँखों से देखना भी बुरा समझने लगा। यशोमति को अपने पति के इस व्यवहार से बड़ा कष्ट हुआ और वह प्रतिकार का उपाय सोचने लगी।

एक बार कोई कलाकार गौड़ देश से आया। यशोमति ने उसकी पूर्ण श्रद्धा भक्ति से सेवा की और उससे एक ऐसी औषधि ले ली जिसके द्वारा पुरुष पशु बन सकता था। यशोमति ने आवेशवश एक दिन भोजन में मिलाकर उक्त औषधि को अपने पति को खिला दिया जिससे वह तत्काल बैल बन गया। अब उसे अपने इस अधूरे ज्ञान पर बड़ा दुःख हुआ और सोचने लगी कि वह बैल को पुरुष किस प्रकार बनावे। अतः लज्जित और दुःखित होकर जंगल में किसी घासवाली भूमि में एक वृक्ष के नीचे बैठ कर पति को घास चराया करती थी और बैठी बैठी विलाप करती रहती। दैवयोग से एक दिन शिव और पार्वती विमान में बैठे हुए आकाश मार्ग से उसी ओर आ रहे थे। पार्वती ने उसका करुण विलाप सुनकर शंकर भगवान से पूछा—स्वामिन्! इसके दुःख का कारण क्या है? शंकर ने पार्वती का समाधान किया और कहा कि—इस वृक्ष की छाया में ही इस प्रकार की औषधि विद्यमान है जिसके सेवन से यह पुनः पुरुष बन सकता है। इस संवाद को यशोमति ने भी सुन लिया और उसने तत्काल ही उस छाया को रेखाङ्कित कर दिया और उसके मध्यवर्ती समस्त घास के अङ्कुरों को तोड़-तोड़ कर बैल के मुख में डाल दिया। घास के साथ औषधि के पत्ते जाने पर वह बैल पुनः पुरुष बन गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने आख्यान का उपसंहार करते हुए कहा—राजन्!

फलस्वरूप हेमचन्द्र ने उपलब्ध विभिन्न व्याकरणों का सम्यक् अध्ययन कर अपना नया व्याकरण सिद्धराज जयसिंह के नाम को अपने नामके साथ जोड़ कर 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' नामका ग्रन्थ रचा।

हेमचन्द्र और कुमारपाल—

सिद्धराज जयसिंह ने वि. सं. ११५१–११९९ तक राज्य किया। इनके स्वर्ग वासी होने तक हेमचन्द्र की आयु ५४ वर्ष की थी। वे अब तक अच्छी प्रतिष्ठा पा चुके थे। सिद्धराज के कोई पुत्र नहीं था इससे उनके पश्चात् गद्दी का झगड़ा उठा और अन्त में कुमारपाल नामक व्यक्ति वि. सं. ११९४ में मार्गशीर्ष कृष्णा १४ को राज्याभिषिक्त हुआ। सिद्धराज जयसिंह इस कुमारपाल को मारने की चेष्टा में था अतः यह अपने प्राण बचाने के लिए गुप्त वेष धारण कर भागता हुआ स्तम्भतीर्थ पहुँचा। यहाँ पर यह हेमचन्द्र और उदयन मन्त्री से मिला। दुःखी हो कुमारपाल ने सूरि से कहा—'प्रभो! क्या मेरे भाग्य में इसी तरह कष्ट भोगना लिखा है या और कुछ भी?' सूरीश्वर ने विचार कर कहा 'मार्गशीर्ष कृष्ण १४ वि. सं. ११९९ में आप राज्याधिकारी होंगे। मेरा यह कथन कभी असत्य नहीं हो सकता है। उक्त वचन सुनकर कुमारपाल बोला—'प्रभो! यदि आपका वचन सत्य सिद्ध हुआ तो आप ही पृथ्वीनाथ होंगे, मैं तो आप के पादपद्मों का सेवक बना रहूँगा। हँसते हुए सूरीश्वर बोले— हमें राज्य से क्या काम! यदि आप राजा होकर जैन धर्म की सेवा करेंगे तो हमें प्रसन्नता होगी। तदनन्तर सिद्धराज के भेजे हुए राजपुरुष कुमारपाल को ढूँढते हुए स्तम्भतीर्थ में ही आ पहुँचे। इस अवसर पर हेमचन्द्र ने कुमारपाल को वसति के भूमिगृह (तहखाने) में छिपा दिया और उसके द्वार को पुस्तकों से ढँक कर प्राण बचाये। तत्पश्चात् सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हो जाने पर हेमचन्द्र की भविष्यवाणी के अनुसार कुमारपाल सिंहासनासीन हुआ[१]।

राजा बनने के समय कुमारपाल की अवस्था ५० वर्ष की थी। अतः उसने अपने अनुभव और पुरुषार्थ द्वारा राज्य की सुदृढ़ व्यवस्था की। यद्यपि यह सिद्धराज के समान विद्वान् और विद्यारसिक नहीं था तो भी राज्य व्यवस्था के पश्चात् धर्म और विद्या से प्रेम करने लगा था।

कुमारपाल की राज्यप्राप्ति सुनकर हेमचन्द्र कर्णावती से पाटन आये। उदयन मन्त्री ने उनका प्रवेशोत्सव किया। इन्होंने मंत्री से पूछा—'क्या राजा हम याद करता है या नहीं?' मन्त्री ने सकोच का अनुभव करते हुए स्प

१ देखें नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ६ पृष्ठ ४४१–४६८
(कुमारपाल को कुल में हीन समझने के कारण ही सिद्धराज उसे मारना चाहते थे)।

कहा—'नहीं अब याद नहीं करता।' सूरीश्वर ने मन्त्री से कहा 'आज आप राजा से कहें, कि वह अपनी नयी रानी के महल में न जावें। वहाँ आज दैवी उत्पात होगा। यदि राजा आप से पूछें कि यह बात किसने बतलाई, तो बहुत आग्रह करने पर ही मेरा नाम बतलाना। मन्त्री ने ऐसा ही किया। रात्रि को महल पर बिजली गिरी और रानी की मृत्यु हो गयी। इस चमत्कार से अति विस्मित हो राजा मन्त्री से पूछने लगा कि यह बात किस महात्मा ने बतलायी थी। राजा के विशेष आग्रह करने पर मंत्री ने गुरु जी के आगमन का समाचार सुनाया और राजा ने प्रमुदित होकर उन्हें महल में बुलवाया। सूरीश्वर पधारे। राजा ने उनका सम्मान किया और कहा कि—'उस समय आपने हमारे प्राण बचाये और यहाँ आने पर आपने हमें दर्शन भी नहीं दिये। लीजिए अब आप अपना राज्य सम्हालिए। सूरि ने कहा—राजन्। अगर आप कृतज्ञता स्मरण कर प्रत्युपकार करना चाहते हैं तो आप जैनधर्म स्वीकार कर उस धर्म का प्रचार करें। राजा ने धीरे धीरे उक्त आदेश को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की, इसने अपने राज्य में प्राणिवध मांसाहार, असत्यभाषण, द्यूतव्यसन वेश्यागमन, परधनहरण आदि का निषेध कर दिया। कुमारपाल के जीवन चरित से प्रकट होता है कि उसने अन्तिम जीवन में पूर्णतया जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।

कुमारपाल और हेमचन्द्र के मिलने के संबंध में डा बुल्हर[1] ने बताया है कि हेमचन्द्र कुमारपाल से तब मिले जब राज्य की समृद्धि और विस्तार हो गया था। डा बुल्हर की इस मान्यता की आलोचना काव्यानुशासन की भूमिका में डा रसिकलाल पारिख ने की है और उन्होंने उक्त कथन को निराधार सिद्ध किया है।[2]

जिन मण्डन ने कुमारपाल प्रबन्ध[3] में दोनों के मिलने की घटना पर प्रकाश

---

1 See Note 68 in Dr Bulher's Life of Hemchandra PP 83–84

2. See Kavyanushasan Introduction pp. cclxxxiii–cclxxxiv

3. कुमारपाल प्रबन्ध प १८–२२

See the Life of Hemchandracharya Hemchandra's own account of Kumarpal's Conversion pp. 37–40

देखें—कुमारपाल प्रतिबोध पृ १ श्लो १ –४

तथा देखें—आचार्य विजयवल्लभ सूरि के स्मारक-ग्रन्थ के अन्तर्गत-हेमचन्द्राचार्य एम नुं जीवन अनेकान्त" शीर्षक गुजराती निबन्ध।

बतलाते हुए लिखा है कि—एक बार कुमारपाल, जयसिंह से मिलने गया था। मुनि हेमचन्द्र को उसने सिंहासन पर बैठे देखा। वह अत्यधिक आकृष्ट हुआ और उनके व्याख्यान में जाकर भाषण सुनने लगा। उसने पूछा—मनुष्य का सबसे बड़ा गुण क्या है? हेमचन्द्र ने कहा—'दूसरों की स्त्रियों में मा-बहन की भावना रखना सब से बड़ा गुण है। यदि यह घटना ऐतिहासिक है तो अवश्य ही वि. सं. ११६९ के आसपास घटी होगी, क्योंकि उस समय कुमारपाल को अपने प्राणों का भय नहीं था।

प्रभावक चरित से ज्ञात होता है कि जब कुमारपाल अर्णोराज को विजय करने में असफल रहा। मन्त्री वाग्भट की सलाह से उसने अजितनाथ स्वामी की प्रतिमा का स्थापन-समारोह किया जिसकी विधि हेमचन्द्र ने सम्पन्न करायी थी।

यह तो सत्य है कि राज्य स्थापना के आरम्भ में कुमारपाल को धर्म के विषय में सोच-विचार करने का अवकाश नहीं था, क्योंकि पुराने राज्याधिकारियों से उसे अनेक प्रकार से संघर्ष करना पड़ा था। वि. सं. १२० ७ के लगभग उसका जीवन आध्यात्मिक होने लगा था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हेमचन्द्र का सम्पर्क कुमारपाल से पहिले ही हो चुका था और राजा हो जाने के १६ वर्ष बाद उसने जैनधर्म अंगीकार किया। इसी कारण 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' और 'अभिधानचिन्तामणि' में हेमचन्द्र ने कुमारपाल की प्रशस्ति दी है।

जिस प्रकार जयसिंह के अनुरोध पर हेमचन्द्र ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की उसी प्रकार कुमारपाल के अनुरोध पर उन्होंने योगशास्त्र, वीतराग स्तुति और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित की रचना की है।

हेमचन्द्र का कुमारपाल पर प्रभाव और कुमारपाल का जैनधर्म में परिवर्तित होना—

कुमारपाल चरित, प्रभावक चरित और प्रबन्धचिन्तामणि के देखने से ऐसा लगता है कि—कुमारपाल पर जैनधर्म के आचार का बड़ा प्रभाव था। जैनधर्म में उसकी निष्ठा थी। हेमचन्द्र को वह अपना गुरु मानता था और जैन मन्दिरों में अपनी पूजा अर्पित करता था पर उसने पूर्णतः जैनधर्म स्वीकार कर लिया था ऐसा प्रतीत नहीं होता क्योंकि ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि—वह सोमनाथ के शिव का भक्त था। शिलालेखों में कुमारपाल को 'महेश्वरनृपाग्रणी' कहा गया[1] है। हो सकता है—राजा होने के कारण कुमारपाल का सभी धर्मों के

1 We find in the last canto of the S. D. K. Kumarpal distinctly mentioning his devotion to Shiva and secondly in the inscription of Bhava-

प्रति उदारता और सहिष्णुता रखनी पड़ती है। श्रावक के द्वादश व्रत कुमारपाल ने धारण किए थे। भक्ष्याभक्ष्य का उसे पूर्ण परिज्ञान था।

यशपाल द्वारा रचित 'मोहराज पराजय' नामक नाटक में कुमारपाल के धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण झांकी मिलती है। अतः कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, इसमें आशंका नहीं रहती। राजा कुमारपाल ने अनेक मन्दिर बनवाये और विभिन्न देशों के १४४ विहार बनवाये तथा धर्म प्रभावना के अनेक कार्य किये।

हेमचन्द्र की धार्मिक उदारता और उनके वैशिष्ट्यबोधक आख्यान—

आचार्य हेमचन्द्र अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। धार्मिक उदारता भी उनमें थी। कहा जाता है कि एक बार राजा कुमारपाल के सामने किसी मत्सरी ने कहा—'जैन प्रत्यक्ष देव सूर्य को नहीं मानते।' हेमचन्द्र ने कहा—वाह! कैसे नहीं मानते—

'अधाम धामधामैव वयमेव हृदिस्थितम्।
यस्यास्तव्यसने प्राप्ते त्यजामो भोजनोदकं॥

अर्थात्—हम लोग ही प्रकाश के धाम श्रीसूर्यनारायण को अपने हृदय में स्थित रखते हैं उनके अस्तरूपी व्यसन को प्राप्त होते ही हम लोग अन्न और जल तक त्याग देते हैं। इस उत्तर को सुनकर उन ईर्ष्यालुओं का मुँह बन्द हो गया।

एक बार देवपत्तन के पुजारियों ने आकर राजा से निवेदन किया कि 'सोमनाथ का मन्दिर बहुत ही जीर्ण शीर्ण हो गया है, उसकी मरम्मत करानी चाहिए।' उनकी प्रार्थना सुनते ही राजा ने जीर्णोद्धार का कार्य आरम्भ कर दिया। जब एक बार वहाँ के मन्दिर के संबंध में वहाँ पंचकुल का पत्र आया तब राजा ने पूछा—इस धर्म भवन के निमाणार्थ क्या करना चाहिए? हेमचन्द्र ने कहा कि—आपको या तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विशेष देवार्चन में संलग्न रहना चाहिए अथवा मन्दिर के ध्वजारोपण तक मद्य-मांस के त्याग का व्रत धारण करना चाहिए। राजा ने सूरीश्वर के परामर्शानुसार उक्त व्रत धारण किया। कुमारपाल ने जब सोमेश्वर की यात्रा की तो हेमचन्द्र को भी इस यात्रा में चलने का निमंत्रण दिया। हेमचन्द्र ने तुरन्त स्वीकार कर उत्तर दिया कि—भूखे! भूखे से निमंत्रण का क्या आग्रह! हम तपस्वी का तो तीर्थाटन मुख्य धर्म ही है। इसके पश्चात् राजा ने उनको सुखासन, वाहनादि ग्रहण करने को कहा। परन्तु उन्होंने पैदल यात्रा करने की इच्छा प्रकट की

Brahaspati of the Kumarpal's reign he is called 'मोरमयराजमन्दी' The foremost of Maheshwar king (V 47).

और कहा कि—हमारा विचार शीघ्र ही प्रयाण करने का है जिससे शत्रुंजय और गिरनार आदि महातीर्थों की भी यात्रा कर हम आपके पहुँचते २ देवपत्तन पहुँच जावें। राजा ने यात्रा प्रारम्भ की। वे देवपत्तन के निकट आ पहुँचे परन्तु आचार्य हेमचन्द्र के दर्शन नहीं हुए। पर जब नगर में राजा का प्रवेशोत्सव सम्पन्न किया जा रहा था उस समय सूरीश्वर भी उपस्थित थे। राजा ने बहुत भक्ति से सोमेश्वर के लिङ्ग की पूजा की और हेमचन्द्र से कहा कि यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो आप भी त्रिभुवनेश्वर श्री सोमेश्वर देव का अर्चन करें। हेमचन्द्र ने वहाँ सोमेश्वर का अर्चन किया, निम्ननिर्मित श्लोकों द्वारा उनकी स्तुति की। कहा जाता है कि—हेमचन्द्र ने वहाँ राजा को साक्षात् महादेव के दर्शन कराये, जिससे राजा ने कहा कि महर्षि हेमचन्द्र सब देवताओं के अवतार और त्रिकालज्ञ हैं। इनका उपदेश मोक्षमार्ग को देने वाला है।

कुमारपाल ने जीवहिंसा का सख्त निषेध करा दिया था। इनकी कुलदेवी कण्टेश्वरी देवी के मन्दिर में बलिदान होता था। आश्विनमास का शुक्लपक्ष आया तो पुजारियों ने राजा से निवेदन किया, कि यहाँ पर सप्तमी को ७ पशु और सात भैंसे अष्टमी को ८ पशु और आठ भैंसे तथा नवमी को ९ पशु और ९ भैंसे राज्य की ओर से देवी को चढ़ाये जाते हैं। राजा इस बात को सुनकर हेमचन्द्र के पास गया और इस प्राचीन कुलाचार का वर्णन किया। हेमचन्द्र ने कान में ही राजा को समझा दिया, जिसे सुनकर उसने कहा—अच्छा ! जो दिया जाता है, वह हम भी यथाक्रम देंगे। तदनन्तर राजा ने देवी के मन्दिर में पशु भेजकर उनको ताले में बन्द करा दिया और पहरा रख दिया। प्रातःकाल स्वयं राजा आया और देवी के मन्दिर के ताले खुलवाए। वहाँ सब पशु आनन्द से लेटे थे। राजा ने कहा—देखो ये पशु मैंने देवी को भेंट दिए थे यदि इन्हें पशुओं की इच्छा होती तो वे इन्हें खा लेतीं। परन्तु उन्होंने एक को भी नहीं खाया। इससे स्पष्ट है कि उन्हें मांस अच्छा नहीं लगता। तुम उपासकों को ही यह भाता है। राजा ने सब पशुओं को छुड़वा दिया। दशमी की रात को राजा को कण्टेश्वरी देवी स्वप्न में दिखाई दी और शाप दे गई, जिससे वह कोढ़ी हो गया। उदयन ने बलि देने की सलाह भी दी, परन्तु राजा ने किसी के प्राण लेने की अपेक्षा अपने प्राण देना अच्छा समझा। जब आचार्य हेमचन्द्र को इस रोग का पता लगा तो उन्होंने जल मन्त्रित करके दे दिया; जिससे राजा का दिव्य रूप हो गया।[1] इस प्रकार हेमचन्द्र की महत्ता

१ देखें—कुमारपालेन अमारी प्रारब्धायां आश्विन शुदिपक्ष समागमात् ।—
— राजाग्रे कुलदेव इव हिंस्रप सम्यग् मतम् समर्पितम् ।

प्रबन्धकोश पृ० ४०—४८

के सम्बंध में अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं।

कहा जाता है कि काशी से विश्वेश्वर नामक कवि पाटण आया और वहाँ हेमचन्द्र की विद्वत्समिति में सम्मिलित हुआ। उसने कहा "पातु वो हेमगोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन्" अर्थात् कम्बल और दण्ड लिए हुए हेम (चन्द्र) ग्वाल तुम्हारी रक्षा करें। इतना कह चुप हो गया। कुमारपाल भी वहाँ विद्यमान थे। इस वाक्य को निन्दा विधायक समझ उनकी त्योरी चढ़ गयी। कवि को तो वहाँ पर लोगों के हृदय और मस्तिष्क की परीक्षा करनी थी, उसने यह दृश्य देख तुरन्त अधोलिखित श्लोकार्ध पढ़ा— "षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे"[1]। अर्थात् वह गोपाल, जो षड्दर्शन रूपी पशुओं को जैन गृहक्षेत्र में हाँक रहा है। इस उत्तरार्ध से उसने समस्त सभ्यों को सन्तुष्ट कर दिया।

हेमचन्द्र की रचनाएँ—

हेमचन्द्र की रचनाओं की संख्या त्रिकोटि—तीन करोड़ बतायी जाती है। यदि इसे हम अतिशयोक्ति मान लें, तो भी १ से अधिक इनकी रचनाएँ होंगी। इन्हें कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि से भूषित किया गया था। इनकी रचनाओं के देखने से यह स्पष्ट है कि हेमचन्द्र अपने समय के अद्वितीय विद्वान् थे और समस्त साहित्य के इतिहास म किसी दूसरे ग्रन्थकार की इतनी अधिक मात्रा में विविध विषयों की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण रचनाएँ निम्न प्रकार हैं —

(१) पुराण—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित।—इसमें इन्होंने संस्कृत में काव्यशैली द्वारा जैनधर्म के २४ तीर्थङ्कर १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण ९ प्रति-नारायण एवं बलदेव इन ६३ प्रमुख व्यक्तियों के चरित का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ पुराण और काव्य कला दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है। परिशिष्ट पर्व तो भारत के प्राचीन इतिहास की गवेषणा में बहुत उपयोगी है।

(२) काव्य—कुमारपाल चरित इसे द्व्याश्रय काव्य भी कहते हैं। इस नाम के दो कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण तो यह है कि—यह संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में लिखा गया है। द्वितीय कारण यह भी सम्भव है कि—इस कृति का उद्देश्य अपने समय के राजा कुमारपाल का चरित वर्णन करना है और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अपने संस्कृत और प्राकृत व्याकरण के सूत्र क्रमानुसार ही नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करना है। यह कितना कठिन कार्य है। इसे सहृदय काव्यरसिक जन ही जान सकते हैं।

(३) व्याकरण—शब्दानुशासन। इसमें आठ अध्याय हैं प्रथम सात

[1] देखें—प्रभावक चरित पृष्ठ ३१५ श्लोक १ ४।

अध्यायों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है और आठवें अध्याय में प्राकृत भाषा का। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के लिए यह व्याकरण उपयोगी और प्रामाणिक माना जाता है।

(४) कोष—इनके चार प्रसिद्ध कोष हैं।

(१) अभिधानचिन्तामणि (२) अनेकार्थसंग्रह (३) निघण्टु और (४) देशीनाममाला। प्रथम—अमरकोष के समान संस्कृत की एक वस्तु के लिए अनेक शब्दों का उल्लेख करता है। दूसरा—कोष, एक शब्द के अनेक अर्थों का निरूपण करता है। तीसरा—अपने नामानुसार वनस्पतिशास्त्र का कोष है एवं चौथा ऐसे शब्दों का कोष है, जो उनके संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरण से सिद्ध नहीं होते और जिन्हें इसी कारण देशी माना है। प्राकृत अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाओं के अध्ययन के लिए यह कोष बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

(५) अलंकार—काव्यानुशासन। यह अपने विषय का सांगोपांग पूर्ण ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने स्वयं ही इस पर अलंकार चूड़ामणि नाम की वृत्ति एवं विवेक नाम की टीका लिखी है। इसमें मम्मट की अपेक्षा काव्य के प्रयोजन हेतु, अर्थालंकार, गुण, दोष, ध्वनि आदि सिद्धान्तों पर हेमचन्द्र ने विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'हृद्यं साधर्म्यमुपमा' यह उपमा का लक्षण किसे अपनी ओर आकृष्ट न करेगा।

(६) छन्द—छन्दोऽनुशासन। इसमें संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के छन्दों का निरूपण किया गया है। मूल ग्रन्थ सूत्रों में ही है। आचार्य ने स्वयं ही इसकी वृत्ति भी लिखी है। इन्होंने छन्दों के उदाहरण अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा दिये हैं। इसमें रत्नाकर के समान स्वयं कुछ आचार्य का अपना है।

(७) न्याय—प्रमाणमीमांसा। इसमें प्रमाण और प्रमेय का सविस्तर विवेचन विद्यमान है। अनेकान्तवाद, प्रमाण, पारमार्थिक प्रत्यक्ष की तात्त्विकता, इन्द्रियज्ञान का व्यापारक्रम, परोक्ष के प्रकार, अनुमानावयवों की प्रायोगिक व्यवस्था, कथा का स्वरूप, निग्रहस्थान या जय-पराजय व्यवस्था, प्रमेय प्रमाता का स्वरूप एवं सर्वज्ञत्व का समर्थन आदि मूल मुद्दों पर विचार किया गया है।

(८) योगशास्त्र—हेमचन्द्र ने योगशास्त्र पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसमें जैनधर्म की आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है। इसकी शैली पतञ्जलि के योगशास्त्र के अनुसार ही है, पर विषय और वर्णनक्रम दोनों में मौलिकता और भिन्नता है।

(९) स्तोत्र—द्वात्रिंशिकाएँ। स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से हेमचन्द्र की उत्तम कृतियाँ हैं। वीतराग और महावीर स्तोत्र भी सुन्दर माने जाते हैं।

हेमचन्द्र का व्यक्तित्व और अवसान—

हेमचन्द्र का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे एक ही साथ एक महान् सन्त, शास्त्रीय विद्वान्, वैयाकरण दार्शनिक, काव्यकार, योग्य लेखक और लोक चरित्र के अमर सुधारक थे। इनके व्यक्तित्व में स्वर्णिम प्रकाश की वह आभा थी जिसके प्रभाव से सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल जैसे सम्राट् आकृष्ट हुए। वे विश्वबन्धुत्व के पोषक और अपने युग के प्रकाशस्तम्भ ही नहीं अपि तु युग-युग के प्रकाशस्तम्भ हैं। इस युगपुरुष को साहित्य और समाज सर्वदा नतमस्तक हो नमस्कार करता रहेगा।

कुमारपाल [illegible] वर्ष ८ महीने और २७ दिन राज्य करके सन् ११७४ में *सुरपुर सिधारे। इनके छः महीने पूर्व हेमचन्द्र ने देहलीला समाप्त की थी।* राजा को इनका वियोग असह्य रहा। हेमचन्द्र के शरीर की भस्म को इतने लोगों ने अपने मस्तक पर लगाया कि अन्त्येष्टिक्रिया के स्थान पर एक गड्ढा हो गया जो हेमखाड्ड नाम से प्रसिद्ध हुआ।

द्वितीय अध्याय

संस्कृत शब्दानुशासन का एक अध्ययन

व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टोजि दीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही किया है। इन्होंने सूत्र वृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायों में और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय में इस प्रकार कुल आठ अध्यायों में अपने महाव्याकरण—शब्दानुशासन को समाप्त किया है।

संस्कृत शब्दानुशासन के उदाहरण संस्कृत द्व्याश्रयकाव्य में और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्व्याश्रय काव्य में लिखे हैं। प्रस्तुत अध्याय में संस्कृत शब्दानुशासन का एक अध्ययन उपस्थित किया जाता है —

प्रथमाध्याय : प्रथम पाद—

प्रथम पाद का सबसे पहिला सूत्र 'अर्हम्' १।१।१ है। यह मङ्गलार्थक है। इस पाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १।१।२ है। इस सूत्र द्वारा हेम ने समस्त शब्दों की सिद्धि—निष्पत्ति और ज्ञप्ति अनेकान्तवाद द्वारा ही स्वीकार की है।—वास्तविकता भी यही है। शब्दों की सिद्धि—निष्पत्ति और ज्ञप्ति का परिज्ञान स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा ही होता है, एकान्त द्वारा नहीं। 'लोकात्' १।१।३ सूत्र द्वारा हेम ने व्याकरण शास्त्र के लिए लौकिक व्यवहार की उपयोगिता का प्रकाश डाला है। १।१।४ सूत्र से सामान्य संज्ञाओं का विवेचन प्रारम्भ होता है। इस पाद में निम्नलिखित संज्ञाएँ प्रधान रूप से परिगणित की गई हैं।

१ स्वर[1] २ ह्रस्व ३ दीर्घ ४ प्लुत[2] ५ नामी[3] ६ समान[4] ७ सन्ध्यक्षर[5] ८ अनुस्वार[6] ९ विसर्ग १० व्यञ्जन[7] ११ धुट्[8] १२ वर्ग[9] १३ अघोष[10] १४ घोषवत्[11] १५ अन्तस्थ[12] १६ शिट्[13] १७ स्व[14] १८ प्रथमादि[15] १९ विभक्ति[16] २० पद[17] २१ वाक्य[18] २२ नाम[19] २३ अव्यय और २४ संख्यावत्।

---

(१) औदन्ताः स्वराः १।१।४। (२) एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः १।१।५। (३) अनवर्णा नामी १।१।६। (४) लृदन्ताः समानाः १।१।७। (५) ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् १।१।८। (६) अं अः अनुस्वारविसर्गौ १।१।९ (७) कादिर्व्यञ्जनम् (८) अपञ्चमान्तस्थो धुट् १।१।११। (९) पञ्चको वर्गः १।१।१२। (१०) आद्यद्वितीयशषसा अघोषाः १।१।१३। (११) अन्यो घोषवान् १।१।१४। (१२) यरलवा अन्तस्थाः १।१।१५। (१३) अं अः ×क ×प शषसाः शिट् १।१।१६। (१४) तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः १।१।१७। (१५) स्यौजसमौट्शस्[illegible] १।१।१८। (१६) स्त्यादिर्विभक्तिः १।१।१९। (१७) तदन्तं पदम् १।१।२० । (१८) सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् १।१।२६। (१९) अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम १।१।२७। (२०) [illegible] १।१।[illegible]।

इन संज्ञाओं में पद, अव्यय एवं संख्यावत् इन तीन संज्ञाओं का अलग अलग एक-एक प्रकरण है अर्थात् विशेष रूप में भी इन संज्ञाओं का विवेचन किया गया है, जैसे सामान्य रूप से स्याद्यन्त और त्याद्यन्त को (१।१।२) पद बता देने के पश्चात् भवदीय आदि में निहित भवत् आदि का पदत्व विधान किया गया है। अव्यय संज्ञा के सामान्य विवेचन करने के अनन्तर—१-१-३१-१-१-३९ सूत्रों तक विशेष रूप से अव्यय संज्ञा का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार संख्यावत् संज्ञा का कथन सामान्य रूप से कर दिया गया है, किन्तु बाद में पाद के अन्तिम सूत्र १।१।४२ तक विशेष रूप से इस संज्ञा की विवेचना की गई है। उक्त वृत्ति में स्वयं ही आचार्य हेम ने उक्त संज्ञाओं का स्पष्टीकरण सोदाहरण किया है। अतएव स्पष्ट है कि इस पाद में केवल संज्ञाओं का निरूपण किया गया है। आगत सभी संज्ञाएँ सामान्य ही हैं, केवल कुछ संज्ञाओं का वर्णन विशेष रूप में आया है।

द्वितीय पाद—

संज्ञा प्रकरण के अनन्तर शास्त्रानुसार वर्ण कार्यों का विवेचन होना चाहिए अतः हेम ने भी यही क्रम रखा है। इस पाद में सर्वप्रथम दीर्घ सन्धि का कथन[1] है। तत्पश्चात् क्रम से गुण, वृद्धि पूर्वलुक्, यण्, अयादि, परलुक्, अपसन्धि असन्धि एवं अनुनासिक इन विभिन्न स्वर सन्धियों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

१।२।१। सूत्र द्वारा ऋ ऌ को भी स्वर माना गया है। पाणिनीय शास्त्र में अवर्ण और ऋ के संयोग से गुण और वृद्धि अ तथा आ के रूप में होती है तथा उनके साथ अन्त में र लगाने के लिए 'उरण्रपरः' १।१।५१ एक पृथक् सूत्र किया है, किन्तु हेम ने एक ही सूत्र द्वारा सरलता से कार्य चला लिया है। पाणिनि ने ए अथवा ओ के पूर्व रहने वाले अ को ए, ओ में विलयन के लिए पर रूप तथा उसके बाद रहने वाले 'अ' को ए, ओ में विलीनीकरण के लिए पूर्व रूप संज्ञा दी है किन्तु हेम ने दोनों अवस्थाओं में ही 'अ' का लुक् कर दिया है। हेम की यह सरलता इनकी एक बड़ी उपलब्धि है।

अयादि सन्धि के लिए पाणिनि का 'एचोऽयवायावः' ६।१।७८ एक ही सूत्र है पर हेम ने इसके दो टुकड़े कर दिये हैं—एदैतोऽयाय् १।२।२३ तथा ओदौतोऽवाव् १।२।२४। पाणिनि ने 'ओ' के स्थान पर 'अव्' का विधान किया है और व् को अनुबन्ध मानकर हटाया है। हेम ने सीधे ओ के स्थान पर अव् कर दिया है। आप हेम अनुबन्ध के झंझट से सर्वथा दूर रहे हैं। उनकी पहुँच सीधे प्रकृति और प्रत्यय के उस अंश पर होती है, जहाँ बिना

---

१ समानानां तेन दीर्घः १।२।१

किसी भी प्रकार का विकार किये साधनिका की प्रक्रिया का उपसंहार हो जाता है।

जहाँ कोई सन्धि नहीं होती वहाँ पदों का त्यों रूप रह जाता है। इसे पाणिनि ने प्रकृति भाव कहा है, किन्तु हेम ने इसे असन्धि कह कर सन्धियों का निषेध कर दिया है[1]।

तृतीय पाद —

द्वितीय पाद में स्वर सन्धियों का विवेचन किया गया है। क्रमानुसार इस तृतीय पाद में व्यञ्जन सन्धि का निरूपण किया गया है। इस प्रसंग में अनुनासिक, चतुर्थ व्यञ्जन छ—विधि आदि विधियों के कथन के पश्चात् विसर्ग सन्धि के कतिपय नियम र क ख प फया ≍क≍पौः १।३।५, 'शषसे शषसं वा' १।३।६ 'पर्वे चटत द्वितीये' १।३।७ सूत्रों में बताये गये हैं। १।३।८ सूत्र से पुनः व्यञ्जन सन्धि का अनुक्रमण आरम्भ हो जाता है। इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने कहीं २ अन्तिम न तथा म को रु करके और उसको विसर्ग बनाकर स्व 'स' किया है। हेम ने सीधे न् और म् के स्थान पर स आदेश कर दिया है। कहीं कहीं हेम ने "म्" के स्थान पर 'र' भी किया है यथा 'नन पेषु वा' १।३।१० सूत्र द्वारा नृ में 'पाहि' की सिद्धि के लिए 'न्' के स्थान पर र करना पड़ा है। हम हेम की इस पद्धति में सरलीकरण की प्रक्रिया का पूरा उपयोग पाते हैं। कुछ दूर तक व्यञ्जन सन्धि के प्रचलित रहने के अनन्तर पुनः विसर्गसन्धि की बातें आ जाती हैं। इस प्रकरण के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि हेमचन्द्र विसर्ग सन्धि का अन्तर्भाव व्यञ्जन सन्धि में ही करते हैं। 'अतोऽति रो रु' १।३।२० तथा 'घोषवति' १।३।२१ सूत्रों से स्पष्ट है कि इन्होंने विसर्ग को व्यञ्जन के अन्तर्गत ही माना है और इसी कारण व्यञ्जन सन्धि के विवेचन में साथ ही विसर्ग सन्धि की बातें भी बतला दी गई हैं। इसके अनन्तर इस पाद में व्यञ्जन लुक् प्रकरण आया है। इसमें 'य्' और 'व्' का लोप विधान है। हेमसदृश शब्दों के लोप का विधान भी इसी पाद में वर्णित है। इसके अनन्तर म विधान, छ विधान द्वि न विधान टलोप विधान, सलोप विधान विसर्ग विसर्गविधान, तवर्ग का चवर्ग विधान तवर्ग का टवर्ग विधान तवर्ग का ल विधान एवं स का ष और षत्व विधान आदि प्रकरणाश आये हैं। इनमें द्वित्व विधान की प्रक्रिया बहुत ही विस्तृत है। इस पाद में 'शिटयाद्यस्य द्वितीयो वा' १।३।५९ द्वारा 'क्षीरम्', 'खीरम्' तथा 'अप्सरा' 'अफ्सरा' जैसे शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी का 'खीर' शब्द हेमचन्द्र के 'ख्षीरम्' के बहुत नजदीक है। अवगत होता है कि हेमचन्द्र के समय में इस शब्द का प्रयोग होने लगा था।

---

१ 'वाऽसन्धि' १।२।३१—'ऊँ चोम' १।२।४१ सूत्र तक।

हेम ने इस पाद में व्यञ्जन और विसर्ग इन दोनों सन्धियों का सम्मिलित रूप में विवेचन किया है। इसमें कुछ सूत्र व्यञ्जन सन्धि के हैं तो कुछ विसर्ग के और आगे बढ़ने पर विसर्ग सन्धि के सूत्रों के पश्चात् पुन' व्यञ्जन संधि के सूत्रों पर लौट आते हैं अनन्तर पुन' विसर्ग सन्धि की बातें बतलाने लगते हैं। सामान्यतया देखने पर यह एक गड़बड़ झाला दिखाई पड़ेगा पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यञ्जन सन्धि के समान ही विसर्ग सन्धि को व्यञ्जन सन्धि ही माना है, अत' दोनों का एक जाति या एक ही कोटि का स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्राय' यह देखा जाता है कि व्यञ्जन सन्धि के प्रसंग में आवश्यकतानुसार ही विसर्ग कार्य का समावेश हो जाया करता है। अतएव इस निष्कर्ष को मानने में कोई आप च नहीं होनी चाहिए कि हेम ने विसर्ग को प्रधान न मानकर 'र को ही प्रधान माना है तथा स और र इन दोनों व्यञ्जनों के द्वारा विसर्ग का निर्वाह किया है। अत इस एक ही पाद में सम्मिलित रूप से दोनों—विसर्ग और व्यञ्जन सन्धियों का विवेचन युक्ति संगत और वैज्ञानिक है। विस्तार को संक्षिप्त करने की स प्रक्रिया में हेम ने वस्तुत' एक नयी दिशा की ओर संकेत किया है। शब्दानुशासक की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन नितान्त वैज्ञानिक है।

चतुर्थ पाद—

इस पाद के अत आ: स्यादौ जस भ्याम्य १।४।१ सूत्र से 'स्यादन्त प्रकरण का प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों की सिद्धि का विधान है। इसके पश्चात् इकारान्त उकारान्त ऋकारान्त और इसके अनन्तर व्यञ्जनान्त शब्दों का नियमन किया गया है। इस प्रकरण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि एक शब्द के सभी विभक्तियों के समस्त रूपों की पूर्णतया सिद्धि न बताकर सामान्य विशेष भाव से सूत्रों का निबन्धन किया गया है जैसे अकारान्त शब्दों के कुछ विभक्ति रूपों का सिद्धि प्रकार बताया गया है, इसके बाद बीच में ही इकारान्त उकारान्त शब्दों के रूप भी उक्त विभक्तियों म ही बतला दिये गये हैं। अभिप्राय यह है कि अकारान्त इकारान्त उकारान्त और ऋकारान्त शब्दों की जिन २ विभक्तियों में समान कार्य होता है, उन २ विभक्तियों में शब्द रूपों की साधनिका समान रूप स बतला दी गयी है। जब विशेष कार्य का अवसर आया है तब विशेष रूपों का विधान कर दिया गया है। उदाहरणार्थ अम् विभक्ति क संयोग से रूप बनाने के लिए पहिले नियम बनाना छोड़ दिया गया है और देवम्, मालाम्, मुनिम्, नदीम्, साधुम् एव वधूम् आदि शब्दों की सिद्धि क लिए 'समानादमो ऽत' १।४।४६ सूत्र लिखा है। इसी प्रकार 'दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः' १।४।४५ सूत्र द्वारा सिद्ध, महत्, पान्थ और राज्ञ शब्दों का छोड़कर नाम के बाद में रहने

पर पूर्व स्वर को दीर्घ बनाने का विधान किया है। इस नियम के अनुसार मुनीनाम्, साधूनाम्, पितॄणाम् प्रभृति रूप सिद्ध होते हैं। इसके पश्चात् नुवा' १।४।४८ सूत्र से वैकल्पिक दीर्घ होता है। जैसे नृणाम् नृणाम् आदि। विशेष सूत्रों में अपवाद सूत्र भी परिगणित हैं। हेम की इस प्रक्रिया के कारण स्वरान्त शब्दों के साथ व्यञ्जनान्त शब्दों का भी नियमन होता गया है, जैसे संख्या सायके र्स्यादि को था १।४।५० सूत्र स्वरान्त शब्दों के मध्य में व्यञ्जनान्त शब्दों का भी नियमन करता है।

प्रथम अध्याय के तीन पादों में सन्धियों की चर्चा है। अतः क्रमानुसार चतुर्थ पाद में शब्द रूपों की विवेचना की गई है। इसकी भी एक सापेक्ष विशेषता यह है कि इस पाद में सूत्रों के अधीन आये हुए सन्धि नियमों का विवेचन किया गया है। अतः शब्द सिद्धि के साथ सन्धि का सम्बन्ध बना रहता है। इसी कारण इस पाद में भी सन्धि की कतिपय बातें आयी हैं। वास्तविकता यह है कि *प्रत्येक कार्य में सन्धि की आवश्यकता पड़ती ही है, अतः सन्धि नियमों की* चर्चा करना इस पाद में भी आवश्यक था।

द्वितीयाध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद का आरम्भ 'त्रिचतुरस्तिसृचतसृस्यादौ' २।१।१ सूत्र द्वारा त्रिशब्द (त्रिसिद्ध) से होता है। इस पाद में इसी प्रकार के व्यञ्जनान्त शब्दों का अनुशासन किया गया है। त्रिसिद्ध त्रि और चतुर के अनन्तर जरा (जरस्) अप्, रै तथा युष्मद् और अस्मद् शब्दों का अनुशासन किया गया है। यद्यपि जरस् और युष्मद् के बीच "अप और 'रै' शब्द का आ जाना कुछ खटकता सा है, किन्तु जब हेम की इस प्रक्रिया पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह नितान्त उचित प्रतीत होता है, कि उक्त शब्दों का बीच में आना आनुषङ्गिक नहीं है बल्कि प्रासङ्गिक है। इन शब्दों के पश्चात् इदम् तद् अदस् शब्दों की प्रक्रिया का निरूपण है। इसके पश्चात् ह्रस्व और दीर्घ विधान उपलब्ध होता है। यह प्रकरण भी व्यञ्जनान्त शब्दों की ओर संकेत बनाये रखने की सूचना देता है। हेम ने पहिले बिना प्रकरण के जो सूत्र लिखे हैं, उनका कारण यह है कि उक्त सूत्रों में उदाहरण (स्वरान्त) दे दिये गये हैं। और जब व्यञ्जनान्त शब्दों का *प्रकरण आरम्भ हुआ है, उस समय उनकी प्रक्रिया का निर्वाह किया गया है।* कुछ सूत्र प्रकरण विरुद्ध से प्रतीत होते हैं किन्तु सगति निर्वाह के लिए उनका आना भी आवश्यक है। यही कारण है कि इस पाद में कहीं २ तिङन्त कृदन्त और तद्धित के सूत्र भी बीच में टपक पड़ते हैं। इसका कारण यही है कि साधनिका के लिए उपर्युक्त प्रकार के सूत्रों की आवश्यकता पड़ते ही प्रतीत हुई, अतः वे सूत्र अप्रासङ्गिक जैसे आभासित होते हैं। मूल बात यह है कि इस पाद में

व्यञ्जनान्त शब्दों का अनुशासन किया गया है और इसमें सहायक तद्धित, कृदन्त और तिङन्त के कुछ सूत्र भी आ गये हैं।

द्वितीय पाद—

इस पाद में कारक प्रकरण है। इसमें सावधानी से सभी कारक-नियमों को निबद्ध करने की चेष्टा की गई है। कारक की परिभाषा देते हुए "क्रियाहेतुः कारकम् २।२।१ क्रियाया निमित्तं कर्त्रादिकारकं स्यात्। अन्वर्थाभिधानाच्च निमित्तत्व-मात्रेण हेत्वादेः कारकसंज्ञा न स्यात्।" लिखा है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने पाणिनि के समान विभक्त्यर्थ में 'कारके' १।४।२३ सूत्र द्वारा कारक का अधिकार नहीं माना बल्कि—आरम्भ में ही कारक की परिभाषा लिख कर कारक प्रकरण की घोषणा की। हेमने कर्म कारक की परिभाषा में 'कर्तुर्व्याप्यं कर्म' २।२।३ कर्त्रा क्रियया यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते तत्कारकं व्याप्यं कर्म च स्यात्। तत्त्रेधा निर्वर्त्य विकार्यं व्याप्यं च" अर्थात् निर्वर्त्य, विकार्य और व्याप्य इन तीनों अर्थों में कर्म कारक माना है। पाणिनि ने 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९ कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्म संज्ञं स्यात्" अर्थात् कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिस पदार्थ को प्राप्त करना चाहता है उसको कर्म संज्ञा बतायी है। इन दोनों संज्ञाओं की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि के ईप्सितम का अन्तर्भाव व्याप्य में कर लिया है। विकार्य और निवर्त्य के लिए पाणिनि को अगले सूत्रों में व्यवस्था देनी पड़ी है। हेम ने इस एक सूत्र द्वारा ही सब कुछ सिद्ध कर दिया है।

इस प्रकरण में "वाऽकर्मणामणिक्कर्त्ता णौ" २।२।२१ सूत्र पाणिनि का १।४।५६ ज्यों का त्यों रखा है। स्वतन्त्रः कर्त्ता २।२।२ साधकतमं करणम् २।२।२४ हेम के ये दोनों सूत्र पाणिनि के १।४।५४ और १।४।४२ सूत्र हैं। शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम ने उन सभी अर्थों में विभक्तियों का विधान प्रदर्शित किया है, जिन अर्थों में पाणिनि ने। हेम के इस प्रकरण में एक नई बात यह आई है कि बहुवत् भाव करने वाले सूत्रों (२।२।१२१ २।२।१२२, २।२।१२३ तथा २।२।१२४) को कारक प्रकरण में स्थान दिया है। पाणिनि ने इस बहुवत् भाव को शेष प्रकरण में स्थान दिया है, कारक में नहीं। यतः पाणिनि की दृष्टि में बहुवत् भाव कारकीय नहीं है, पर हेम ने इसे कारकीय मानकर अपनी वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। क्यों कि एक वचन या द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का होना अर्थात् वि (पाणि सु) श्री के स्थान पर जस् का हो जाना कारकीय जैसा ही प्रतीत होता है। अतः हेम ने उक्त चारों सूत्रों को कारक पाद के अन्त में तत्काल होने से सम्मिलित कर दिया है। इस बहुवत् भाव का संबंध आगे वाले पादों से नहीं है। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने बहुवत् भाव को भी कारक जैसा विधान ही माना है।

तृतीय पाद—

इस पाद में प्रधानरूप से सत्व, षत्व और णत्व विधि का प्रतिपादन किया गया है। सत्वविधि 'नमस्पुरसो गतेः कखपफि रः सः' २।३।१ से आरम्भ हो कर 'सुगः स्यसनि' २।३।६२ सूत्र तक चलती रहती है। इस प्रकरण में र का स—'नाम्यन्तस्थयोः षः' २।३।१५ से २।३।६२ तक स के स्थान पर षत्व-विधि का कथन किया गया है। इस विधि द्वारा अव्यय, समास, क्रिया के साथ पदान्तर्वर्ती स्वतन्त्रपदों, उपसर्गसन्निधियुक्त, पत्वादि, धात्वादि, बहुव्रत उपसर्गों के संयोग एवं अर्थ विशेष बोधक धातुओं में र एवं स का षत्वविधान किया गया है।

इसके पश्चात् णत्वविधान आरम्भ होता है। यह विधान २।३।६३ से २।३।९७ तक चलता है। इसमें समास, कृदन्त, तद्धित, तिङन्त, उपसर्ग अव्यय आदि के संयोग और उनकी भिन्न भिन्न स्थितियों में णत्वभाव दिखलाया गया है। इसके पश्चात् इस पाद में 'परेर्घाङ्कयोगे' २।३।९९ से 'परेर्घाऽङ्कयोगे' २।३।१०३ सूत्र तक र का लत्व विधान सिद्ध किया गया है। इस विधान का आधार भी उपसर्गयोग विशेष क्रिया वाची शब्द एवं अन्य कतिपय शब्द हैं। अनन्तर 'ऋफिडादीनां डश्च लः' २।३।१०४ सूत्र में ऋफिड ऋतक कपरिका के ऋ, र और ड का लत्व विधान दिखलाया है। इस पाद का अन्तिम सूत्र 'जपादीनां पो वः' २।३।१०५ प को वैकल्पिक रूप से व होने का विधान करता है और इसके उदाहरणों में जवा, जपा, पारापत—पारावत शब्दों को उपस्थित किया गया है।

संक्षेप में इस पाद में सत्व, षत्व, णत्व एवं लत्व विधियों का प्ररूपण किया गया है। षत्व २।३।६२ में समाप्त हो कर णत्व विधि २।३।९७ तक चलती है। इस प्रकरण के अनन्तर 'षः सोऽष्ट्यैष्ठिवष्वष्कः' २।३।९८ सूत्र पुनः षत्व विधान का आ गया है। बीच में इस सूत्र के आने का क्या हेतु है। हेम ने इस सूत्र को णत्व विधि के अन्त में क्यों रखा है। हमें इसके दो कारण मालूम पड़ते हैं। पहला तो यह है कि—इस प्रकरण में षत्व विधि को ही प्रधान माना गया है अतः णत्व विधि के कथन के अनन्तर उपसंहार रूप से षत्व विधायक सूत्र लिखा है। दूसरा कारण यह है कि इस षत्व विधायक सूत्र का पूर्ववर्ती 'पाठे धात्वादेर्णो नः' २।३।९७ सूत्र है और इसकी अनुवृत्ति २।३।९८ सूत्र में करनी है। यद्यपि पहला णत्व विधायक है और दूसरा षत्व विधायक है तो भी दोनों का सम्बन्ध यह है कि—दोनों के भिन्न भिन्न कार्य होने पर भी निमित्त समान है। अतः आवश्यक था कि दोनों को एक साथ रखा जाय—षत्व प्रकरण में या णत्व प्रकरण में। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसी अवस्था में णत्व विधायक सूत्र का ही

षत्व प्रकरण में क्यों नहीं रख दिया ? इसका उत्तर यह है—उक्त णत्व विधायक सूत्र के जो निमित्त हैं, उनके कुछ भागों के लिए षत्वविधायक सूत्र अपवाद भी हैं। जैसे २।३।१८ सूत्र ष्यो ष्ठिव तथा ष्वष्क में नहीं लगता है। तीसरी बात यह भी हो सकती है कि सम्भवतः हेम ने ।३। ८ को णत्व विधायक मानकर षत्व और णत्व दोनों प्रकरणों के अन्त में लिखा और पूर्व सूत्र से सम्बद्ध भी कर दिया। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि यह पाद बहुत मौलिक और उत्तम है। इसमें सभी प्रकार की सत्व षत्व, णत्व, लत्व और ऋत्व विधियों का प्रतिपादन किया गया है। शब्दानुशासन की उक्त प्रक्रिया को एक ही पाद में एक साथ सम्बद्ध प्रथित कर हेमचन्द्र ने शब्दजिज्ञासुओं का मार्ग बहुत ही सरल और सुकर कर दिया है। हमारी दृष्टि में यह पाद बहुत ही महत्वपूर्ण है।

चतुर्थ पाद—

इस पाद में स्त्रीप्रत्यय प्रकरण है। इसमें सभी स्त्रीप्रत्ययों का अनुशासन किया गया है। स्त्रीप्रत्यय की समस्त विधि और प्रक्रियाओं को बतलाने वाले सभी सूत्र इस एक ही प्रकरण में आ गए हैं। स्त्रीप्रत्यय की सहायता करने वाले कुछ णत्व के सूत्र भी आ गये हैं किन्तु उन सूत्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्त्रीप्रत्ययों के सहायक रूप में ही उन्हें उपस्थित होना पड़ता है। जैसे २।४।८८ सूत्र 'ष' का लोप करने के लिए आया है अन्यथा मनुष्य शब्द से स्त्रीप्रत्ययान्त रूप मानुषी कैसे बन सकता था। सूर्यागस्त्ययोः ईये च २।४।८९ से २।४।९५ सूत्र तक कुछ करने वाले सूत्रों से स्त्रीप्रत्ययों का कोई सम्बन्ध नहीं है पर जब इस प्रकरण आया तो उस सम्बन्धी सभी सूत्रों को यहाँ लिख दिया गया है। इसके अनन्तर २।४।९६ सूत्र से २।४।१०७ सूत्र तक ह्रस्व का प्रकरण आ जाता है। इस प्रकरण का कारण भी पूर्वोक्त ही है। तदनन्तर इकार का प्रकरण आरम्भ होता है, यह प्रकरण साक्षात् या परम्परया स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धि में सहायक है। अनेक स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द इसी प्रकरण से सिद्ध होते हैं। यथा शिवका शिवा शिका शका भविका भवका पुत्रिका पुत्रका वर्णिका वर्णका आदि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों का अनुशासन दिखलाया गया है।

तृतीय अध्याय प्रथम पाद—

इस पाद के आरम्भ में धातु के पूर्व उपसर्ग के प्रयोग का निरूपण किया है अर्थात् धातोः पूजार्थस्वतिगतार्थाधिपर्यतिक्रमार्थातिवर्जः प्रादिरुपसर्गः प्राक् च ३।१।१ सूत्र से आरम्भ कर ३।१।१७ सूत्र तक गति-उपसर्गसंज्ञक सूत्रों का प्रतिपादन किया है। इस पाद का प्रधान वर्ण्य विषय समास है। ३।१।१८ सूत्र सामान्य समास विधायक है। पाणिनि ने सह सुपा २।१।४ से जो काम लिया है वही काम हम ने उक्त सूत्र से लिया है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि हम ने इस सामान्य समास विधायक सूत्र को पहले

गतिसंज्ञक सूत्रों को क्यों लिखा है ? साधारणतः विचार करने पर यह एक असंगति सी प्रतीत होगी पर विशेष रूप से ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गतिसंज्ञाविधायक सूत्र भी समासफलक हैं अतः इनके द्वारा पहले समासात्मक कार्य सम्पन्न किया गया है। 'गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः' ३।१।४२ सूत्र गतिसंज्ञकों में समास का नियमन करता है। पाणिनि ने 'कुगतिप्रादयः' २।२।१८ सूत्र से जो कार्य किया है, हेम ने उक्त सूत्र से वही कार्य साधा है।

इसके पश्चात् ३।१।१९ सूत्र से बहुव्रीहि समास का प्रकरण आरम्भ होता है। यहाँ कुछ क्रमभंग सा प्रतीत होता है अतः तत्पुरुष अव्ययीभाव समासों का निरूपण इसके पश्चात् किया है। इसका समाधान स्वयं हेम ने ३।१।१८ की वृत्ति में 'बहुव्रीहिसमर्थविधारणं तत्र बहुव्रीह्यादिसंज्ञकसमासाभावे एकार्थ्ये तद्योगेनैव समासः' अर्थात् बहुव्रीहि आदि के अभाव में जहाँ एकार्थता है, वहाँ ३।१।१८ से समास होता है। अतः यह स्पष्ट है कि बहुव्रीहि समास करने वाले सूत्र पीछे आये हैं। इसके बाद ३।१।२६ सूत्र अव्ययीभावविधायक आता है। इसमें भी एक कारण है—केशाकेशि केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम् इस अर्थ में बहुव्रीहि समास की प्राप्ति है और होना चाहिए यहाँ अव्ययीभाव। इसीलिए बहुव्रीहि का अपवादस्वरूप उक्त सूत्र यहाँ रखा गया है। यह प्रकरण ३।१।४१ सूत्र तक चलता है और अव्ययीभावसम्बन्धी सभी कार्य विस्तारपूर्वक सम्पन्न किये गये हैं। ३।१।४२ सूत्र से ३।१।९५ तक तत्पुरुष समास का प्रकरण आता है। इसमें तत्पुरुष समास सम्बन्धी सभी प्रकार के अनुशासन प्रस्तुत किये गये हैं। तदनन्तर— 'विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च' ३।१।९६ से कर्मधारय का वर्णन प्रारम्भ होता है। यह समास ३।१।११५ सूत्र से चलता रहता है। तत्पुरुष समास की समाप्ति करते हुए 'मयूरव्यंसकेत्यादयः' ३।१।११६ में निपातित तत्पुरुष समास का कथन किया है। अनन्तर द्वन्द्व समास का प्रकरण है, यह भी एक रहस्य ही है। द्वन्द्व समास के प्रयोगस्थलों में दोनों पद प्रथमान्त ही होते हैं जैसे कर्मधारय के। प्रथमान्त का ही कर्मधारय और द्वन्द्व समास होता है। दोनों में अन्तर यह है कि कर्मधारय के पद विशेष्य-विशेषण होते हैं तथा द्वन्द्व के दोनों विशेष्य (प्रधान)। इस प्रकार दोनों की भिन्नता होने से अपवादभाव एकदम अनिश्चित है परन्तु किंचित्साम्य होने से कर्मधारय के बाद द्वन्द्व का रखना युक्तिसंगत है।

द्वन्द्व समास में एकशेष का अत्यन्त महत्त्व है, इसे द्वन्द्व का ही एक विशेष रूप कहा जाता है। एकशेष का अर्थ होता है समास के अन्तर्गत आये हुए अनेक पदों में से एक पद का शेष रहना—बचे रहना तथा औरों का हट जाना। द्वन्द्व प्रकरण में ही एकशेषभाव की चर्चा है। इसका तात्पर्य यह है

कि द्वन्द्व समास में अनेक प्रधान पदों के रहने पर भी एकवचन विभक्ति का माना। जैसे देवाश्च असुराश्च=देवासुरम्। एकपदभाव होने पर नपुंसकलिंग हो जाता है। इसके पश्चात् 'प्रथमोक्तं प्राक्' ३।१।१४८ सूत्र से ३।१।१६१ तक 'किस समास में किस शब्द को पहले रखना चाहिए' इसका अनुशासन उपलब्ध होता है। यह प्राक्प्रयोग (पूर्वनिपात) प्रकरण विस्तृत और स्पष्ट है। हेम ने इस अन्तिम प्रकरण का मन्थन कर समास प्रकरण को पुष्ट बनाया है। इसी प्रकरण के साथ यह पाद समाप्त हो जाता है।

द्वितीय पाद—

इस पाद में समास की परिशिष्ट-चर्चा है अर्थात् समास होने के बाद तथा समासनिमित्तक अनिवार्य कार्य होने के पश्चात् सामासिक प्रयोगों में कुछ विशेष कार्य होते हैं जैसे अम्, लुप्, लुक्, ह्रस्व प्रभृति नियमों का इस प्रकरण में समावेश किया गया है।

इस पाद में सर्वप्रथम 'अम्' की प्रक्रिया आती है, जो ३।२।५ सूत्र तक है और इसके उपरान्त लुप् (लोप) और लुप्निषेध की चर्चा है। इसी प्रसंग में जहाँ मध्यगत विभक्तियाँ समास में अपवाद रह जाती हैं उनके भावाभाव का निर्देशन आरम्भ हो गया है। यह पूर्वपद का कार्य है क्योंकि ३।२।३८ सूत्र तक पूर्वपद की विभक्ति का भावाभाव अनुशिष्ट है। इस पूर्वपद के अन्त्य कार्य की प्रसक्ति में ३।२।३९ से आत्व का प्रकरण आ जाता है। मातापुत्रौ होतापुत्रौ आदि में 'पुत्र' ३।२।४ से आत्व का विधान किया गया है। इसी में अन्त्य का 'ई' होना (अग्नीषोमौ अग्नीवरुणौ) ३।२।४२ सूत्र द्वारा तथा ३।२।४३ सूत्र द्वारा अन्त्य 'इ' का भी विधान किया गया है। इसके पश्चात् पूर्वपद (समूचे) की विकृति की बात आती है। द्यावापृथिव्यौ-दिव् पृथिव्यौ आदि उदाहरण उक्त सूत्रों को चरितार्थ करते हैं। पुंवद्भाव, अनूङ् इत्यादि को बीच में डालते हुए पुंवद् का निषेध भी किया गया है। ३।२।६३ सूत्र तक विधि-निषेधपूर्वक पुंवद्भाव का प्रकरण चलता है। इस प्रकार इस पाद में समासाकार पूर्व में स्थित शब्दों में जो-जो विकृतियाँ संभव हैं उन सबका सम्मिलन किया गया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इसमें प्रथम समास के अन्त में आने वाली विभक्ति के 'अम्' बनाने का विधान है और पुनः उसके लोप का विधान विशेष स्वरूप के लिए किया गया है। इस लुप के प्रकरण में ही समास के पूर्वपद के लुप की चर्चा का प्रसंग आ गया है। यही नहीं। जहाँ समास की अन्तिम विभक्ति का लुप-निषेध सम्भव होता है, उसी स्थिति को ग्रहण करते हुए समास के बीच में रहने वाली विभक्ति का लुप निषेध करके सामा

प्रकरण आ जाता है। समास के बीच में रहने वाली विभक्ति पूर्वपद की ही हो सकती है। इसलिए इसके अनन्तर पूर्वपद-सम्बन्धी सभी कार्यों के नियमन का भार आ जाता है। यह पाद हेम का बहुत उपयोगी और मौलिक है। प्रकरणों का क्रम भी सर्वसंगत है। कई कार्यों का समावेश हो जाने पर भी इसमें किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं आने पायी है; क्योंकि कार्यमात्र के संग्रहार्थ हेम ने अपने प्रकरण नहीं बनाये हैं, किन्तु कार्य पद (शब्द) के अनुगामी हैं अर्थात् जिन शब्दों में एक प्रकार के या एक भाग के जो-जो कार्य संभावित हैं, उन सभी कार्यों का समावेश हेम ने इस प्रकरण में किया है। संस्कृत व्याकरण के दो आवश्यक कार्य हैं—प्रथम संक्षेप और द्वितीय सूत्र-रचना की सूत्रान्तर में अनुवृत्ति। हेम ने इस पाद में उक्त दोनों ही बातों का आश्रय ग्रहण किया है।

तृतीय पाद—

यह पाद क्रिया प्रकरण से सम्बन्ध रखता है, इसमें सामान्यतः वृद्धि गुण तथा धात्वागम की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। अत इसके लिए तीन सूत्र इस पाद में सर्वप्रथम आये हैं। 'न प्रादिरप्रत्ययः' ३।३।४ सूत्र में बतलाया गया है कि उपसर्गों का प्रयोग धातु के पहले होता है, बाद में नहीं। ३।३।५ में 'दा' 'धा' के विशेष नियमों पर प्रकाश डाला गया है। ३।३।६ सूत्र से क्रिया-प्रत्ययों का निर्देश आरम्भ किया है। हेम का यह क्रिया प्रकरण पाणिनि की शैली पर नहीं लिखा गया है बल्कि कलाप या कातन्त्र की शैली पर निर्मित है। कातन्त्र के समान हेम ने भी क्रिया की दश अवस्थाएँ स्वीकार की हैं (१) वर्तमाना (२) सप्तमी (३) पंचमी (४) ह्यस्तनी (५) अद्यतनी (६) परोक्षा (७) आशी: (८) श्वस्तनी (९) भविष्यन्ती एवं (१०) क्रियातिपत्ति। पाणिनि के समान हेम ने लकारों का विधान नहीं किया है। पाणिनि और हेम की रूपसाधनिका की प्रक्रियाओं में बहुत अन्तर है। पाणिनि पहले लकार लाते हैं पश्चात् उनके स्थान पर तिप् तस् झि आदि अठारह प्रत्ययों का आदेश करते हैं तत्पश्चात् क्रिया रूप की सिद्धि होती है। हेम इस समस्त प्रक्रिया प्राणायाम से बच गये हैं। इन्होंने वर्तमाना आदि क्रियावस्थाओं के प्रत्यय पृथक्-पृथक् गिन दिये हैं। इससे प्रक्रिया में बड़ी सरलता आ गई है। वर्तमाना के प्रत्यय बताते हुए—'वर्तमाना तिप् तस् अन्ति, सिप् थस् थ, मिव् वस् मस्, ते आते अन्ते से आथे ध्वे ए वहे महे' ३।३।६, सप्तमी के 'सप्तमी यात् याताम् युस् यास् यातम् यात याम् याव याम ईत ईयाताम् ईरन् ईथास् ईयाथाम् ईध्वम्, ईय ईवहि ईमहि' ३।३।७ प्रत्यय बतलाये हैं। इस प्रकार समस्त विभक्तियों के प्रत्यय

बतलाकर आत्मनेपद और परस्मैपद के अनुसार प्रक्रिया बतलायी गयी है। इन विभक्तियों का विवेचन तीनों पुरुष और तीनों वचनों में किया गया है। 'नवाद्यानि शतृक्वसू च परस्मैपदम्' ३।३।१९ एवं 'पराणि कानानशौ चात्मनेपदम्' ३।३।२० सूत्रों द्वारा परस्मैपद और आत्मनेपद प्रत्ययों का वर्गीकरण किया है। परस्मैपद और आत्मनेपद का यह प्रकरण ३।३।१९ से आरम्भ होकर ३।३।१०८ सूत्र तक चला गया है। पाणिनि द्वारा निरूपित आत्मनेपद प्रक्रिया के सभी अनुशासन और विधान इस प्रकरण में आ गये हैं। विस्तार और मौलिकता इन दोनों ही दृष्टियों से हेम का यह प्रकरण बहुत ठोस है। हेम ने आत्मनेपद प्रक्रिया को अलग निबद्ध नहीं किया बल्कि क्रिया-प्रकरण के आरम्भ में ही परस्मैपद और आत्मनेपद की जानकारी प्राप्त कराने के लिए उक्त नियमों का निरूपण कर दिया है। इनका ऐसा निरूपण करना उचित भी है, क्योंकि जब तक यह ज्ञात नहीं कि किस अर्थ में कौन सी क्रिया आत्मनेपदी है और कौन सी परस्मैपदी है, तब तक उस क्रिया की पूरी साधनिका उपस्थित नहीं की जा सकती। अतएव हेम ने पहिले उक्त झमेले पर ही विचार कर लेना आवश्यक और युक्तिसंगत समझा। व्याकरण के क्रम की दृष्टि से भी यह आवश्यक था कि क्रिया के अनुशासन के पूर्व क्रिया की शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से प्रकृति और स्थिति का परिज्ञान कर लिया जाय। हेम ने क्रिया की दस अवस्थाएँ मानी हैं। पाणिनि के लेट् लकार को हेम ने सर्वथा छोड़ दिया है। इसका कारण स्पष्ट है कि हेम ने लौकिक संस्कृत का व्याकरण लिखा है, वैदिक का नहीं। पाणिनि ने वेद का भी व्याकरण लिखा अतः उनको लेट का प्रतिपादन करना आवश्यक था।

चतुर्थ पाद—

३।३।१ सूत्र द्वारा धातु की पहिचान करायी जा चुकी है तथा धातुसम्बन्धी अनेक कार्य भी पूर्वपाद में आ चुके हैं। इस पाद में प्रत्यय-विशिष्ट धातुओं का विवरण है। कई धातुओं के बाद कुछ ऐसे प्रत्यय जुड़ते हैं, जिन्हें मिलाकर पूरे को भी धातु कहा जाता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना प्रक्रिया का निर्वाह नहीं हो सकता। पाणिनि ने भी सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२ *सूत्र द्वारा यही सिद्धान्त उद्घोषित किया है।*

इस प्रकरण में धातुओं के स्वार्थिक सभी प्रत्यय निर्दिष्ट किये गये हैं—३।४।१ तथा ३।४।४ द्वारा आय, ३।४।२ द्वारा णिङ् ३।४।३ द्वारा ईय् ३।४।५—७ २१ द्वारा सन् ३।४।८ द्वारा यङ् ३।४।९—१२ द्वारा यङ्, ३।४।१४—१६ द्वारा यङ्लोप-विधान ३।४।१७—१८ द्वारा णिच् ३।४।२२ द्वारा काम्य ३।४।२३—२४ ११ द्वारा क्यन् ३।४।२५ द्वारा क्यङ् एवं ३।४।२६—३।४।३५ द्वारा

कसद् प्रत्यय का विधान किया गया है। ३।४।१८ से ३।४।४१ तक भी पुनः सिच् का विधान आया है। ३।४।४–८१ में सिच् का नियमन आया है। उपर्युक्त सभी प्रकार के प्रत्ययों से युक्त धातुओं के साथ परोक्षा स्थिति में आम् का भी विधान किया गया है (दयाञ्चक्रे)। इसके अनन्तर आम् प्रत्यय की विशेष प्रक्रिया बता देने के पश्चात् सन् और सिच् की भी चर्चा आई है। ये दोनों यद्यपि धातु के बाद तथा प्रत्यय के पहिले आते हैं परन्तु ये स्वार्थिक नहीं कहे जा सकते। इस बात को स्पष्ट करने के लिए सन् तथा सिच् की प्रक्रिया बतायी गई है। फलतः इस पाद में लुङ्-सम्बन्धी सभी कार्यों का नियमन आया है। इसके उपरान्त यण्, श्न आदि विकरणों की चर्चा भी की गई है। इस पाद के अन्त में आत्मनेपद करने वाले कुछ विशेष सूत्र भी आये हैं। ऐसा लगता है कि तृ॰पाद की आत्मनेपद-सम्बन्धी प्रक्रिया की कमी को पूरा करने के लिये ही इस पाद में उक्त प्रकार के सूत्र निबद्ध किये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद का आरम्भ द्वित्व विषय को लेकर होता है। द्विर्धातुः परोक्षाप्राक्तुस्वरे स्वरविधेः ४।१।१ सूत्र द्वारा परोक्षा में धातु का द्वित्व होता है। यद्यपि द्वित्व का आरम्भ परोक्षा के लिए होता है, किन्तु आगे चलकर यह प्रकरण द्वित्व सामान्य में परिवर्तित हो जाता है। इस द्वित्व के प्रसङ्ग में जहाँ कहीं धातु में विकृति होती है, उसका निर्देश भी बाद में किया गया है। प्याय पी ४।१।९१ सूत्र द्वारा प्याय को पी होता है; जैसे आपिप्ये में। कृदन्त का प्रकरण आने पर कृदन्त रूपों में भी पी विधान की चर्चा हुई है। कृदन्त के क्त और क्तवत् प्रत्यय की चर्चा होने पर उनके साथ में रहनेवाले भिन्न-भिन्न धातु में (प्रकृति में) जो कोई विकार (परिवर्तन) हुआ है, उसकी चर्चा की गयी है। इस प्रकार धीरे धीरे कृदन्त का पद दृढ़ होकर इस पाद में उपस्थित हो जाता है। इस पाद के अन्तिम सूत्रों में कृत् प्रत्ययों का विधान है।

द्वितीय पाद—

प्रथम पाद में प्रत्ययों के पू॰ में स्थित धातुओं में विकारानुशासन किया गया है। इसी प्रकरण से सम्बद्ध होता हुआ यह पाद आरम्भ होता है। जिन धातुओं के अन्त में सन्ध्यक्षर हैं उनको आत्व हो जाता है। यही इस पाद की उत्थान भूमिका है। तत्पश्चात् धातुओं के नकारान्त ककारान्त चकारान्त मकारान्त हलन्त एवं इकारान्त आदि विविध विधानों का निरूपण किया गया है। पश्चात् मध्य वर्णों का लोप विधान किया गया है। यह लुक् का प्रकरण ४।२।५९ तक चलता है। इस विविध प्रकार के प्रत्ययों के संयोग से धातुओं के विविध

चतुर्थ पाद—

यह पाद धातुओं के आदेश-विधान से प्रारम्भ होता है। आदेश-विधान को सम्पन्न करने वाले कार्य 'अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति' ४।४।१ सूत्र से आरम्भ होकर ४।४।२९ सूत्र तक चलते हैं। बीच में एकाध रूप ऐसा भी आया है, जिसमें धातु के अन्तिम वर्ण को 'ए' बनाने का कार्य किया है। इस प्रकार विभिन्न आदेश सम्बन्धी वर्णन आया है। ४।४।३० सूत्र से इट् प्रत्यय का विधान प्रारम्भ हुआ है। यह प्रकरण ४।४।८९ सूत्र तक चलता रहा है। इसमें धातु की विभिन्न परिस्थितियों में इडागम तथा इडागमाभाव का निरूपण किया गया है। इसके अनन्तर कुछ स्वरात्मक और कुछ व्यञ्जनात्मक आगमों की चर्चा है। व्याकरण शास्त्र में आगम उसे कहा जाता है जो मित्रवत् स्वतन्त्र से प्रयोग में आ जाता है। आदेश तो किसी के स्थान पर होता है। पर आगम सदा स्वतन्त्र रूप से होता है। 'अतो म आने' ४।४।११४ सूत्र पचमान प्रयोग में 'म' का आगम करता है। इसमें धातु 'पच' और प्रत्यय 'आन' (शानच्) है। किन्तु उक्त सूत्र वहीं 'म' का आगम करता है जहाँ आन के पूर्व अ ह्रस्व हो दूसरा वर्ण कोई भी रहने पर 'म' का आगम नहीं हो सकता। इसके निषेध रूप में आसीन ४।४।११५ सूत्र आता है। यह सूत्र आस् के बाद 'आन' के 'आ' को 'ई' बना देता है। इसके पश्चात् पुनः धातुसंबंधी क्रियाओं का वर्णन है। ४।४।११६ सूत्र ऋदन्त धातुओं के क्किति प्रत्यय रहने पर ऋत् को इर् कर देता है; तीर्णम् और किरति प्रयोगों की सिद्धि इसी आधार पर की गई है। ४।४।११७ सूत्र द्वारा उपर्युक्त स्थिति में ही ऋत् को उर् बनाया गया है और इस नियमन्त द्वारा 'पूः' पुपूर्षति बुभूर्षति जैसे प्रयोगों की सिद्धि की गई है। ४।४।११९-२ सूत्रों द्वारा 'चिकीर्षति और आशीः' प्रयोगों की सिद्धि के लिए 'ई' का विधान किया गया है। ४।४।१२१ सूत्र द्वारा विशेष परिस्थिति में प् व् व्यञ्जन के लुक् का विचार किया है और इस पाद के अन्तिम सूत्र ४।४।१२२ में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ आदेश किया गया है। इस पाद के अन्तिम सूत्र से आख्यात प्रकरण के समाप्त होने की सूचना भी मिल जाती है। आख्यात-सम्बन्धी समस्त नियम और उपनियमों का प्रतिपादन उपसंहार के रूप में इस पाद में आया है। जिन नियमों को तृतीय और चतुर्थ अध्याय के पादों में छोड़ दिया गया था या प्रकरणवश जिनकी आवश्यकता वहाँ नहीं थी उन आगम और आदेश-सम्बन्धी नियमों का निरूपण इस पाद में किया गया है।

पञ्चम अध्याय प्रथम पाद—

इस पाद के प्रथम सूत्र से ही कृदन्त प्रत्ययों के वर्णन की सूचना मिल जाती

है। 'आतुमोऽप्यादि कृत्' ५।१।१ धातोर्विधीयमानस्त्यादिवर्ज्यो वक्ष्यमाण प्रत्यय स्'मभिव्याप्य कृत् स्यात्। अर्थात् धातुओं में लगाये जाने वाले प्रत्ययों को कृत् कहा गया है और कृत् प्रत्ययों के संयोग से बने हुए शब्द कृदन्त कहलाते हैं। कृत् प्रत्यय लगाने पर क्रिया का प्रयोग दूसरे शब्द-भेदों की तरह होता है। प्रथम पाद के आरम्भ में ११ सूत्र कर्त्ता में प्रत्यय करने वाले हैं। इसके बाद १२वाँ सूत्र आधार अर्थ में क्त प्रत्यय करता है। 'इदं येषां शयितम्' उदाहरण में शयितम् का अर्थ है शयन करने का स्थान अतः सिद्ध है कि हेम ने आहारार्थक और गत्यर्थक धातुओं से आधार अर्थ में उक्त सूत्र द्वारा 'क्त' का विधान किया है।

'क्त्वातुमम् भावे' ५।१।११ सूत्र द्वारा धात्वर्थमात्र में 'क्त्वा', 'तुम्' और 'अम्' का विधान किया है। ५।१।१५ द्वारा हेम ने उणादि प्रत्ययों का विधान उक्त सामान्य प्रत्ययों के साथ ही कर दिया है। पाणिनि ने उणादि प्रत्ययों के लिए अलग एक प्रकरण लिखा है और उनके नियमन के लिए 'उणादयो बहुलम्' ३।३।१ इस सामान्य सूत्र की रचना की है, किन्तु हेम ने इस पाद में उणादि प्रत्ययों के नियमन के लिए अलग कोई प्रकरण नहीं लिखा है। हाँ उनका उणादि प्रकरण पृथक् उपलब्ध है।

हेम ने ऋवर्णान्त तथा व्यञ्जनान्त धातुओं से 'ऋवर्णव्यञ्जनाद् घ्यण्' ५।१।१७ से 'घ्यण्' प्रत्यय का विधान किया है। पाणिनि ने इसी स्थल में 'ऋहलोर्ण्यत्' ३।१।१२४ सूत्र द्वारा ण्यत् का अनुशासन किया है। यद्यपि दोनों वैयाकरणों के प्रत्ययों में अन्तर मालूम पड़ता है, पर प्रक्रियासिद्धि एक ही है और दोनों के भिन्न प्रत्ययों का तात्पर्य भी एक ही है। हेम के इस घ्यण् प्रत्यय का नियमन ५।१।२६ सूत्र तक चलता है। इन सूत्रों में विभिन्न धातुओं से विभिन्न परिस्थितियों में उक्त प्रत्यय की व्यवस्था की गई है।

'तव्यानीयौ' ५।१।२७ सूत्र द्वारा हेम ने तव्य और अनीय प्रत्ययों का विधान किया है। पाणिनीयतन्त्र में इन दो प्रत्ययों के स्थान पर 'तव्यत्तव्यानीयरः' ३।१।९६ सूत्र द्वारा तव्यत्, तव्य और अनीयर इन तीन प्रत्ययों का अनुशासन मिलता है। वस्तुतः तव्य और तव्यत् इन दोनों प्रत्ययों के लगाने से शब्द समान ही तैयार होते हैं। पाणिनि को वैदिकशब्दानुशासन में नियन्त्रण करने के लिए तव्यत् की भी आवश्यकता प्रतीत हुई थी किन्तु हेम को ऐसी कोई आवश्यकता न थी। अतः इन्होंने तीन प्रत्ययों का काम दो प्रत्ययों से चला लिया।

इसके पश्चात् इस प्रकरण में य (पाणिनीय यत्), क्यप्, ण्य (पाणिनीय ण्यत्), तृच् अच् अन् इन् व उ, ण व अकट्, अ ण्वुण् अक आनन्,

किप्, अण्, क क्त्, इ गि इ, अ, द, ए, लघ्, सि, भ्रु शुकम्, उना, मन्, इ अ क क्विप् मन्, वन्, क्वनिप्, विच क्विप् तक तन, क्वनिप्, तृ क एवं क्तवतु प्रत्ययों का विधान किया है। पाणिनि ने क्त तथा क्तवतु प्रत्यय का निष्ठा नाम देकर विधान किया है; हेम ने निष्ठा संज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं समझी और उन्होंने 'क्तक्तवतू' ५।१।१७४ सूत्रावाद् भावारेतो क्त्वातम् लिखकर सीधे ही इन प्रत्ययों का अनुशासन किया दिया है।

द्वितीय पाद—

प्रथम पाद का अन्तिम सूत्र भूतार्थ-परिचायक है। अतः द्वितीय पाद का पहला सूत्र भूतार्थ में प्रवृत्त होता है। विशेषतः भूत परोक्षा अवस्था के लिए आया है। 'श्रुसदवस्भ्य परोक्षा वा' ५।२।१ सूत्र द्वारा परोक्षा का विधान कर उपशुश्राव, उपसेदिवान् आदि रूपों की सिद्धि की है। सामान्यतया इस सूत्र का सम्बन्ध कृदन्त के साथ नहीं है पर परोक्षा के साथ सम्बन्ध स्थापित किये जाने पर कृदन्त के साथ सम्बन्ध हो ही जाता है। परोक्षा के अर्थ में—भूतकाल में परस्मैपदी धातु के परे क्वसु होता है और क्वसु का वस् रहता है। क्वसु होने से वस् न् और आकारान्त धातु के परे इट् होता है। क्वसु होने पर गम्, हन्, विद्, दृश और विश् धातु के परे विकल्प से इट् का अनुशासन किया गया है। आत्मनेपदी धातुओं के परे कानच् होता है। परोक्षा विभक्ति में जो कार्य होते हैं, कानच् होने से भी वे ही कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। ५।२।२ सूत्र द्वारा क्वसु और कानान्त शब्दों का कर्तरि में वैकल्पिक निपातन किया गया है और अनाश्वान् अनाश्वान् प्रभृति प्रयोगों की सिद्धि बतलायी गयी है।

इसके पश्चात् ५।२।४ सूत्र द्वारा भूतकाल अद्यतनी की अवस्था का विधान किया गया है। यह प्रकरण केवल तीन सूत्रों में ही समाप्त हो जाता है। अनन्तर ५।२।७ सूत्र से अनद्यतनी ह्यस्तनी का अनुशासन आरम्भ होता है और ५।२।१४ सूत्र तक ह्यस्तनी का प्रसंग चलता रहता है। ह्यस्तनी में जिन कृत् प्रत्ययों का सन्निवेश हुआ है हेम ने वृत्ति में उनके साथ आख्यात रूपों का भी निर्देश कर दिया है। 'स्म च वर्तमाना' ५।२।१६ सूत्र द्वारा भूत काल में वर्तमाना का प्रयोग किया है और 'वसन्तीह पुरा छात्रा' रूप की सिद्धि प्रदर्शित की है। इसके पश्चात् ५।२।१७ १८ और १ सूत्रों द्वारा भूतार्थ में वर्तमाना-प्रयोग की चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है। ५।२।२ सूत्र द्वारा भविष्यन्ती का विधान किया है और साथ ही अतृ तथा आनश् प्रत्ययों का अनुशासन भी। ५।२।२१ सूत्र भी माङ् उपपद होने पर उक्त प्रत्ययों का नियमन

करता है। 'वा वेत्ते क्वसुः' ५।२।२२ सूत्र द्वारा सदर्थ की जानकारी के अर्थ में विद् धातु से वैकल्पिक क्वसु प्रत्यय करके विद्वान् शब्द की सिद्धि की है। अन्य वैयाकरणों ने अदादिगणीय विद् धातु से होने वाले शतृ प्रत्यय के स्थान में वसु का आदेश करके विद्वान् शब्द को निष्पन्न किया है। पश्चात् शान प्रत्यय का विधान कर पचमानः, यजमान आदि उदाहरणों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। इसके आगे तृश्, तृन्, इष्णु, ष्णुक्, स्नु, क्नसु, उ आश, उस्, आलु, उकण्, अन्, उक, घिनण्, अक, वुक्, इन्, मरक, घुर, इकरप, र नजिङ्, वर, विक्, रु, इन, वट्, व एवं क प्रत्ययों का विधान किया गया है। इन प्रत्ययों में घिनण् प्रत्यय का अनुशासन ५।२।५४ से आरम्भ होकर ५।२।६६ तक चलता रहा है। अधिकांश प्रत्ययों में दो-चार प्रत्ययों को छोड़ प्रायः सभी का एक या दो सूत्र में ही विवेचन कर दिया है।

तृतीय पाद—

इस पाद में भविष्यन्ती अर्थ में प्रत्ययों के समूह की चेष्टा की गई है। भविष्यन्ती विभक्ति किन-किन अर्थों में सम्भव है, हेम ने उन-उन सभी अर्थों में उसके प्रयोग की व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। भविष्यन्ती के अनन्तर श्वस्तनी और श्वस्तनी के बाद वर्तमाना का निरूपण किया गया है। वर्तमाना की चर्चा ५।३।१२ तक चलती है। ५।३।१३ में सूत्र द्वारा भविष्यन्ती के अर्थ में तुम् और णकच् प्रत्ययों का विधान करके कर्तृ और कारक रूपों की सिद्धि की है। पाणिनितन्त्र में णकच के स्थान पर ण्वुल् प्रत्यय का विधान है पर इसके स्थान में अक आदेश हो जाता है। हेम ने सीधा णकच् प्रत्यय कर प्रक्रिया को सरल कर दिया है। ५।३।१४ सूत्र कृम् धातु को उपपद रहने से अण् प्रत्यय का नियमन करता है और कुम्भकारः की सिद्धि पर प्रकाश डालता है। हेम ने पाकाय पक्तये पचनाय आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए भाववचना ५।३।१५ सूत्र द्वारा भावार्थ में घञ् क्ति आदि प्रत्ययों का विधान किया है और बतलाया है कि उक्त प्रत्यय भाव अर्थ में आने पर भविष्यन्ती अवस्था को बतलानेवाले होते हैं। घञ् प्रत्यय का अनुशासन ५।३।१६ और ५।३।१७ में भी किया गया है तथा पादः, रागः सारः, स्थिरः, विस्तरः आदि प्रयोगों की सिद्धि उक्त प्रत्यय द्वारा बतलायी गयी है।

हेम का भावाकर्त्रोः ५।३।१८ सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाणिनि ने करण आदि अर्थों में अलग-अलग प्रत्ययों का संविधान किया है, किन्तु हेम ने अत्यन्त संक्षेप कर दिया है अर्थात् आगे आने वाले प्रत्यय भाव अर्थ में तथा कर्तृकारक को छोड़ अन्य सभी कारकों के अर्थ में आते हैं। बीच-बीच में कहीं-कहीं एक ही भाव अर्थ में प्रत्यय का विधान है—जैसे क्ति–गीतिः। घञ्

प्रत्यय-विधायक सूत्रों के अनन्तर ५।३।२१ से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय का विधान आरम्भ होता है और यह ५।३।२१ सूत्र तक चलता रहता है। पश्चात् घन् घण और अल प्रत्ययान्त शब्दों के निपातन का प्रकरण आरम्भ होता है और यह ५।३।४१ तक अनुशासन करता रहता है। ५।३।४२ से पुनः अक-विधायक सूत्र उपस्थित हो जाते हैं और वे ५।३।५३ तक अपना कार्य करते रहते हैं। ५।३।५४ से पुनः घञ् प्रत्यय का कार्य आरम्भ हो जाता है और यह परम्परा ५।३।८१ सूत्र तक चलती रहती है। तदनन्तर भाव अर्थ में कर्त्ता से भिन्न अन्य कारकों के अर्थ में क अथु त्रिमक्, न नङ् कि अन्, क्तिन्, कि, क्यप्, घो, य अङ् अल क्तिप्, य अनि, इम्, णक, क अनट प्रभृति प्रत्ययों का संविधान किया गया है। ५।३।११२ सूत्र से पुनः घञ् प्रत्यय का प्रकरण आरम्भ हुआ है और यह ५।३।११७ सूत्र तक चलता रहा है। इस घञ् प्रकरण में एकाध नई बात भी आयी है। आङ् पूर्वक नी धातु से घञ् करके आनाय तभी बनता है, जब कि उस कृदन्तीय शब्द का अर्थ जाल होता है। हेम ने इसके लिए अनुशासन करते हुए—'आनायो जालम्' ५।३।११६ 'आङ्पूर्वान्नियः करणाधार पुंनाम्नि जालेऽर्थे घञ् स्यात्' लिखा है। इससे सिद्ध है कि हेम ने समस्त प्रत्ययों का विधान विशेष-विशेष अर्थों का द्योतन करने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में किया है।

चतुर्थ पाद—

पाणिनि के वर्तमान के सामीप्य में हेम ने 'सत्' का व्यवहार किया है। पाणिनि ने वर्तमानसामीप्य के लिए 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' ३।३।१३१ सूत्र लिखा है। हेम ने उसके स्थान पर 'सत् सामीप्ये सद्वद्वा' ५।४।१ सूत्र लिखा है। यह पाद इसी सूत्र से आरम्भ होता है। इसके बाद भी कालों के प्रयोग का अनुशासन किया गया है। पाणिनि और हेम की तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि पाणिनि की लकारार्थ-प्रक्रिया हेम के इस पाद का कार्य करती है। अर्थात् हेम ने इस पाद में कालविधायक प्रत्ययों का निरूपण किया है। 'भूत-वच्चाशस्ये वा' ५।४।२ सूत्र में बतलाया है कि भविष्यत् काल के अर्थ में भूतकाल के प्रत्ययों का प्रयोग होता है ५।४।३। में क्षिप्र और आशंसा अर्थ में क्रम से भविष्यन्ती और सप्तमी विभक्ति का विधान किया है। नानद्यतन' प्रबन्धासत्त्यो' ५।४।५ सूत्र से अद्यतनी विभक्ति के निषेध का विधान बतलाया गया है।

जिस प्रकार पाणिनि ने कहीं-कहीं लकार विशेष के अर्थ में कृत्प्रत्ययों का प्रयोग भी उपयुक्त माना है उसी प्रकार हेम ने प्रैषाऽनुज्ञावसरे कृत्यपञ्चम्यौ ५।४।२९ तथा ५।४।३ सूत्र द्वारा विधान किया है। हेम ने बीच-बीच में कई विशेष बातों पर भी प्रकाश डाला है।

कालवेलासमये तुमुन्वाऽवसरे ५।४।३३ सूत्र द्वारा अवसर गम्यमान रहने पर काल, वेला अथवा समय ये शब्द उपपद रहें तो धातु से तुम् तथा कृत्य प्रत्यय होते हैं। उत्तरवर्ती ५।४।३४ सूत्र द्वारा हेम ने उक्त स्थिति में सप्तमी (पाणिनि का लिङ्) का भी नियमन किया है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण में जितने भी प्रत्यय आये हैं वे सब कालिक अर्थ को बतलाने के लिए ही हैं। ५।४।४४ वें सूत्र से क्त्वा का प्रकरण आरम्भ होता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इस कालिक अनुशासन में क्त्वा कैसे टपक पड़ा? उत्तर सीधा और सरल है कि यहाँ क्त्वा प्रत्यय तभी कहा गया है, जब कि अलम् या खलु का सत्प्रयोग होता हो और उसमें अलम् एवं खलु निषेधार्थक होकर आवें। 'निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा ५।४।४४ सूत्र उक्त अर्थ में ही अलंकृत्वा, खलुकृत्वा प्रयोग की सिद्धि करता है।

क्त्वा का समानार्थी ख्णम् (पाणिनि का णमुल्) है। इसका विधान ख्णम् पाभीक्ष्ण्ये ५।४।४८ से आरम्भ होकर ५।४।५१ सूत्र तक रहता है। इसके बाद 'णम्' प्रत्यय का अनुशासन आरम्भ होकर ५।४।८८ पर समाप्त होता है। ५।४।८४ सूत्र से एक विशेषता यह हो जाती है कि णम् प्रत्यय के साथ क्त्वा प्रत्यय और जुड़ जाता है और ५।४।८८ सूत्र तक क्त्वा और णम् दोनों प्रत्ययों का अनुशासन चलता रहता है। 'इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी' ५।४।८९ सूत्र द्वारा पुनः सप्तमी का विधान किया है और इस पाद के अन्तिम सूत्र ५।४।९० में शक्यार्थक और इच्छार्थ धातुओं के समर्थकों में नाम के उपपद रहने पर कर्मभूत धातुओं से तुम् प्रत्यय का सविधान किया है। अभिप्राय यह है कि उक्त सूत्र द्वारा विशेष-विशेष अवसरों में तुम् प्रत्यय का नियमन किया गया है।

षष्ठ अध्याय : प्रथम पाद—

इस में जिस प्रकार पूर्व अध्याय के प्रारम्भ में ५।१।१ सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि कौन-कौन प्रत्यय कृत् हैं उसी प्रकार तद्धित प्रत्ययों के सम्बन्ध में 'तद्धितोऽणादिः' ६।१।१ पहला अधिकारसूत्र है अर्थात् अण् आदि [illegible] प्रत्यय तद्धित कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि धातु को छोड़कर अन्य प्रकार के शब्दों के आगे [illegible] [illegible] से जो शब्द बनते हैं वे तद्धित कहलाते हैं। हेम ने उस प्रकार के ही [illegible] प्रत्ययों को तद्धित संज्ञा बतलायी है। तद्धित प्रत्यय एक प्रकार के प्रत्ययों की सामान्य संज्ञा है। तद्धित प्रकरण में कुछ [illegible] शब्द भी इसी हैं। देश-नामों का प्रायः इसी प्रकरण में [illegible] गुण आदि शब्द [illegible] कर करा दिया गया है।

तद्धित प्रत्ययों में सर्वप्रथम 'अण्' प्रत्यय आता है। पाणिनि ने

अपत्यमात्र में अण् प्रत्यय करने के लिए 'तस्यापत्यम्' ४।१।९२ सूत्र लिखा है। हेम के सभी सूत्र विशेष रूप से ही आये हुए हैं। हेम ने अण् प्रत्यय के अनन्तर 'ञ्य' प्रत्यय का नियमन किया है। यह नियमन ६।१।१५ सूत्र से प्रारम्भ है। 'बहिषष्टीकण् च' ६।१।१६ से 'टीकण्' और 'ञ्य' प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है तथा 'बाहीक' और 'बाह्य' इन रूपों की सिद्धि की गई है। पश्चात् ६।१।१७ सूत्र द्वारा कलि और अग्नि शब्दों से 'एयण्' प्रत्यय का अनुशासन कर 'कालेयम्' तथा 'आग्नेयम्' शब्दों की सायनिका प्रस्तुत की है। ६।१।१८ सूत्र द्वारा पृथिवी शब्द से 'आ' और 'ञी' प्रत्यय किये गये हैं जिनसे पार्थिवा और पार्थिवी उदाहरणों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। ६।१।१९ सूत्र द्वारा उत्सादि शब्दों से अञ् प्रत्यय का विधान कर औत्स और औदपानम् की सिद्धि की गई है। यह अञ् का प्रकरण आगे वाले सूत्र में भी वर्तमान है। ६।१।२१ सूत्र द्वारा देव शब्द से यञ् और अञ् प्रत्ययों का विधान करके दैव्यम् तथा दैवम् का साधुत्व दिखलाया है। ६।१।२२ और ६।१।२३ सूत्रों द्वारा स्थामन् और लोमन् शब्दों से 'अ' प्रत्यय का अनुशासन करके अश्वत्थामा और उडुलोमा शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। ६।१।२४ अण् में प्रत्यय लुप् की बात कही गई है। ६।१।२५ सूत्र द्वारा सर्व अर्थ में स्त्री और पुम् शब्द से नञ् एवं स्नञ् प्रत्ययों का विधान करके स्त्रैणः तथा पौंस्न उदाहरणों की सिद्धि की गई है। ६।१।२६ सूत्र में विकल्प से उक्त प्रत्ययों का नियमन करते हुए त्व का भी नियमन किया है। 'गो' स्वरे य' ६।१।२७ सूत्र से य प्रत्यय का विधान कर गव्यम् की सिद्धि की गई है। पश्चात् अपत्यार्थ में अत्रादि का विधान करते हुए 'औपगव' जैसे शब्दों का साधुत्व बतलाया गया है। 'अत इञ्' ६।१।३१ सूत्र से हेम ने अपत्यार्थ में अदन्त षष्ठ्यन्त से इञ् का विधान कर दाक्षिः की सिद्धि की है। हेम का यह कथन पाणिनि के 'अत इञ्' ४।१।९५ से बिल्कुल मिलता है। दोनों ही अनुशासकों के सूत्र और उदाहरण मिलते हैं। हेम का यह इञ् प्रत्यय का अनुशासन ६।१।४१ सूत्र तक चलता है। ६।१।४२ सूत्र से यञ् का नियमन आरम्भ होता है और ६।१।४५ सूत्र तक चलता रहता है। ६।१।४७ सूत्र से आयन्य और ६।१।४८ सूत्र से आयनञ् प्रत्ययों का अनुशासन किया है। ६।१।५३ से आयनण् प्रत्यय का अनुशासन आरम्भ होता है और यह अनुशासन ६।१।५९ सूत्र तक चलता है। ६।१।६ सूत्र से अपत्यार्थक अण् का प्रकरण प्रारम्भ होता है और यह प्रकरण ६।१।६८ सूत्र तक चलता है। ६।१।६९ सूत्र से पुनः अपत्यार्थक एयण् प्रत्यय का कथन आरम्भ हो जाता है और ६।१।७८ सूत्र तक इसका अनुशासन

यह प्रायः देखा जाता है कि इस प्रकरण में एक प्रत्यय करने वाले सभी सूत्र एक साथ नहीं आये हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि हेम ने प्रत्ययों की अर्थानुसारिणी रखी है अर्थात् एक किसी विशेष अर्थ में जितने प्रत्यय आने वाले होते हैं, वे सभी प्रत्यय उस अर्थविशेष में आ जाते हैं और जब दूसरे अर्थ का प्रकरण आता है तो उस अर्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययविधायक सूत्र उपस्थित हो जाते हैं। अत एव एयण्, इकण्, अण, एयकञ्, यञ्, ईन्, ईय अकञ् आदि प्रत्ययों के विधायक सूत्र एक साथ न आकर विभिन्न स्थलों में आये हैं। इसलिए एक ही प्रत्ययविधायक सूत्रों का अनेक स्थलों पर आना अनुचित या अनुपयुक्त नहीं है। हेम की शैली शब्दानुशासन के क्षेत्र में अन्य वैयाकरणों की अपेक्षा भिन्न है। जहाँ पाणिनि आदि संस्कृत शब्दानुशासकों ने एक प्रत्ययविधायक सूत्रों को एक साथ रखने की चेष्टा की है वहाँ हेम ने एक अर्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों के विधायकसूत्रों को एक साथ रखने का प्रयास किया है। इसी कारण एक प्रत्ययविधायक सूत्र एक ही जगह नहीं आ पाये हैं। हेम की अर्थानुसार प्रत्ययविधायक इस सूत्रशैली को ठीक तरह से हृदयंगम किए बिना साधारण पाठक को भ्रम और अव्यवस्था की आशंका हो सकती है। किन्तु आद्योपान्त इस पाद के अर्थानुसारी प्रत्ययों के अवलोकन करने पर किसी भी प्रकार की आशंका नहीं रह सकती है।

चतुर्थ पाद—

'यह पाद तद्धित का ही रूप है' इस बात की सूचना प्रथम सूत्र की वृत्ति से ही मालूम हो जाती है। प्रथम सूत्र की वृत्ति में हेम ने लिखा है—'आपादान्तपरिसमाप्तेः' 'तत्रायमधिकृतो ज्ञेयः'। अर्थात् इस पाद का यह प्रथम सूत्र (इकण्) पाद की समाप्ति तक जो अर्थ उक्त नहीं है उन अर्थों में अधिकृत समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जो अर्थ उक्त हो चुके हैं उनसे भिन्न अर्थों में आगे के सूत्रों के द्वारा इकण् प्रत्यय हो जाता है। जैसे संस्कृत अर्थ में 'संस्कृते' ६।४।३ सूत्र से इकण् होने पर दाधिकम्, वैधिकम् आदि रूप बनते हैं। बीच-बीच में कुछ अपवाद प्रत्यय भी आ जाते हैं। उदाहरण के लिए ६।४।४ सूत्र को लिया जा सकता है। यह सूत्र संसृष्ट अर्थ में अण् का भी विधान करता है और लैवणम्, तैलवणिकम् आदि शब्दों का साधुत्व उक्त अर्थ में दरसाता है।

इसके अनन्तर 'तदस्मै' ६।४।५, तरति ६।४।८, चरति ६।४।११, पृच्छति ६।४।१५, निर्वृत्ते ६।४।२०, हरति ६।४।२४, वर्तते ६।४।२७, हन्ति ६।४।३३, विध्यति ६।४।३१ प्रभृति, गच्छति, भाषति, पृच्छति समवेत चरति अवश्य

हैम व्याकरण	पाणिनीय व्याकरण
गान्धारिसाल्वेयाभ्याम् ६।१।११५	साल्वेयगान्धारिभ्यां च ४।१।१६९
साल्वांशप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् ६।१।११७	साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् ४।१।१७३
यस्कादेर्गोत्रे ६।१।१२५	यस्कादिभ्यो गोत्रे २।४।६३
यूनि लुप् ६।१।१३७	यूनि लुक् ४।१।९
पत्रिञ ६।१।५४	पञ्जिभ्यो ४।१।१ १
वृद्धस्त्र्यपत्येषाञ्च ६।१।५८ प्रोक्ताद्वा ६।१।५९	प्रोक्तार्थेवृद्धिमत्स्यादन्यतरस्याम् ४।१।१ ६

द्वितीय पाद—

इस पाद में रक्त समूह एवं अवयव-विकार आदि अर्थों में तद्धित प्रत्ययों का विधान किया गया है। 'रागाद्रक्ते' ६।२।१ रज्यते येन कुसुम्भादिना तद्वाचिन् तृतीयान्तात् रक्तमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्—अर्थात् इस आरम्भिक सूत्र द्वारा रक्तादि अर्थों में यथाविहित प्रत्ययों के विधान की प्रतिज्ञा की है। यह रक्तार्थक प्रकरण ६।२।५ सूत्र तक है। ६।२।६ सूत्र से ६।२।८ सूत्र तक कालार्थ में प्रत्ययों का नियमन किया गया है। पश्चात् ६।२।९ से समूहार्थवाची तद्धित प्रत्ययों का प्रकरण आता है, यह प्रकरण ६।२।२९ सूत्र तक निरन्तर चलता है। इसके बाद विकार ६।२।३ सूत्र के अधिकृत विकारार्थक प्रत्यय आते हैं। ये प्रत्यय अवयवार्थक भी हैं। इस प्रकार के प्रत्ययों की परम्परा ६।२।६१ सूत्र तक वर्तमान है। तदुपरान्त भावु-अर्थ तुल्य अर्थ राष्ट्र अर्थ निवासादि अर्थ चातुर-अर्थ देवता-अर्थ साऽस्यदेवता-अर्थ प्रहरण-अर्थ तद्वेत्ति, तदधीते-अर्थ सामर्थ्य अर्थ भक्ती-अर्थ भक्ष्य अर्थ एवं अपत्यादि से भिन्न अर्थ में प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है। अन्तिम सूत्र ६।२।१४५ के द्वारा यह बतलाया गया है कि अपत्य आदि से इतर अर्थों में भी कहीं-कहीं उन अर्थों में विहित प्रत्यय आ जाते हैं जैसे चक्षुषे इदम् चाक्षुषं रूपम्। अश्वाय अश्वम् = आश्वः रथः इत्यादि।

तृतीय पाद—

इस पाद का पहला सूत्र 'शेषे' ६।३।१ है, जिसका तात्पर्य है कि अपत्य आदि अर्थों से भिन्न शब्द जातीय अर्थ में यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं। इस पाद में एयण् ईन एय ईन य एयकञ् त्यच त्यप्रत्यय त्यप् इकण्, अकञ् अण अञ इकण् ईयस अकीय ईय णिक अञ ईनञ् ण य, एय म अ य रन न तन एण इत्यादि अनेक प्रत्ययों का समाहार इस पाद में किया गया है। इस पाद में २१९ सूत्र हैं और इन सूत्रों में शैषिक प्रत्ययों का अनुशासन आ गया है। यह अनुशासन अन्य व्याकरणों के समान ही है।

धीस, मारण, निमुक्त क्वति, भागहरति, अधिगमाह, छद्मासि पचमान, अधीमान प्राप्त, शेष शाक दक्षिणा देय, कार्य, शोभमान, परिक्रमादि, निर्वृत मूत, स्तुत, अधीन, ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचारी घोर, प्रयोजन मन्य, एण, प्रस्त, आर्हत् मीत पाप हेतु (संयोग अथवा उत्पात), वात, तं पचति, हरत् भान स्तोम, एव तं अर्हति आदि विविध अर्थों में तद्धित-प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है। इस अध्याय के प्रथम तीन पादों के सूत्रों द्वारा जिन अर्थों में प्रत्ययों का अनुशासन अवशिष्ट रह गया है, उन सभी प्रत्ययों का समन्वय इस पाद में कर दिया गया है।

प्रत्ययों की दृष्टि से इस पाद में इकण्, अण, म, इनण् इक् ष्कट इक, ईनञ् इय कण् ण्य, इन् इक, य, ईत्, अण य कण्, ष्कक, ष्कल, अट् अण् एवं ईय् आदि प्रत्ययों का नियमन किया गया है। प्रधानतः इकण् प्रत्यय का अनुशासन ही मिलता है इस पाद में सबसे अधिक सूत्र इसी प्रत्यय का विधान करने वाले हैं।

सप्तम अध्याय : प्रथम पाद—

इस पाद का आरम्भ 'य' प्रत्यय से हुआ है। पूर्वोक्त अर्थों के अतिरिक्त जो अन्य शेष रह गये हैं उन अर्थों में सामान्यतया य प्रत्यय का विधान किया गया है। प्रथम प्रतिज्ञा-सूत्र भी इस बात का द्योतक है कि इयात्, अर्थात् और य ये तीनों प्रत्यय अधिकृत होकर चलते हैं। वहति रथयुगप्रासङ्गात् ७।१।१ सूत्र द्वारा द्वितीयान्त से वहत्यर्थ में य प्रत्यय का विधान कर रथ्य युग्य आदि उदाहरणों का साधुत्व दिखलाकर 'धुरो यै यण' ७।१।३ सूत्र से द्वितीयान्त धुरि से वहत्यर्थ में एयण् प्रत्यय का नियमन किया है। आगे के सूत्रों में वहत्यर्थ में ही विभिन्न शब्दों से ईन अर्हन् ष्कल अण य और य प्रत्यय का विधान किया है। नौविषेण तार्यवध्ये ७।१।१२ सूत्र में तृतीयान्तों से य न्यायार्थादनपेते ७।१।१३ में पञ्चम्यन्तों से य मतमदस्य करणे ७।१।१४ में षष्ठ्यन्तों से य एवं ७।१।१५ में सप्तम्यन्तों से य प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। इसके अनन्तर साधु अर्थ में एयण य, ण्य इनम और ष्कल प्रत्ययों का कथन किया गया है। ७।१।२२ से तदर्थे में य और ण्य प्रत्ययों का अनुशासन आया है। ७।१।२६ से कर्म अर्थ में य और ७।१।२७ से क्वापि अर्थ में य प्रत्यय का विधान करता है। ७।१।२८ सूत्र से भावकोऽर्थ का अधिकार चलता है और उक्त अर्थ में य प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। 'तस्मै हिते' ७।१।३५ सूत्र से हित अर्थ का आरम्भ होता है और इस अधिकारोक्त अर्थ में य ण्य, ईनम् ईन इकण एवं य प्रत्ययों का प्रतिपादन किया गया है। ७।१।४४ सूत्र से परिणामिनि हेतु—अर्थ का अधिकार चलता है। इस अर्थ

में अम् म्य एयण् प्रत्ययों का नियमन किया गया है। ७।१।५१ सूत्र में भावे अर्थ में कट् प्रत्यय तथा ७।१।५२ सूत्र में इवार्थ और क्रियार्थ में कट् प्रत्यय किया गया है। ७।१।५३ सूत्र में सप्तम्यन्त से इवार्थ में और ७।१।५४ सूत्र से षष्ठ्यन्त से इवार्थ में कट् प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। ७।१।५५ सूत्र में बतलाया गया है, कि षष्ठ्यन्त से भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं। इससे आगे के दोनों सूत्रों में भी त्व और तल प्रत्ययों का विभिन्न स्थितियों में निरूपण किया गया है। अनन्तर भाव और कर्म अर्थ में ट्यण् टयण् य एयण अण् अञ्, अकञ् इकन्, ईय एव त्व प्रत्ययों का विधान किया गया है। ७।१।७८ सूत्र से क्षेत्र अर्थ में प्रत्ययों का अनुशासन आरम्भ होता है और इस अर्थ में शाकट, शाकिन इनञ्, एयण् एवं य प्रत्ययों का नियमन किया गया है। ७।१।८४ सूत्र से रक्षति अर्थ में कट, ७।१।८५ से गम्यार्थ ईनञ् ७।१।८६ से अस्य अर्थ में ईनञ्, ७।१।८७ से पार्श्व अर्थ में कुण ७।१।८८ से लिङ्ग अर्थ में ईन ७।१।९४–९५ से व्याप्नोति अर्थ में ईन, ७।१।९६ से क्षेति अर्थ में ईन, ७।१।९७ से मेय अर्थ में ईन, ७।१।९८ से आपि अर्थ में ईन ७।१।९९ से अनुभवति अर्थ में ईनान्तों का निपातन ७।१।१०–१ ४ सूत्रों से गामिनि–अर्थ में ईन ७।१।१ ५ से इनान्तों का निपातन, ७।१।१ ६–१ ७ सूत्रों द्वारा स्वार्थ में ईन ७।१।१ ८ से तुल्य अर्थ में क ७।१।१ ९–१११ सूत्रों द्वारा प्रत्ययनिषेध ७।१।११२—७।१।१२२ सूत्रों द्वारा तुल्य अर्थ में य इय एयञ् एयच्, अण् इक्, इकण् और यीकण् ७।१।१२३–१ ४ में वेर्विस्तृत–अर्थ में शाल, शङ्कट और कट, ७।१।१२६ से अवात्कनत—अर्थ में कुटार और कट अवा—शानत अर्थ में टीट नाट और भ्रट, ७।१।१२८ से नेर्नासानत—अर्थ में चिक और चिपिक ७।१।१२९ से नर्निरन्ध्र अर्थ में नि ड और बिरीस बाहुल्य–अर्थ में र ७।१।१२ सूत्र से समात और विस्तार अर्थ में कट और पट, ७।१।१३ से स्थान–अर्थ में गोष्ठ ७।१।१३६ स स्नेह अर्थ में तैल, ७।।१३९ से छादन अर्थ म इत ७।१।१४ से कन्यर्थ में प्रमाणार्थक शब्दों से मात्रट् एव ७।१।१४१ से षष्ठ्यर्थ में विभिन्न प्रत्ययों का विधान किया गया है। इसके पश्चात् संख्यार्थ मानार्थ अथवा पारिमाण काम–अर्थ सङ्घ–अर्थ स्वाद–अर्थ आपूप अर्थ पारिपि–अर्थ पूत–अर्थ कालिष्वि–अय पत्र–अर्थ, प्रश–अर्थ एव पक्षादि अथ में विभिन्न प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है।

हम की यह प्रत्यय प्रक्रिया पाणिनि की अपेक्षा सरल है। पाणिनि ने कुछ शब्दों के आगे ठक ठञ आदि प्रत्यय किए हैं तथा ठ को इक करने के लिए 'ठस्येकः' ७।३।५० सूत्र लिखा है। किन्तु हम ने सीधे ही इक कर दिया है। हम का यह प्रक्रियालाघव शब्दानुशासन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

द्वितीय पाद—

इस पाद का मुख्य वर्ण्य विषय संज्ञा–विशेषण बनाना है। सर्वप्रथम इस पाद में मतु प्रत्यय आता है। इसके बाद इन, इक, अक ठ, म तुप इक, आलुक, ईरस, उल, स, इल ग्मिन्, र, य, न, अण म ईर, इर ऊर मतु, व, अ विन्, मिन्, मल् य, इकण्, इन्, ईय क चरट्, अस तसु तस तप् दा ईयुस, युस ईं, या था, आमस पम, दृश्वस्, मुच आत् स्तात्, अत आत् आ, आहि स्वि, सात्, आ, डाच्, डच्, टीकम त्रिन्, पेल, कुस्सट, मात्रट, कार, चेय नीन तन स्न, तम टपम्, तिक एवं रूप प्रत्ययों का अनुशासन किया गया है।

इस पाद में जहाँ सूत्रों से काम नहीं चला है, वहाँ वृत्ति के आदेशों से काम लिया है। जैसे वाचाल या वाग्मी बनाने के लिए। पाणिनि ने व्यर्थ अधिक बोलने वाले के लिए वाचाल शब्द बनाया है तथा सार्थक और अधिक बोलने वाले के लिए वाग्मी। हेम के यहाँ वाचाल बनाने के लिए वाच आलाटौ ७।२।२४ सूत्र है। जिसका सूत्रानुसार अर्थ है—वाच शब्द के बाद आल प्रत्यय होता है और वाग्मी बनाने के लिए हेम ने 'ग्मिन् ७।२।२५ सूत्र लिखा है। दोनों सूत्र एक रूप से मत्वर्थ में आते हैं। उक्त सूत्रों के अनुसार वाचाल तथा वाग्मी दोनों का अर्थ समान होना चाहिए, जो ठीक नहीं। अतः हेम को वाच आलाटौ' ७।२।२४ की वृत्ति में क्षेपे गम्ये" अर्थात् आल प्रत्यय क्षेप–निन्दा अर्थ में होता है। अतः स्पष्ट है कि हेम ने वृत्ति में मात्र सूत्रार्थ को ही स्पष्ट नहीं किया है बल्कि कई विशेष बातों पर भी प्रकाश डाला है।

तृतीय पाद—

यह पाद प्रकृतार्थक मयट् प्रत्यय से प्रारम्भ होता है। प्रकृत का अर्थ स्वयं हेमचन्द्र ने किया है— प्राचुर्येण प्राधान्येन वा कृतम्" ७।३।१ की वृत्ति अर्थात् प्राचुर्य या प्राधान्य के द्वारा किया गया। पाणिनि शास्त्र में सभी अव्यय तथा सर्वनामों में टि के पहले अकच् करना आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१ सूत्र का विधान किया है। हेम ने उक्त विधान का कुछ विशिष्टता के साथ बतलाने के लिए त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक् ७।३।२९–३ सूत्र बनाये हैं। जहाँ पाणिनि ने टच् आदि सभी समासान्तों को तद्धित मान कर तद्धित कार्य किया है, पर उनका स्थान समासान्त प्रकरण में ही दिया है, वहाँ हेम ने सभी समासान्तों (समास के अन्त में होने वाले प्रत्ययों) को तद्धित प्रकरण में रख कर तद्धित माना है।

इस पाद में मुख्य रूप से विभिन्न समासों के बाद जो जो प्रत्यय आते हैं उन सब का सन्निवेश किया गया है। यह समासान्त तद्धित प्रत्ययों का प्रकरण ७।३।६९ से आरम्भ होकर ७।३।१८२ सूत्र तक निरन्तर चलता रहता है। यद्यपि इस पाद के आरम्भ में कुछ दूसरे प्रकार के प्रत्ययों का भी संग्रह है परन्तु-प्रधानता समासान्त तद्धित प्रत्ययों की ही है।

इस प्रकरण के यहाँ आने का एक विशेष कारण भी है। यतः जिन समास के बाद समासान्त तद्धित प्रत्यय आते हैं वे प्रायः सम्पूर्ण शब्द को विशेषण बना देते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने सप्तम अध्याय के द्वितीय पाद से ही संज्ञा-विशेषणों का कथन आरम्भ कर दिया है। अतः इस पाद में संज्ञा विशेषणों की व्युत्पत्ति के लिए समासान्त तद्धित प्रत्ययों को स्थान दिया।

चतुर्थ पाद—

इस पाद में मुख्य रूप से तद्धित प्रत्ययों के आ जाने के बाद स्वर में जो विकृति होती है उसी का निर्देश किया गया है। णित् (जिस प्रत्यय से ण् हटा हो) अथवा ञित् (जिस प्रत्यय से ञ् हटा हो) तद्धित प्रत्यय के बाद में हो तो पूर्व स्थित नाम के आदिम स्वर की वृद्धि होती है। जैसे दक्ष+इञ्=दाक्षि, मनु+अण्=मानव इत्यादि। यहीं से ही यह पाद प्रारम्भ होता है। उक्त प्रत्ययों के संयोग में और भी कई तरह के कार्य होते हैं तथा कहीं कहीं पर उन उन कार्यों का निषेध भी किया गया है। विधि एवं—निषेध के द्वारा प्रवृत्त प्राप्ति-जिसमें कई कार्य आते हैं—७।४।६ में समाप्त होती है। ६ वाँ सूत्र वैकल्पिक लुक् करता है। अतः यहाँ से लुक् करनेवाले सूत्र प्रवृत्त होने लगे हैं। लुक् का प्रकरण ७।४।७१ सूत्र पर समाप्त होता है। इसके बाद ७।४।८० सूत्र तक शुद्ध लुक् का प्रकरण है। ७।४।८१ से नित् लुक् का प्रसंग है, जो द्वित्व प्रकरण के अन्दर ही प्रकरणवश आ गया है। इसीलिए आगे भी पुनः द्वित्व प्रकरण छूटने नहीं पाया है। द्वित्व की समाप्ति ८० वें सूत्र से की गई है। इसके आगे प्लुत का प्रकरण आया है। हेम ने प्लुत करनेवाले सूत्रों को इसी पाद में रखा है।

अनन्तर इसी पाद में कुछ ऐसे सूत्र आते हैं जो एकदम अप्रासंगिक हैं अथवा सामान्य सूत्र होने के कारण अन्त में न रखकर आरम्भ में रखने लायक हैं। ७।४।१०४ सूत्र से लेकर ७।४।११८ तक सभी सूत्र परिभाषा-सूत्र हैं। वे सूत्र बाधकारी सूत्रों के मार्गदर्शक हुआ करते हैं। इसके बाद १ तथा ११ सूत्र स्थानिवद्भाव करनेवाले तथा १११ और ११२ में दो सूत्र स्थानिवद्भाव के निषेधक हैं। इसी प्रकार इस पाद की समाप्ति तक के सभी सूत्र या तो

परिभाषा-सूत्र हैं या अतिदेश सूत्र, जिनकी विशेष रूप से तद्धित प्रकरण में कोई आवश्यकता नहीं है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हेम ने इन सूत्रों को इस तद्धित प्रकरण में क्यों जोड़ा? इनका यह जोड़ना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। विचार करने पर ज्ञात होता है कि—ग्रन्थारम्भ में सर्वप्रथम हेम ने सामान्य रूप से संज्ञाओं का प्रकरण दिया है। इसके अनन्तर विभिन्न सन्धियाँ आयी हैं, पश्चात् स्यन्तप्रकरण कारकप्रकरण, स्त्रीप्रत्यय समास, कृदन्तवृत्ति, एवं तद्धितवृत्ति-प्रकरण आये हैं। इन प्रकरणों में भी कहीं भी परिभाषाविषयक तथा अतिदेश सूत्रों को रखने की गुंजाइश मालूम नहीं होती। वास्तव में उपर्युक्त सभी प्रकरण विशेष-विशेष रूप से अपने-अपने कार्य करने वाले हैं। अतएव तद्धित के अन्त में इन सामान्य सूत्रों को जोड़ा गया है।

इस विचार-विनिमय के उपरान्त यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उक्त सामान्य सूत्रों का एक अलग पाद ही क्यों न निर्मित कर दिया गया। इस जिज्ञासा का समाधान भी स्पष्ट है कि उक्त प्रकार सूत्र ७।४।१०४ से ७।४।१२२ तक सब मिलाकर १९ ही हैं। अतः यह सम्भव नहीं था कि इतने थोड़े से सूत्रों को लेकर एक पृथक् पाद निर्मित किया जाता।

यहाँ एक शंका और बनी रह जाती है कि अतिदेश सूत्रों के पूर्व प्लुत सूत्र क्यों आये? पहले अध्याय के दूसरे पाद में असन्धि-प्रकरण आ चुका है। जिसमें प्लुत सम्बन्ध कार्य भी है, इस शंका का समाधान हमारे मत से यह हो सकता है कि प्रथम अध्याय का विषय है सन्धिका अभाव। जिन २ साधनों के रहने पर सन्धियाँ नहीं होती हैं उन बातों को असन्धि प्रकरण में रख दिया गया है। यहाँ आया हुआ प्लुत भी साधन के रूप में ही उपस्थित है। इस सकल शब्दानुशासन के अन्तिम अध्याय के अन्तिम पाद में विरुद्ध प्रक्रिया का आना यथार्थ है। ज्ञातव्य है कि द्वित्व प्रकरण में ही ७।४।८२ में प्लुत विधान भी आ गया है अतः ७।४।८२ वाँ सूत्र दोनों कार्य करता है। यहाँ प्लुत-द्वित्व-संयुक्त होकर आये हैं। अतः इनका समावेश यहाँ ही होना सर्वथा उपयुक्त है। द्वित्व तद्धित में प्लुत का सन्निवेश हेम की मौलिकता प्रकट करता है, जिसका पाणिनीय शास्त्र में बिलकुल अभाव है। ऐसा मालूम होता है कि हेम के समय में इस प्रकार के प्लुतों का प्रयोग बढ़ गया था; जिनका संकलन करके हेम को अपनी भाषा-शास्त्रीय प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर मिला।

तृतीय अध्याय

हैम शब्दानुशासन के खिलपाठ

व्याकरण शास्त्र के सूत्र-रचयिता सूत्रपाठ को लघु बनाने के लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयों को जिन ग्रन्थों में सम्बद्ध करते हैं, वे शब्दानुशासन के खिलपाठ या परिशिष्ट कहलाते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासन के धातुपाठ, गणपाठ उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। हैम शब्दानुशासन के उक्त सभी खिलपाठ उपलब्ध हैं।

धातुपाठ—धातुपारायण व्याकरण का एक उपयोगी अंग माना जाता है। साथ धातु-परिज्ञान के अभाव में व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान अधूरा ही माना जाता है। हेम ने हैमधातु-पारायण नामक व्याख्यारूप में स्वोपज्ञ ग्रन्थ लिखा है, जिसका आदि श्लोक निम्न है—

> श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणनिवेशिताम् स्वकृतधातून् ।
> आचार्य-हेमचन्द्रो विवृणोत्यर्ह नमस्कृत्य ॥

धातुपारायण की विवृति में बताया गया है—

इह तावत्पदपदार्थज्ञानद्वारेणेतस्मिन् हेयोपादेयज्ञान च नयनिक्षेपादिभिरधिगमोपायैः परमार्थतः। व्यवहारतस्तु प्रकृत्यादिभिरिति। पूर्वाचार्यप्रसिद्धा एव सुखग्रहणस्मरणकार्यसंसिद्धये विशिष्टानुबन्धसम्बन्धक्रमाः सहार्थेन महत्यः प्रस्तूयन्ते। तत्र यद्यपि नामधातुपदभेदात् त्रेधा जयति।

इस वृत्ति में धातु प्रकृति को दो प्रकार की माना है—शुद्धा और प्रत्ययान्ता शुद्ध में भू गम् पठ्, कृष् आदि एवं प्रत्ययान्ता में गोपाय कामि चुचुरय कण्डूय बोभूय बोभू चोरि भावि आदि परिगणित हैं। हेम ने प्रत्येक धातु के साथ अनुबन्ध की भी चर्चा की है। इन्होंने अनिट् धातुओं में अनुस्वार का अनुबन्ध माना है, यथा पा पाने शुं क्रं आक्रोशे आदि (धा पा २ १७) आदि। उभयपदी धातुओं में ञ अनुबन्ध बतलाया है। ऐसा लगता है कि हेमने पाणिनि के धातु अनुबन्धों में पर्याप्त उलट फेर किया है।

हैम अनुबन्ध	पाणिनीय अनुबन्ध
इ (ङ)	ङ्
ई (ण)	ञ्
उ	इ
ऊ	उ
ऋ	इर्
ए	ई
औ	ऊ

हेम धातुपाठ में कुल १ ८ धातुएँ उपलब्ध हैं। इनका क्रम निम्न प्रकार है—

भ्वादिगण	अनुबन्धाभाव	१ ५८
अदादिगण	क् अनुबन्ध	७१+१४
×	×	×
दिवादिगण	च् अनुबन्ध	१४२
स्वादिगण	ट् ,,	२१
तुदादिगण	त् ,,	१५८
रुधादिगण	प् ,,	२१
तनादिगण	य् ,,	९
क्र्यादिगण	श्	६
चुरादिगण	ण् ,,	४११

हेम की कुछ धातुओं के अर्थ बहुत ही सुन्दर हैं, इन अर्थों से भाषा-सम्बन्धी अनेक प्रवृत्तियाँ अवगत होती हैं। यथा—

कुसी धातु को बीजसन्तान अर्थ में, चक्क को निर्वाप अर्थ में, लोड़ को पान अर्थ में, अम्, द्रम्, जिम को भोजन अर्थ में, पूली को तृणोच्चय अर्थ में और मुच्छ् के आक्षेप तथा मर्दन अर्थ में माना है।

आचार्य हेम ने धातुपाठ में धातुओं को अर्थसहित गद्य के अतिरिक्त पद्य में भी ग्रथित किया है। ये पद्य इनके पर्याप्त सरस हैं[1]।

> गुरुवस्तेपर्गुरुरस्तामेः कष्टमस्तोपदर्शि।
> कुत्सिकम्मगुत्प्रानिष्कुप्राठीव त स्मरः॥
> नीपामोम्बोधमपस्वप मेकस्तोकम्पति मे मनः।
> पवमो बीजबम्मासा ममाशाशुष्कुम्पति॥

इस प्रकार हेम का धातुपाठ ज्ञानवर्धन होने के साथ मनोरंजक भी है।

गणपाठ—जितने शब्द-समूह में व्याकरण का एक नियम लागू होता है उतने शब्द-समूह को गण कहते हैं। हेमने अपने संस्कृत और प्राकृत दोनों प्रकार के शब्दानुशासनों में गणों का उल्लेख किया है। कितने ही गणों का पता तो बृहद् वृत्ति से लग जाता है पर ऐसे भी कुछ गण हैं जिनका पता उस वृत्ति से नहीं लग पाता। अतः विजयनीति सूरि ने सिद्ध हैम बृहत्प्रक्रिया में हेम के सभी गणपाठ दिये हैं।

हेमने ३।१।६२ में भिक्षादि गण का निर्देश किया है। इसमें भिक्षा अर्थात् पठित गण आचार्य भास, आपव गामिन् अगामिन् शब्दों को रखा है।

१—धातुपारायण १ निवृत्ति पृ० १८७

प्रियादिगण में प्रिया, मनोज्ञा, कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा स्वा, कान्ता क्षान्ता, वामना समा, सचिवा, चपला, बाला, तनया, दुहितृ, और भक्ति शब्दों को परिगणित किया है। हेमने व्याकरण के लिए उपयोगी गणपाठों का पूर्ण निर्देश किया है।

उणादिसूत्र—

हेम ने 'उणादयः' ५।२।९३ सूत्र लिखकर उणादि का परिचय कराया है। इस सूत्र के ऊपर 'सत्यर्थाद् धातोरुणादयो बहुलं स्युः' वृत्ति लिखकर सत्यक धातुओं से उणादि प्रत्ययों का अनुशासन किया है। उण् सूत्र को आरम्भ कर "कृ-वा-पा-जि-स्वदि-साध्य-शौ-दृ-स्ना-सनि-जनि-रहि-भ्य उण्" लिखा है। यथा—कृ + उण = कारु: कारुर्शिल्प्यादि वा + उण = वायु।

उणादि द्वारा निष्पन्न कितने ही ऐसे शब्द हैं, जिनसे हिन्दी-गुजराती और मराठी भाषा की अनेक प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है। यथा—कर्कर चुड़मणा = चकर कंकड़ गर्गरी महाकुम्भ = गागर: दवणे—गुन = गोर गोबर, पताका वैजयन्ती = पताका पताका।

उणादि सूत्रों के ऊपर हेम की स्वोपज्ञ वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका आरम्भिक श्लोक निम्न प्रकार है—

श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणनिवेशिनामुणादीनाम्।
आचार्यहेमचन्द्रः करोति विवृतिं प्रणम्यार्हम्॥

लिङ्गानुशासन—

संस्कृत भाषा का पूर्ण अनुशासन करने के लिए हेम ने 'हैमलिङ्गानुशासनम्' लिखा है। पाणिनि के नाम पर भी एक लिङ्गानुशासन उपलब्ध है, पर यह पाणिनि का है या नहीं इस पर आज तक विवाद है। अतः अष्टाध्यायी के मूल सूत्रों के साथ लिङ्गानुशासन करने वाले सूत्रों का सम्बन्ध नहीं है। अतः ऐसा मालूम होता है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाने के लिए लिङ्गानुशासन का प्रकरण पीछे से जोड़ दिया गया है।

अमर कवि ने अमरकोष में भी लिङ्गानुशासन का प्रकरण रखा है। उन्होंने श्लोकबद्ध शैली में प्रत्यय एवं अर्थ-साम्य के आधार पर शब्दों का वर्गीकरण कर लिङ्गानुशासन किया है। अनुभूति स्वरूपाचार्य के द्वारा लिखित लिङ्गानुशासन भी उपलब्ध है पर हेम का यह लिङ्गानुशासन अपने ढंग का अनोखा है। हैम लिङ्गानुशासन की अवचूरि में बताया गया है—"लिङ्गानुशासनमन्तरेण शब्दानुशासनं नातिफलवदिति सामान्यविशेषलक्षणाभ्यां लिङ्गमनुशिष्यते"। अर्थात् लिङ्गानुशासन के अभाव में शब्दा

नुशासन अधूरा है, अतः सामान्य-विशेष शब्दों द्वारा लिङ्ग का अनुशासन किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने अपने शब्दानुशासन में पूर्णता लाने के लिए लिङ्ग पाठों के अन्तर्गत लिङ्गानुशासन को स्थान दिया है। हेम के इस लिङ्गानुशासन में जितने अधिक शब्दों का संग्रह है, उतने अधिक शब्द किसी भी लिङ्गानुशासन में नहीं आये हैं।

हेम ने अपना लिङ्गानुशासन अमरकोष की शैली के आधार पर लिखा है। पद्यबद्धता के साथ इसमें स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग और नपुंसक इन तीनों लिङ्गों में शब्दों का वर्गीकरण भी बहुत अंशों में अमर कवि के ढंग का है इतना होने पर भी हैम लिङ्गानुशासन में निम्न विशेषताएं विद्यमान हैं—

१—हेम ने यथोचित स्थान पर अक्लिष्ट प्रकार के अनुकूल शब्दों को रखकर तथा पद्यबद्धता के कारण गेयता का समावेश कर शब्दों के लिङ्ग ज्ञान को सहज, सुगम और बोधगम्य बनाने का अद्वितीय प्रयास किया है। रचनाक्रम में चारुता के साथ मोहकता और सम्यता भी विद्यमान है।

२—हेम ने इसमें विशाल शब्दराशिका संग्रह किया है। इसमें आये हुए शब्दों के सार्थ संकलन से एक बृहद् शब्दकोष तैयार किया जा सकता है। यही कारण है कि हैम लिङ्गानुशासन की अवचूरि एक छोटा सा कोष बन गयी है। हेम ने रुचिर ललित और कोमल शब्दों के साथ कटु और कठोर शब्दों का भी संकलन किया है।

३—इस लि ानुशासन में शब्दों का संग्रह विभिन्न साम्यों के आधार पर किया गया है।

४—तीनों लिङ्गो मे शब्द-संग्रह की दृष्टि से विशेषण के विभिन्न लिङ्गोंकी चर्चा भी की गयी है। इस चर्चा द्वारा उक्त तीनों लिङ्गों की शब्दावली का वर्गीकरण भी किया गया है।

५—एकशेष द्वारा शब्दों के लिङ्ग-निर्णय की चर्चा की है। यों तो इस तरह की चर्चाएँ पाणिनीय तन्त्र में भी उपलब्ध होती हैं किन्तु हेम का यह प्रकरण मौलिक है।

६—प्रकरण की दृष्टि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हेम ने नाना प्रकार के नानार्थवाची शब्दों को स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग भेदों में विभक्त किया है।

७—अर्थ एवं शब्द व्युत्पत्तियों को ध्यान में रखकर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हेम ने इस लिङ्गानुशासन में विभिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग एक साथ अनुप्रास लाने तथा लालित्य उत्पन्न करने के लिए किया है।

इन उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त शब्द-संकलन के भेदों पर विचार

कर लेने से इस ग्रन्थ के वैशिष्ट्यों का पता और भी सहज में लग जायगा। समस्त विविध शब्दों को निम्न प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है।

१—सामान्यतया प्रत्ययों के आधार पर
२—अन्तिम अकारादिवर्णों के क्रम पर
३—शब्द-साम्य के आधार पर
४—अर्थ-साम्य के आधार पर
५—विषय के आधार पर
६—वस्तु विशेष या वाचक विशेष की समता के आधार पर

अब क्रमशः प्रत्येक प्रकार के वर्गीकरण पर थोड़ासा विचार कर लेना आवश्यक है। हेम ने अपने लिङ्गानुशासन के पहले श्लोक में क ट ण थ प म भ य र ष सान्त तथा स्वन्त शब्दों को पुल्लिङ्ग बतलाया है। हेम ने इस स्थल पर शब्दों का चयन प्रत्ययों के आधार पर ही किया है। पाणिनीय लिङ्गानुशासन तो समूचा ही प्रत्ययों के आधार पर व्यवस्थित है। पर हेम ने कुछ ही शब्दों का चयन प्रत्ययों के आधार पर किया है। पाणिनि की अपेक्षा इस लिङ्गानुशासन में शैलीगत भिन्नता के अतिरिक्त और भी कई नवीनताएँ विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

पुंलिङ्गकटणथपमभयरषसस्वन्तान्ताभिमनखे किरिवत्।
म नखोपधघोपोदः किमपि खाऽकर्तरि च कः स्यात् ॥

अर्थात् कप्रत्ययान्त आनक आदि टप्रत्ययान्त कपाट आदि णप्रत्ययान्त गुण आदि; थप्रत्ययान्त निशीथ शपथ आदि पप्रत्ययान्त स्तूप आदि मप्रत्ययान्त धर्म आदि; भप्रत्ययान्त गोधूम आदि यप्रत्ययान्त भागधेय आदि रप्रत्ययान्त निर्झर आदि; षप्रत्ययान्त गवाक्ष आदि सप्रत्ययान्त कार्पास हंस आदि तुप्रत्ययान्त तर्कु मन्तु आदि; अन्त प्रत्ययान्त पर्यन्त सिद्धान्त आदि इमन् प्रत्ययान्त प्रथिमा प्रदिमा द्रढिमा आदि; न और नङ् प्रत्ययान्त स्वप्न विज्ञान प्रश्न विघ्न आदि घ और घञ् प्रत्ययान्त कर, पाद, भाव आदि; भाव अर्थ में खप्रत्ययान्त आशितम्भवः आदि एवं अकर्तरि अर्थ में कप्रत्ययान्त आखूत्थ, विघ्न आदि शब्दों को पुल्लिङ्ग बताया है।

हेम लिङ्गानुशासन में प्रत्ययों का आधार वाला क्रम अधिक दूर तक नहीं अपनाया गया है। शब्दों को विविधों में विभक्त कर यथोचित रूप से उन्हें क्रमपूर्ण किया है।

हेम शब्दानुशासन में शब्दों के लिङ्गों की सूचना नहीं दी गयी है, अतः हेम को लिङ्गानुशासन के द्वारा शब्दों के लिङ्गों का निर्देश करना अभीष्ट था।

पाणिनि ने प्रत्ययों की चर्चा कर प्रायः तद्धितान्त और कृदन्तान्त

शब्दों का ही संकलन किया है। यह संकलन हेम की अपेक्षा बहुत छोटा है। हेम ने व्याकरण का आधार लेकर शब्द के अन्तरंग और बहिरंग व्यक्तित्व को पहिचानने की चेष्टा की है।

हेम का लिङ्गों में शब्दों का पूर्वोक्त विधा क्रम से निर्देश करना उनके सफल वैयाकरण होने का प्रमाण है।

अनुभूति स्वरूपाचार्य ने भी पाणिनि के आधार पर प्रत्ययों के अनुसार या अर्थों के कोशित शब्दों के आधार पर लिङ्गी शब्दों की एक लम्बी तालिका दी है। परन्तु इस तालिका को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हेम की तालिका की अपेक्षा उक्त तालिका अत्यन्त छोटी है। अतएव वैयाकरण हेम का महत्त्व शब्दानुशासन के लिए जितना है, उससे कहीं अधिक लिङ्गानुशासन के लिए है। लिङ्गानुशासन में अभिहित शब्दों का विवेचन, उनकी विविधता, क्रमबद्धता आदि का सूचक है।

प्रत्ययों के आधार पर पुल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन हेम ने उपर्युक्त श्लोक में किया है। स्त्रीलिङ्गी शब्दों के संकलन में प्रत्ययों का आधार गृहीत नहीं है। अपि तु यह क्रम नपुंसकलिंग विधायक शब्दों में भी पाया जाता है। यथा—

> द्वन्द्वैकत्वाव्ययीभावौ क्रियाव्ययविशेषणे।
> कृत्याः क्तानाः खलु तिन् भावे त्वाद्यण्-ष्यादि समूहजाः ॥ ९ ॥
> गायत्र्याद्यण् व्यार्थेऽव्यक्तसमानमेकमेधारकः ।
> तत्पुरुषो बहूनां चेच्छायाशालां विना सभा ॥ १० ॥

(नपुंसकलिङ्ग प्रकरण)

अर्थात्—द्वन्द्वैकत्व शब्द गुरुलघु, अव्ययीभाव में एकत्व-विधायक शब्द दण्डादण्डि, पञ्चनद, पारेगङ्गम् आदि क्रियाविशेषण साधु पचति शोभनं गच्छति आदि अव्यय के विशेषण उच्चैः प्रभूतम् आदि भाव अर्थ में विहित कृत्य क्तानाः, खल तिन् आदि प्रत्ययान्त शब्द तथा कार्यं, पाक्यं कर्तव्यं करणीयं, देयं ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं हसनम्, पेचानम् निर्वाणम्, सुरार्थ भर्गं क्षारोत्तिकम्, यात्रिकम् कापोतम् स्त्रैणम्, पारुष्यम् आचार्यकम् होत्रीयम् भैक्षम्, औपगवकम्, कैदार्यम् कावचिकम् माथीयम् पाश्यम् शौक्यम् पौरुषेयम् आदि शब्द नपुंसकलिङ्गी होते हैं। गायत्री आदि में स्वार्थिक अण् प्रत्ययान्त शब्द गायत्रम्, आनुष्टुभम् आदि; अव्यक्त क्रियावाची शब्द जैसे कि तस्या गर्भे चलम्, मत्वोत्पद्यते तत्त्वनय आदि शब्द नपुंसकलिङ्गी होते हैं।

नञ् समास और कर्मधारय समास को छोड़कर अन्य छायान्त तत्पुरुष समासान्त प्रयोग नपुंसकलिङ्गी होते हैं। जैसे—इक्षुच्छायम्, वृक्षच्छायम् आदि शब्द। शाला अर्थ को छोड़ शेष अन्य अर्थों के साथ सभा शब्द तथा तदन्तिक

तत्पुरुष समासान्त शब्द भी नपुंसकलिङ्गी होते हैं। जैसे—स्त्रीसभं, दासीसभं, मनुष्यसभं आदि सभान्त तत्पुरुष समासान्तवाची शब्द।

हेम ने उपर्युक्त आधार पर शब्दों का संकलन उभयलिङ्गी शब्दों के परिकरण के प्रकरण में भी किया है।

अन्तिम आकारादि वर्णों के क्रम से स्त्रीलिङ्ग के प्रायः सभी शब्द संकलित हैं। इस प्रकरण के ग्यारहवें श्लोक से २४ वें श्लोक पर्यन्त अन्तिम आकारान्त शब्दों का संग्रह किया गया है। २५ वें श्लोक से २९ वें श्लोक तक अन्तिम इकारान्त शब्द, ३ वें श्लोक से १२ वें श्लोक पर्यन्त अन्तिम ईकारान्त एवं १३ वें श्लोक में स्त्रीलिङ्गवाची अन्तिम उकारान्त तथा ह्रस्व शब्द संगृहीत हैं। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। इन श्लोकों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जायगा कि हेम का यह शब्द-संकलन कितना वैज्ञानिक है। पाठक को हेम-पठित क्रम से तत्तत् लिङ्गवाची शब्दों को ग्रहण करने में बड़ी सरलता का अनुभव होता है—

> भुवका पिपका कनीनिका शम्बूका शिबिका गवेधुका।
> कणिका केका विपादिका मल्लिका यूका मक्षिकाष्टका ॥ ११ ॥
> कूर्चिका कूचिका टीका कोशिका केणिकोर्मिका।
> अलोका शाविका धूका कालिका दीर्घिकोद्रिका ॥ १२ ॥
> वञ्जा चञ्चा कच्छा पिच्छा पिञ्छा गुञ्जा लज्जा प्रज्ञा।
> झञ्झा घण्टा घटा पोण्णा पोटा मिस्सटया छटा ॥ १४ ॥

अर्थात् उपर्युक्त श्लोकों में अन्तिम आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का संकलन किया गया है भुवका छिपका कनीनिका शम्बूका शिबिका, गवेधुका कणिका केका विपादिका मल्लिका यूका मक्षिका अष्टका कूर्चिका कूचिका टीका कोशिका केणिका उर्मिका अलोका शाविका धूका, कालिका दीर्घिका उद्रिका तथा चंचा कच्छा पिच्छा पिञ्छा गुञ्जा लज्जा प्रज्ञा झञ्झा घण्टा घटा पोण्णा पोटा मिस्सटा और छटा शब्दों को स्त्रीलिङ्गवाची माना है। इन शब्दों के संकलन पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि यह संकलन दो दृष्टिकोणों से किया गया होगा। प्रथम दृष्टिकोण तो शब्दसाम्य का भी हो सकता है और यहाँ उद्रिका तक के सभी शब्दों में का वर्ण का साम्य विद्यमान है। चञ्चा से लेकर छटा तक चवर्ग एवं टवर्ग का साम्य उपलब्ध है। अतः इस साम्य को शब्दसाम्य भी कहा जा सकता है।

इसी प्रकरण के आगे वाले शब्दों के साथ विचार करने से एक साम्य अन्तिम स्वरों में भी मिलता है। अर्थात् उपर्युक्त सभी शब्दों में अन्तिम आ वर्ण का साम्य विद्यमान है। यही अन्तिम स्वर वर्ण-साम्य दूसरा

दृष्टिगोचर हो सकता है। अन्तिम आकारान्त शब्दों के अनन्तर आने वाले इकारान्त और उकारान्त शब्दों से इस क्रम का स्पष्टीकरण और अधिक हो जायगा।

रुचिः सूचिसाची ग्लानिः ग्लानिगारी ग्रन्थिः श्रीलिङ्गश्री ऊर्मिर्वापि भूमी।
कृपिः स्यालिहिण्डी त्रुटिर्वेदिनाम्नी किकि कुक्कुटिः काकलिः शुक्तिरन्ध्री ॥१९॥

× × × ×

काण्डी गल्वी मठी घटी गोणी लण्डोत्प्येषणी सुमी।
तिलपर्णी केवली नाटी नलीपाटलसत्यौ च पाटली ॥ ११ ॥

अर्थात्—रुचि-कान्ति, सूचि-छेदनी साची-तिर्यग्, ग्लानि, ग्लानि—मान विशेष गल्वी-स्निग्धताकारि श्रीलि—श्रीलिका-भूमि-चित्र कर्णिका ऊर्मि-लहर वापि—कूप भूमि-पृथ्वी, कृपि-कार्यम् स्यालि-उला हिण्डी—रात्रि में घूमने वाले रक्षाचार त्रुटि-संशय और अल्प वेदि-यज्ञोपकरण भूमि नाम्नि—पुष्करादि किकि-पक्षिविशेष कुक्कुटि—कुट्टनी काकलि-ध्वनिविशेष, शुक्ति-कपाल शकल एवं पंक्ति-रन्ध्र संज्ञक शब्दों को स्त्रीलिङ्ग अनुशासित किया है। उपर्युक्त सभी शब्दों में अन्तिम इकार की उपलब्धि होती है। अतः इन्हें अन्तिम इकारान्त कहा गया है। काण्डी वेदविषयक ग्रन्थ गल्वी—हस्तपादाभरणाम्लरोग मठी-कुपिवस्तु विशेष, घटी—घटिका गोणी-धान्यभाजन विशेष लण्डोत्सी सरसी और तैलमान एषणी-वैद्यशलाका सुमी-कमलकोश, तिलपर्णी-रक्त चन्दन केवली-ज्योतिषग्रन्थ नाटी-नर्तकी नली-नाली, पाटली-महानस एवं पाटली-पाटला शब्द स्त्रीलिङ्गी है। हेमने उपर्युक्त शब्दों में अन्तिम ह्रस्व इकारान्त शब्दों के अनन्तर अन्तिम दीर्घ ईकारान्त शब्दों का संकलन किया है। इनके पश्चात् अन्तिम उकारान्त और ऊकारान्त शब्दों का संग्रह किया है। हेमने अन्तिम स्वरान्त शब्दों के पश्चात् व्यञ्जनान्त शब्दों का लिङ्गनिर्णय किया है।

हेम ने तीसरे प्रकार का शब्दसमूह शब्दसाम्य के आधार पर किया है। पुल्लिङ्गी स्त्रीलिङ्गी और नपुंसकलिङ्गी शब्दों को लिखते समय अन्तिम या आदि स्वर अथवा व्यञ्जन-साम्य के आधार पर शब्दों का चयन किया गया है। नीचे अन्तिम (क) के साम्य के आधार पर संकलित नपुंसकलिङ्गी शब्दों की तालिका दी जाती है। इस प्रकार के शब्द नपुंसकलिङ्ग प्रकरण में आये हैं। ८ वें श्लोक से लेकर ११ वें श्लोक तक अन्तिम ककारान्त ११ वें श्लोक के अन्तिम पाद तथा १२ वें श्लोक में अन्तिम खकारान्त गकारान्त घकारान्त चकारान्त छकारान्त और जकारान्त शब्दों का संग्रह किया है। १३ वें श्लोक में अन्तिम टकारान्त ठकारान्त और डकारान्त शब्दों का संकलन है। इसके आगे वाले श्लोकों में अन्तिम

ठकारान्त, डकारान्त, ढकारान्त, णकारान्त, तकारान्त, थकारान्त, दकारान्त, धकारान्त, नकारान्त, पकारान्त, फकारान्त, बकारान्त, भकारान्त एवं मकारान्त शब्दों का संकलन किया गया है। उदाहरणार्थ, वैनीतक, भ्रमरक, मरक, वल्मीक, कल्मीक, चषक, शुल्क, फलक, स्यमीक किशलक, कल्क, कणिक, स्तबक, शिक्य बस्तक, चूचुक तडाक, टङ्क, वाणक, कण्टक, मालक, मस्तक, मूलक, तिलक, पंक, पातक, कारक, करक, कन्दुक, अन्तुक, मनीक, निष्क चषक, विटपक, धाटक, कटक, यङ्क, विटङ्क, पञ्चक, कल्माष मेचक, नाक, पिनाक, पुस्तक, मस्तक, मुस्तक, धाक, कर्णिक, मोदक, मूषिक, मुष्क, चषालक, परक रोचक, कामुक, मल्लिक मालक, करवक, तलक भाराङ्क ग्रहक, सरक, कटक शुल्क निष्पाक, शर्कर और हलक शब्द अन्तिम ककारान्त होने से शब्दसाम्य के आधार पर नपुंसकलिङ्गवाचियों में पठित किये गये हैं।

शब्दसाम्य का यह आधार केवल अन्तिम शब्दों में ही नहीं मिलता बल्कि कहीं-कहीं तो नादानुकरण भी मिलता है जिससे समस्त शब्द गति स्थिति एवं नाद आदि के अनुकरण के आधार पर बिल्कुल मिलते-जुलते से दिखलायी पड़ते हैं। हेम ने उक्त प्रकार के शब्दों को लेकर और शब्द साम्य के आधार पर उनका वर्गीकरण कर शब्दों का चयन किया है। उदाहरण के लिए निम्न श्लोक उद्धृत हैं—

> गुन्द्रा मुद्रा क्षुद्रा भद्रा भस्त्रा छत्रा यात्रा मात्रा।
> दंष्ट्रा फेला वेला मेखा गोखा शाखा मास्ता ॥ २१ ॥
> मेखला सिध्मला लीला रसाला सर्वेला मला।
> कुशाला शष्कुला हेला शिला सुवचला कला ॥ २२ ॥
>
> (स्त्रीलिङ्ग प्रकरण)

उपर्युक्त पद्यों में आगत गुन्द्रा मुद्रा क्षुद्रा और भद्रा में, भस्त्रा छत्रा यात्रा मात्रा और दंष्ट्रा में एवं फेला वेला, मेखा गोखा, शाखा मास्ता मेखला सिध्मला लीला, रसाला सर्वेला मला कुशाला, शष्कुला हेला शिला सुवचला और कला शब्दों में केवल अन्तिम वर्ण की ही समता नहीं है, अपितु उक्त शब्दों के उच्चारण तत्त्व और भावीय तत्त्वों में पूर्ण समता है। अतः उपर्युक्त शब्दों में शब्द-साम्य माना ही जायगा। एक सामान्य व्यक्ति भी गुन्द्रा मुद्रा क्षुद्रा और भद्रा में शब्दसाम्य का अनुभव करेगा।

अतः हेम ने शब्द-संकलन का एक प्रमुख क्रम शब्दसाम्य माना है और इस आधार पर शब्दों का संचयन प्रायः समस्त लिङ्गानुशासन में बहुलता से उपलब्ध होता है।

कुणप, कमल नल, निगड, नील और मगध शब्दों को पुन्नपुंसकलिङ्गी बताया है। उपर्युक्त शब्दों के संकलन में दो या तीन शब्दों का एक क्रमविशेष मान कर शब्द-चयन किया है। जैसे—आस्फाल और फल में माल और पलाल में फलक और फल में, कपाट और विषाण में शूल, मूल और मुकुल में तल और तैल में तूल और कुड्मल में तमाल और कपाल में, कमल और प्रवाल में, बल और धम्मल में, उत्पल और उपल में, शील और शैल में, मण्डल और मङ्गल में, अंचल और कमल में मल और मुशल में, शाल और कुशल में, कमल और नल में एवं निगड, नील और मगध में एक अद्भुत प्रकार का साम्य है। अतः हेम ने लिङ्गानुशासन में शब्द-संकलन के समय शब्द साम्य पर पूरा ध्यान रखा है। हेम ने इस लिङ्गानुशासन में पुंल्लिङ्गी स्त्रीलिङ्गी नपुंसकलिङ्गी, पुं-स्त्रीलिङ्गी पुन्नपुंसकलिङ्गी स्त्री-नपुंसकलिङ्गी स्वतःस्त्रीलिङ्गी और परलिङ्गी शब्दों का संग्रह किया है। पुं-स्त्रीलिङ्गी शब्दों के संकलन में पुंल्लिङ्गी शब्दों को बताकर उन्हीं का स्त्रीलिङ्गी रूप ग्रहण करने का निर्देश किया है। यथा—

> विषकूपकम्बलबिल्वकर्णौ सहचरमुद्गरनालिकेरदाराः ।
> मदुरककुठरौ कुठारधारौ बदरमसूरकीशशालाः ॥ ८ ॥
> पटोलः कम्बलो मल्लो वंशो गण्डूषवेतसौ ।
> तामसो रभसो दर्विदर्विलसित्रुटयस्त्रुटिः ॥ ९ ॥

अर्थात् विष कूप कम्बल, बिल्व कर्ण, सहचर मुद्गर नालिकेर, दार, मदुर, कुठर कुठार, धार बदर, मसूर कीश शाल, पटोल कम्बल, मल्ल, वंश गण्डूष, वेतस तामस रभस दर्वि दर्विविलसि और त्रुटि इन स्त्रीलिङ्गी शब्दों को स्वयमेव ग्रहण करना पड़ता है।

हेम ने स्वतःस्त्रीलिङ्गी शब्दों का एक पृथक् प्रकरण रखा है। पाणिनि, अनुभूति स्वरूपाचार्य और अमर तीनों की अपेक्षा हेम का यह प्रकरण मौलिक है। यद्यपि प्रत्ययान्त शब्दों का निर्देश करते हुए पाणिनि ने स्त्रीलिङ्गी शब्दों के प्रकरण में स्वतःस्त्रीलिङ्गी शब्दों का निर्देश किया है, परन्तु उनका यह निर्देश मात्र निर्देश ही है। हेम ने उन सभी शब्दों का एक अलग प्रकरण बना दिया है, जिनका विशेषण-विशेष्य भाव के आधार पर लिङ्ग निर्धारण नहीं किया जाता है, बल्कि जिनमें स्वतः ही स्त्रीलिङ्ग विद्यमान है। ऐसे शब्दों की तालिका में मद्यपान अर्थ में तरक; आग्निष्टोमन् याज्यार्थ में धाम्य; अग्न्योपल अर्थ में वरक, बीजकोश लाङ्गलपिधान और प्रत्याकार अर्थ में कोश, कहार अर्थ में कम्ब वाम्य पक्ष और स्थान अर्थ में एक शब्द को स्वतः स्त्रीलिङ्ग कहा है। इसके आगे नक्षत्र अर्थ में अश्विनी चित्रा,

चतुर्थ अध्याय

हेमचन्द्र और पाणिनि

संस्कृत व्याकरण की रचना बहुत प्राचीनकाल से होती आई है। संस्कृत के प्रकाण्ड वैयाकरण महर्षि पाणिनि के पूर्व भी कई प्रभावशाली वैयाकरण हो चुके थे किन्तु पाणिनि के व्याकरण की पूर्णता एवं प्रभावशालिता के कारण सूर्य के सामने नक्षत्रों की भाँति उनकी प्रभा क्षीण हो गयी और व्याकरण जगत में पाणिनीय प्रकाश व्याप्त हो गया। इतना ही नहीं अपितु इस भास्कर प्रकाश के सामने बाद में भी कोई प्रतिभा उद्भासित नहीं हो सकी। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में एक ऐसी प्रतिभा ही इसके अपवाद रूप में जागरित हुई। यह प्रतिभा केवल प्रकाश ही लेकर नहीं आई अपितु उस प्रकाश में रसमयी शीतलता का सद्योग भी था। हेम ने शब्दानुशासन के साथ शब्दप्रयोगात्मक द्वयाश्रय काव्य की भी रचना की।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन को पाणिनीय शब्दानुशासन की अपेक्षा सरल बनाने की सफल चेष्टा की है, साथ ही पाणिनीय अनुशासन से अवशिष्ट शब्दों की सिद्धि भी बतलायी है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि शब्दानुशासन-प्रक्रिया में पाणिनीय वैयाकरणों के समस्त मस्तिष्कों से जो काम पूरा हुआ है, उसे अकेले हेम ने कर दिखाया है। सच कहा जाय तो इस दृष्टि से संस्कृत भाषा का कोई भी वैयाकरण चाहे वह पाणिनि ही क्यों न हो, हेम की बराबरी नहीं कर सकता। हमें ऐसा लगता है कि हेम ने अपने समय में उपलब्ध कातन्त्र पाणिनीय सरस्वतीकण्ठाभरण जैनेन्द्र शाकटायन आदि समस्त व्याकरण ग्रन्थों का आलोडन कर सारग्रहण किया है और उसे अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा विस्तृत और चमत्कृत किया है।

प्रस्तुत प्रकरण में शब्दानुशासन की समग्र प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए हेम की पाणिनि के साथ तुलना की जायगी और यह बतलाने का प्रयास रहेगा कि हेम में पाणिनि की अपेक्षा कौन सी विशेषता और मौलिकता है तथा शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम का विधान कैसा और कितना मौलिक एवं उपयोगी है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम के संज्ञाप्रकरण पर विचार किया जायगा और दोनों की तुलना द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की जायगी कि हेम की संज्ञाएँ पाणिनि की अपेक्षा कितनी सटीक और उपयोगी हैं।

गई है। यहाँ आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, कारकविशेषण और क्रियाविशेषणों का साक्षात् या परम्परया रहना। आगे वाले उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणों के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात को वाक्य कहा गया है। यहाँ विशेषण शब्द द्वारा केवल संज्ञाविशेषण का ही ग्रहण नहीं है, अपितु साधारणतः अप्रधान अर्थ लिया गया है और आख्यात को प्रधानता दी गयी है। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त भी है कि—वाक्य में आख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है। तात्पर्य यह है कि हेम की वाक्य परिभाषा सर्वांगपूर्ण है। इन्होंने इस परिभाषाका का समन्वय वाक्य प्रदेश "पदात्युष्मदस्मदेकवाक्ये वस्नसौ बहुत्वे" २।१।२१ सूत्र से भी माना है। पाणिनि या अन्य पाणिनीय तन्त्रकार वाक्यपरिभाषा को हेम के समान सर्वांगीण नहीं बना सके हैं। यों तो 'एकतिङ् वाक्यम्' से कामचलाऊ अर्थ निकल आता है और किसी प्रकार वाक्य की परिभाषा बन जाती है; पर समीचीन और स्पष्ट रूप में वाक्य की परिभाषा सामने नहीं आ पाती है। अतः आचार्य हेम ने वाक्य परिभाषा को बहुत ही स्पष्ट रूप में उपस्थित किया है।

हेम ने सात सूत्रों में अव्ययसंज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपातसंज्ञा को अव्ययसंज्ञा में ही विलीन कर लिया है। इन्होंने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह एक सरलीकरण का अनुपम प्रयास है। तत् प्रत्यय और संख्यावत् संज्ञाओं का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अतः इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। संज्ञाप्रकरण की हेम की संज्ञाएँ शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे आयी कारकीय संज्ञाएँ अर्थानुसारी हैं। पाणिनि के समान हेम की संज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक से अधिक शब्दार्थों को अपने अनुशासन प्राप्त कराना मालूम पड़ता है। अतः हेम ने पाणिनि की अपेक्षा कम संज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। यह सत्य है कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी संज्ञाओं का ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व दीर्घ प्लुत संज्ञाएँ पाणिनि में भी मिलती हैं किन्तु हेमने इन संज्ञाओं में स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रिमात्रिक को क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। वस्तुतः पाणिनि के ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७ सूत्र का भाव ही संक्षिप्त करके हेम ने एकमात्रिक द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण किया है। हेम के 'औदन्ताः स्वराः १।१।४ की अनुवृत्ति भी उक्त संज्ञाओं में विद्यमान है।

पाणिनि का कर्मसंज्ञा विधायक "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" १।४।४९ सूत्र है।

हेम ने इसी संज्ञा के लिए "तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः" १।१।१७ सूत्र लिखा है। इस संज्ञा के कथन में हेम की कोई विशेषता नहीं है, बल्कि पाणिनि का अनुकरण ही प्रतीत होता है। हाँ सवर्णसंज्ञा के स्थान पर हेम ने स्वसंज्ञा नाम करण कर दिया है। दोनों ही शब्दानुशासकों का एक सा ही भाव है।

हेम और पाणिनि की संज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहार के झमेले में नहीं पड़े हैं उनकी संज्ञाओं में प्रत्याहारों का बिलकुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को लेकर ही हेम ने संज्ञाविधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारों द्वारा संज्ञाओं का निरूपण किया है जिससे प्रत्याहारक्रम को स्मरण किये बिना संज्ञाओं का अर्थबोध नहीं हो सकता है। अतः हेम के संज्ञाविधान में सरलता पर पूर्णध्यान रखा गया है।

पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को व्यञ्जन-विकार कहा है। वास्तव में अनुस्वार मकार या नकारजन्य है। विसर्ग सकार या कहीं रेफजन्य होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः क ख तथा प फ के पूर्व स्थित विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने उक्त अनुस्वार आदि को अपने प्रत्याहार सूत्रों में—वर्णमाला में स्वतंत्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। उत्तर कालीन पाणिनीय वैयाकरणों ने इसकी बड़ी जोरदार चर्चा की है कि इन वर्णों को स्वरों के अन्तर्गत माना जाय अथवा व्यञ्जनों के। पाणिनीय शास्त्र के उद्भट विद्वान् कात्यायन ने इसका निर्णय किया कि इनकी गणना दोनों में करना उपयुक्त होगा। पाणिनीय तत्ववेत्ता पतञ्जलि ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। हेम ने अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को "अं अः ≍क ≍प शषसाः शिट्" १।१।१६ सूत्र द्वारा शिट् संज्ञक माना है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने अपने शब्दानुशासन में विसर्ग, अनुस्वार जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यञ्जनों में स्थान दिया है। हेम की शिट् संज्ञा व्यंजनवर्णों की है तथा व्यंजन वर्णों की संज्ञाओं में हेम ने उक्त विसर्गादि को स्थान दिया है। शाकटायन व्याकरण में भी अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यञ्जनों के अन्तर्गत माना है। ऐसा लगता है कि हेम इस स्थल पर पाणिनि की अपेक्षा शाकटायन से ज्यादा प्रभावित हैं। हेम का अनुस्वार, विसर्ग आदि का व्यंजनों में स्थान देना अधिक तर्कसंगत जंचता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि हेम ने अपनी आवश्यकता के अनुसार संज्ञाओं का विधान किया है। जहाँ पाणिनि के निरूपण में क्लिष्टता है वहाँ हेम में सरलता और व्यावहारिकता है।

पाणिनि ने जिसे अच् सन्धि कहा है हेम ने उसे स्वर सन्धि। हेम ने गुण

सन्धि में ॠ के स्थान पर अर् और ॡ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिए पृथक् "उरण् रपरः" १।१।५१ सूत्र लिखना पड़ा है। हेम ने इसे एक सूत्र की बचत कर १।२।६ सूत्र में ही उक्त कार्य को सिद्ध कर दिया है। हेम ने ऐ और औ को सन्धि-स्वर कहा है, पाणिनि और कात्यायन ने नहीं। उत्तरकालीन व्याख्याकारों ने इनकी सन्ध्यक्षरों में गणना की है।

पाणिनि में "एङि पररूपम्" ६।१।९४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद में ए ओ हो तो पररूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने "ओमाङि" समासे" १।२।१७ द्वारा लुक् का विधान किया है। पाणिनि ने अयादि सन्धि के लिए "एचोऽयवायावः" ६।१।७८ सूत्र का कथन कर समस्त कार्यों की सिद्धि कर दी है, किन्तु हेम को इस अयादि सन्धि कार्य के लिए "एदैतोऽयाय्" १।२।२३ तथा "ओदौतोऽवाव्" १।२।२४ इन दो सूत्रों की रचना करनी पड़ी है। स्वरसन्धि में हेम का "ह्रस्वोऽपदे वा" १।२।२२ बिल्कुल नवीन है। पाणिनि व्याकरण में इसका जिक्र नहीं है। मालूम होता है कि हेम के समय में "नदि एषा" और "नद्येषा" ये दोनों प्रयोग प्रचलित थे। इसी कारण इन्हें उक्त रूपों के लिए अनुशासन करना पड़ा। गव्यति, गव्यते नाव्यति नाव्यते, गव्यम् एवं नाव्यम् रूपों के साधुत्व के लिए हेम ने "व्यक्ये" १।२।२५ सूत्र लिखा है। इन रूपों की सिद्धि के लिए पाणिनि के "वान्तो यि प्रत्यये" ६।१।७९ तथा "धातोस्तन्निमित्तस्यैव" ६।१।८० ये दो सूत्र आते हैं। अभिप्राय यह है कि हेम ने गव्यम् और नाव्यम् की सिद्धि भी १।२।२५ से कर दी है, जब कि पाणिनि को इन रूपों के साधुत्व के लिए ६।१।८ सूत्र पृथक् लिखना पड़ा है। पाणिनि के पूर्वरूप और पररूप का कार्य हेम ने लुक् द्वारा चला लिया है। पाणिनि ने जिसे प्रकृतिभाव कहा है, हेम ने उसे असन्धि कहा है।

उ इति विति तथा ऊँ इति इन रूपों की साधनिका के लिए पाणिनि ने "उञः" १।१।१७ तथा "ऊँ" १।१।१८ ये दो सूत्र लिखे हैं। हेम ने उक्त रूपों की सिद्धि "ऊँ चोञ्" १।२।३९ सूत्र द्वारा ही कर दी है।

पाणिनि ने जिसे हल् सन्धि कहा है, हेम ने उसे व्यञ्जन सन्धि। हेम ने व्यञ्जन सन्धि में ककारादि क्रम से वर्णों का ग्रहण किया है, जब कि पाणिनि ने प्रत्याहारक्रम ग्रहण किया है। पाणिनि ने विसर्ग को जिह्वामूलीय और उपध्मानीय बताया है, पर हेम ने "र: कखपफयो ≍ क ≍ पौ" १।३।५ सूत्र में रेफ को ही विसर्ग तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय कहा है। जो काम पाणिनि ने विसर्ग से चलाया है, वह काम हेम ने रेफ से चलाया है।

हेम ने "नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुट् परे" १।३।८ सूत्र

द्वारा न को सीधे स बना दिया है, जब कि पाणिनि ने न = स = र = स क्रम रखा है, यही नहीं बल्कि अनुनासिक और अनुस्वार करने के लिए पाणिनि ने "अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा" ८।३।२ और "अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः" ८।३।४ इन दो सूत्रों को लिखा है। हेम ने उपर्युक्त सूत्र में ही इन दोनों सूत्रों को समेट लिया है। हेम ने १।३।१३ में पतञ्जलि के 'शमो वा लोपमेके' सिद्धान्त को अर्थात् सम् के म् का वैकल्पिक लोप होता है, को निहित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि हेम ने पाणिनीय तन्त्र का अवगाहनकर उनकी समस्त विशेषताओं को अपने शब्दानुशासन में स्थान दिया है तथा अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा सरलीकरण और संक्षिप्तीकरण की ओर भी ध्यान दिया है।

हेम ने 'सम्राट्' १।३।१६ सूत्र में सम्राट् शब्द लिखकर सम्राट् की सिद्धि मान ली है जब कि पाणिनि ने ८।३।२५ सूत्र में इसकी प्रक्रिया भी प्रदर्शित की है। हेम ने १।३।२२ सूत्र में र का लुक् कर दिया है। पाणिनि ने ८।३।१७ के द्वारा र को य बनाकर ८।३।२२ सूत्र से लोप किया है। हेम का क्रम यहाँ नितान्त वैज्ञानिक है। हेम ने १।३।१५ में अस्पष्ट और ईषत्स्पष्टतर में य और व का विधान किया है। पाणिनि ने ८।३।१८ में इन्हें लघुप्रयत्न कहा है।

हेम ने १।३।२८ में छ को द्वित्व किया है, जब कि पाणिनि ने ६।१।७३ द्वारा तुक् का आगम किया है पश्चात् त् को च् किया है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम का यह अनुशासन सरल होने के साथ वैज्ञानिक भी है, क्योंकि हेम छ को द्वित्व कर पूर्व छ को च कर देते हैं। पाणिनि तुक् आगम कर त् को च् बनाते हैं, इसमें प्रक्रिया गौरव स्पष्ट है।

पाणिनि का सूत्र है "आङ्माङोश्च" ६।१।७४। इसके द्वारा तुक किया जाता है, किन्तु हेम ने १।३।२८ के अनुसार आ मा को छोड़कर शेष दीर्घ पदान्त शब्दों से विकल्प से छ का विधान किया है। किन्तु वृत्ति के अनुसार आ मा के बाद छ का होना नित्य सिद्ध होता है, पर यह सत्य है कि उक्त सूत्र के अनुसार कथन में स्पष्टता नहीं आने पायी है।

हेम ने तच्छ्रयेते तच्छये में 'शत चिट्' १।३।३१ द्वारा श का द्वित्व किया है, जो हेम की मौलिकता का द्योतक है। हेम ने विसर्ग सन्धि का निरूपण पृथक् नहीं किया है बल्कि उसे रेफ बनाकर व्यंजन सन्धि में ही स्थान दिया है। हेम ने "रो रे लुग दीर्घश्चादिदुतः" १।३।४१ इस एक ही सूत्र में "रो रि" ८।३।१४ तथा "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" ६।३।१११ पाणिनि के इन दोनों सूत्रों के कार्यविधान को एक साथ रख दिया है।

हेम ने "शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा" १।३।५९ सूत्र में एक नया विधान किया है। बताया गया है कि श, ष, स के परे वर्गों के प्रथम अक्षर का द्वितीय अक्षर होता है, जैसे क्षीरम् ख्षीरम्, अप्सराः, अफ्सरा आदि। भाषाविज्ञान की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा लगता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम के समय में संस्कृत भाषा की प्रवृत्तियाँ लोकभाषा के अधिक निकट आ रही थीं। इसी कारण हेम का उक्त अनुशासन सभी संस्कृत वैयाकरणों की अपेक्षा नया है। यह सत्य है कि हेम को अपने समय की भाषा का यथार्थ ज्ञान था। उसकी समस्त प्रवृत्तियों की उन्हें जानकारी थी। इसी कारण उन्होंने अपने अनुशासन में भाषा की समस्त नवीन प्रवृत्तियों को समेटने की चेष्टा की है।

शब्दरूपों की सिद्धि को हेम ने प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में आरम्भ किया है। पाणिनि ने अजन्त की साधनिका आरम्भ करने के पूर्व "अर्थवद धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" १।२।४५ सूत्र द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा पर प्रकाश डाला है। हेम ने "अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम" १।१।२७ सूत्र में नाम की परिभाषा बतलायी है। पाणिनि ने जिसे प्रातिपदिक कहा है हेम ने उसको नाम कहा है। हेम की नाम संज्ञा में और पाणिनि की प्रातिपदिक संज्ञा में मात्र नाम का अन्तर है, अर्थ का नहीं। हेम ने इसी नाम संज्ञा का अधिकार मानकर विभक्तियों का विधान किया है। हेम शब्दानुशासन में पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त विभक्तियाँ ही प्रायः गृहीत हैं। केवल प्रथमा एकवचन में पाणिनि के सु के स्थान पर कातन्त्र के समान "सि" विभक्ति का विधान किया गया है। हेम ने १।४।१ सूत्र से 'अत' की अनुवृत्ति कर "भिस् ऐस्" १।४।२ सूत्र रचा है जो पाणिनि के "अतो भिस ऐस्" ७।१।९ के समान प्रभाव है।

पाणिनि ने "जश्शसोः शि" ७।१।२ के द्वारा जस् के स्थान में 'शि' होने का विधान किया है, हेम ने "जस इ" १।४।९ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर 'इ' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहाँ यदि केवल इ का विधान होता तो यह जस् के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता अत एव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शि का विधान किया। हेम के यहाँ इस तरह का कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहाँ जस् के स्थान पर किया गया "इ" का विधान समस्त जस् के स्थान पर होता है। अतः यहाँ हेम की लाघव दृष्टि प्रशंसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनामसंज्ञा नहीं की किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया गया है। जहाँ पाणिनि ने सर्वनाम को रखकर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोका है वहाँ हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नहीं

मानकर काम चलाया है। यह भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है।

पाणिनि ने आम् को साम् बनाने के लिए सुट् का आगम किया है, पर हेम ने "अवर्णस्यामः साम्" १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अदन्त स्त्रीलिंग में खट्वायै, खट्वायाः और खट्वायाम् की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत अधिक प्रायास किया है। उन्होंने "याडापः" ७।३।११३ सूत्र से याट् किया; पुनः वृद्धि की तब खट्वायै बनाया तथा दीर्घ करने पर खट्वायाः और खट्वायाम् का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।१७ सूत्र द्वारा सीधे यै, यास् और याम् प्रत्यय जोड़कर उक्त रूपों का सहज साधुत्व दिखलाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघवसूचक है।

मुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्वसवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने "इदुतोऽस्त्रेरीदूत्" १।४।२१ के द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का विधान किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानों को अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है।

"मुनौ" प्रयोग में पाणिनि ने "अच्च घेः" ७।३।११९ के द्वारा इ को अ और ङि को औ किया है, तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है, किन्तु हेम ने १।४।२५ के द्वारा ङि को डौ किया है जिससे यहाँ ड का अनुबन्ध होने के कारण मुनि शब्द का इकार स्वयं ही हट गया है, अतएव मुनि शब्द के इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

"देवानाम्" में पाणिनि ने नुट् का आगम किया है, किन्तु हेम ने "ह्रस्वापश्च" १।४।३२ के द्वारा सीधे आम् को नाम् कर दिया है। हेम ने पाणिनि के "त्रेस्त्रयः" ७।१।५३ सूत्र को ज्यों का त्यों "त्रेस्त्रयः" १।४।३४ में ले लिया है। इसी तरह "ह्रस्वस्य गुणः" ७।३।१०८ को भी १।४।४१ में ज्यों का त्यों ले लिया है। पाणिनि ने नपुंसक लिंग में कतरद् प्रयोग की सिद्धि के लिए "अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" ७।१।२५ सूत्र द्वारा सु और अम् विभक्ति को अद् का विधान किया है और अ का लोप किया है, पर हेम ने सि और अम् को सिर्फ "द" बनाकर कतरद् की सिद्धि की है। इससे इन्होंने अकार लोप को बचाकर लाघव प्रदर्शित किया है।

पाणिनि ने कुर्वत् शब्द से पुल्लिंग में कुर्वन् बनाने के लिए 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' ७।१।७० द्वारा "नुम्" और 'संयोगान्तस्य लोपः' ८।२।२३ द्वारा "त्" का लोप होने का नियमन किया है। हेम ने सीधे "ऋदुदितः" १।४।७० द्वारा "त्" के स्थान पर "न्" कर दिया है।

उष्णनस शब्द के सम्बोधन में रूप सिद्ध करने के लिए कात्यायन ने "अस्य सम्बुद्धौ वानङ् नलोपश्च वा वाच्य" वार्तिक लिखा है। इस वार्तिक के सिद्धान्त को हेम ने 'वोशनसोनश्चामन्त्र्ये सौ' १।४।८ में रख दिया है।

पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों का नाम लिया है, कहीं-कहीं ये नाम मात्र प्रशंसा के लिए ही आते हैं, किन्तु अधिकतर वहाँ उनसे सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया जाता है। जहाँ सिद्धान्त का प्रतिपादन रहता है, वहाँ स्वयमेव विकल्पार्थ हो जाता है। हेम ने अपनी अष्टाध्यायी में पूर्ववर्ती आचार्यों का नाम नहीं लिया है। विकल्प विधान करने के लिए प्रायः "वा" शब्द का ही प्रयोग किया है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों के विविधरूपों की सिद्धि के लिए हेम ने अपने सूत्रों में तद्रूपों को ही समाविष्ट कर दिया है, जब कि पाणिनि ने इन रूपों को प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया है।

इदं शब्द के पुल्लिंग और स्त्रीलिंग के एकवचन में रूप बनाने के लिए पाणिनि के अनेक नियम हैं। उन्होंने 'इदमो मः' ७।२।१०८ के द्वारा म विधान और 'इदोऽय् पुंसि' ७।२।१११ के द्वारा इद को अय विधान किया है। स्त्रीलिंग में "इयम्" बनाने के लिए पाणिनि ने 'यः सौ' ७।२।११० से इद् के "द" को "य" बनाया है, किन्तु हेम ने सीधे 'अयमियम् पुंस्त्रियो सौ' २।१।३८ के द्वारा अय और इयं रूप सिद्ध किये हैं। यहाँ पाणिनि की अपेक्षा हेम की प्रक्रिया सीधी सरल और हृदयग्राह्य है। हेम की प्रयोग-सिद्धि की प्रक्रिया से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे शब्दानुशासन में सरलता और वैज्ञानिकता को समान रूप से महत्त्व देते हैं। पाणिनि की प्रक्रिया वैज्ञानिक अवश्य है, पर कहीं-कहीं क्लिष्ट और बोझिल भी है। हेम अपनी सरल प्रक्रिया द्वारा प्रायः सर्वत्र ही क्लिष्टता के बोझ से मुक्त हैं।

पाणिनि ने त्यद् तद् आदि शब्दों के पुंल्लिंग में रूप बनाने के लिए 'त्यदादीनामः' ७।२।१०२ सूत्र द्वारा अकार का विधान किया है, इस प्रक्रिया में त्यद् आदि से लेकर द्विपर्यन्त का ही ग्रहण होना चाहिए इसके लिए भाष्यकार ने 'द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः' द्वारा नियमन किया है। हेम ने भाष्यकार के उक्त सिद्धान्त को मिलाते हुए 'आद्वेरः' २।१।४१ के द्वारा उसी बात को स्पष्ट किया है। पाणिनि ने अचि श्नुधातुभ्रुवांय्वोरियङुवङौ ६।४।७७ के द्वारा इ को इयङ् का विधान किया है। हेम ने 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये' २।१।५० के द्वारा इय उव मात्र का विधान कर एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

पाणिनि ने त्रिष्टुप शब्द की सिद्धि के लिए "क्रोष्टुः तृज्वत्" ६।४।१११

सूत्र द्वारा सम्प्रसारण किया है तथा णत्व विधान करने पर विद्रुप का लाघव प्रदर्शित किया है। हेम ने 'क्वसुष्मतौ च' २।१।१०५ सूत्र से विहस के वस् को उष कर दिया है। घ्नन्त बनाने के लिए पाणिनि ने हन् में से हकार के अकार का लोप कर ह् के स्थान पर घ् बनाने के लिए 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' ७।३।५४ सूत्र किया है। हेम ने हन् को 'हनो ह्नो घ्नः' २।१।११२ के द्वारा घ्नः बना दिया है। हेम का यह प्रक्रियालाघव शब्दानुशासन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय अनुशासन में उनके बाद के आचार्यों ने "क्रियान्वयित्वम् कारकत्वम्" अथवा "क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्" कहकर कारक की परिभाषा बतायी है, किन्तु पाणिनि ने स्वयं कोई चर्चा नहीं की है। हेम और पाणिनि दोनों ने ही कर्ता की परिभाषा एक समान की है। पाणिनि ने द्वितीयान्त कारक जिसे कर्मकारक कहते हैं, बताने के लिए कभी तो कर्मसंज्ञा की है और कभी कर्मप्रवचनीय तथा इन दोनों संज्ञाओं द्वारा द्वितीयान्त पदों की सिद्धि की है। "कर्मणि द्वितीया" तथा "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" सूत्रों द्वारा द्वितीया के विधान के साथ योग द्वितीयान्त का भी विधान किया है। हेम ने कर्मकारक बताते समय सर्वप्रथम कर्म की सामान्य परिभाषा 'कर्तुर्व्याप्यं कर्म' २।२।३ सूत्र में बतायी है, इसके पश्चात् विधिपरक, के सविधान में जहाँ द्वितीयान्त बनाना है, वहाँ कर्मकारकत्व का ही विधान है अर्थात् कर्म कह देने से द्वितीयान्त समझ लिया जाता है। हेम के अनुसार कर्म स्वतः सिद्ध द्वितीयान्त है, उसमें द्वितीया विभक्ति लाने के लिए सामान्यतः किसी नियमन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक बात यहाँ विशेष उल्लेखनीय है, वह यह है कि जहाँ पाणिनि ने यह स्वीकार किया है कि द्वितीयान्त बन जाने से ही कर्मकारक नहीं कहलाया जा सकता बल्कि उसमें कर्म की परिभाषा भी घटित होनी चाहिए, फिर भी द्वितीयान्त होने के कारण उन रूपों का भी कारक प्रकरण के कर्मभाग में समाहार किया गया है। अतः पाणिनि की दृष्टि में विभक्ति और कारक पृथक् वस्तु हैं। विभक्ति अर्थ की अपेक्षा रखती है, पर कारक शब्द सापेक्ष है। हेम ने भी 'क्रियाविशेषणात्' २।२।४१ तथा 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' २।२।४२ में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हेम का यह प्रकरण पाणिनि के समान ही है।

हेम का 'उपान्वध्याङ्वसः' २।२।२१ सूत्र पाणिनि के १।४।४८ के तुल्य तथा 'साधकतमं करणम्' २।२।२४ सूत्र पाणिनि के १।४।४२ के तुल्य हैं। पाणिनि ने "ध्रुवमपायेऽपादानम्" १।४।२४ सूत्र में 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या परवर्ती आचार्यों ने अवधि अर्थ द्वारा की है। हेम इस प्रकार के उल्लेख

में नहीं पड़े हैं। इन्होंने सीधे "अपायेऽवधिरपादानम्" २।२।२९ सूत्र लिखा है। पाणिनि के रचित सूत्र में सन्देह के लिये अवकाश था, जिसका निराकरण टीकाकारों द्वारा हुआ। परन्तु हेम ने सूत्र में ही अवधि शब्द का पाठ रख-कर अर्थ सन्देह की गुंजायश नहीं रखी है।

'सम्बोधने च' २।३। ७ पाणिनि का सूत्र है पर हेम ने "आमन्त्र्ये च" २।२।३२ सूत्र सम्बोधन का विधान करने के लिए लिखा है।

पाणिनीय तन्त्र में क्रियाविशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नहीं है, बाद के वैयाकरणों और नैयायिकों ने 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने 'क्रियाविशेषणात्' २।२।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में समाविष्ट कर लिया है।

पाणिनि ने 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' २।३।१६ सूत्र द्वारा अलं शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थक सभी शब्दों के योग में चतुर्थी का नियमन किया है इससे अधिक स्पष्टता आ गयी है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए उपर्युक्त सूत्र में अलं शब्द को पर्याप्त्यर्थक मानना पड़ता है। अन्यथा 'अलं महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि वाक्य अव्यवहृत हो जायेंगे। हेम व्याकरण द्वारा सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं, अतः किसी भी शक्त्यर्थक या पर्याप्त्यर्थक शब्द के साधुत्व में कहीं भी विरोध नहीं आता है।

पाणिनि ने अपादान कारक की व्यवस्था के लिए 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२४ सूत्र लिखा है, किन्तु इस सूत्र से उक्त कारक की व्यवस्था अधूरी रहती है। अत एव वार्तिककार ने वार्तिक और पाणिनि ने अन्य सूत्र लिखकर इस व्यवस्था को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकरण में 'जुगुप्साविराम प्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (वा वा), 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' १।४।२५, 'पराजेरसोढः' १।४।२६ 'वारणार्थानामीप्सितः' १।४।२७ 'अन्तर्धौ येनादर्शन मिच्छति' १।४।२८, 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' १।४।३०, 'भुवः प्रभवः' १।४।३१ 'पञ्चमी विभक्ते' २।३।४२ 'यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी' (वा वा) सूत्र और वार्तिक लिखे गये हैं। पर आचार्य हेम ने 'अपायेऽवधिरपादानम्" २।२।२९ इस एक सूत्र में ही उक्त समस्त नियमों को अन्तर्भुक्त कर लिया है। इस सूत्र की टीका में बताया है—"अपायश्च कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वको वा विभाग उच्यते तेन "बुद्धया समीहितैकत्वान् पञ्चालान कुरुभ्यस्तदा। बुद्धया विभजते वक्ता तदापायः प्रतीयते"॥ इत्यत्रापादानत्वं भवति। एवं अधर्माज्जुगुप्सते अधर्माद्विरमति धर्मात् प्रमाद्यति अत्र य प्रेक्षापूर्वकारी भवति स दुष्टोऽयमधर्म बुद्धया प्राप्य नानेन कृत्यमस्तीति ततो निवर्तते। नास्तिकस्तु बुद्धया धर्मं प्राप्य नेन करिष्यामीति ततो निवर्तते इति निवृत्त्यङ्गत्वात् जुगुप्साविरामप्रमादेष्वेते भावये

करणम् इति बुद्धिसम्प्राप्तिपूर्वकोऽपायः। यथा चौरेभ्यो बिभेति, चौरेभ्य उद्विजते चौरेभ्यस्त्रायते, चौरेभ्यो रक्षति, अत्र बुद्धिमान् यदा अपरिक्लेशकारित्वात् बुद्ध्या प्राप्य तेभ्यो निवर्तते, चौरेभ्यस्त्रायते इत्यत्रापि कश्चित् सुहृद् यदीमे चौराः पश्येयुरनमस्य धनमपहरेयुरिति बुद्ध्या तं चौरैः संयोज्य तेभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव। अध्ययनात् पराजयते, भोजनात् पराजयते, अत्रापि अध्ययनं भोजनं वाऽसहमानस्ततो निवर्तते इत्यपाय एव। यवेभ्यो गां रक्षति, यवेभ्यो गां निवारयति, कूपादन्धं वारयति इत्यादि गवादेर्यवादिसम्पर्कं बुद्ध्या समीक्ष्य तत्र विनाशं पश्यन् गवादीन् यवादिभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव। उपाध्यायादन्तर्धत्ते, उपाध्यायात् निलीयते मा मामुपाध्यायोऽद्राक्षीदिति तिरोभवति इत्यपायः। शृङ्गाच्छरो जायते ......।

इस प्रकार हेमचन्द्र ने पाणिनि के उक्त कार्यों का एक ही सूत्र में अन्तर्भाव कर लिया है। यद्यपि महाभाष्य में 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२४ में हेम की उक्त समस्त बातें पायी जाती हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि हेम ने महाभाष्य आदि ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन कर मौलिक और संक्षिप्त शैली में विषय को उपस्थित किया है।

पाणिनीय तन्त्र में जातिवाचक शब्दों के बहुवचन का विधान कारक के अन्तर्गत नहीं है। पाणिनि ने "जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" १।२।५८ सूत्र द्वारा विकल्प से जातिवाचक शब्दों में एक में बहुत्व का विधान किया है और अनुशासक सूत्र को तत्पुरुष समास में स्थान दिया है। पर हेम ने इसी तात्पर्यवाले 'जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत्' २।२।१११ सूत्र को कारक के अन्तर्गत रखा है। ऐसा मालूम होता है कि हेम ने यह सोचा होगा कि एकवचनान्त या बहुवचनान्त प्रयोगों का नियमन भी कारक प्रकरण के अन्तर्गत आना चाहिए। इसी आधार पर दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिम चार सूत्र लिखे गये हैं। हेम के कारक प्रकरण का यह अन्तिम भाग पाणिनि की अपेक्षा विशिष्ट है। उक्त चारों सूत्र एकार्थ होने पर भी बहुवचन विभक्तियों के विधान का समर्थन करते हैं। विभक्ति-विधायक किसी भी तरह के सूत्र को कारक से सम्बद्ध मानना ही पड़ेगा। अतः इन चारों सूत्रों का यद्यपि विभक्ति नियमन के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परम्परागत सम्बन्ध तो है ही किन्तु विभक्त्यर्थ के साथ एकवचन या बहुवचन के नियमन का सीधा सम्बन्ध नहीं है, इसी कारण हेम ने इन्हें कारक प्रकरण के मध्य में स्थान नहीं दिया। कारक के साथ उक्त विधान का पारस्परिक सम्बन्ध है, यह बात बतलाने के लिए ही इन्होंने कारक प्रकरण से दूर कर के उसीके अन्त में ग्रथित किया है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी का स्त्रीप्रत्यय प्रकरण चौथे अध्याय के प्रथम पाद से आरम्भ होकर ७७ वें सूत्र तक चलता है। आरम्भ में सुप् प्रत्ययों का विधान है। इसके पश्चात् तृतीय सूत्र "स्त्रियाम्" ४।१।३ के अधिकार में उक्त सभी सूत्रों को मानकर स्त्रीप्रत्यय-विधायक सूत्र निर्मित किये गये हैं। प्रत्ययों में सर्व प्रथम टाप् और डीप् आये हैं अनन्तर डाप्, ङीन् ङीष् और ती प्रत्यय आये हैं। हैमव्याकरण में दूसरे अध्याय के सम्पूर्ण चौथे पाद में स्त्री प्रत्यय समाप्त हुआ है। सुप् प्रत्ययों का समावेश न कर के 'स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्डीः' २।४।१ सूत्र में ही 'स्त्रियाम्" पद आया है जिसकी आवश्यकता स्त्रीत्व ज्ञान के लिए है, हेम ने यहीं से स्त्रीत्व का अधिकार मान लिया है। पाणिनि ने ऋकारान्त और नकारान्त शब्दों से ङीप् करने के लिए "ऋन्नेभ्यो ङीप्" ४।१।५ अलग सूत्र लिखा है तथा "न षट् स्वस्रादिभ्यः" ४।१।१ द्वारा यहाँ ङीप्, टाप् का प्रतिषेध किया है। पाणिनि ने "उगितश्च" ४।१।६ के द्वारा भवती, प्राची जैसे दो तरह के शब्दों का साधन कर लिया है, परन्तु हेम ने इसके लिए 'अधातूदृदितः' १।४।२ और 'अञ्चः' २।४।३ ये दो सूत्र बनाये हैं। अतएव लाघवेच्छु हेम का यहाँ गौरव स्पष्ट है।

पाणिनि ने बहुव्रीहि समासनिष्पन्न शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए प्रायः बहुव्रीहि विषय के सामान्य सूत्रों की रचना की, लेकिन हेम यहाँ विशेष रूप से ही अनुशासन करते दिखलायी पड़ते हैं। अशिशु से अशिश्वी बनाने के लिए 'अशिशोः' २।४।८ सूत्र की अलग रचना की है।

पाणिनि ने सर्वप्रथम स्त्रीप्रत्यय में "अजाद्यतष्टाप्" ४।१।४ सूत्र लिखा है, हेम ने इस प्रकरणिका में ही परिवर्तन किया है। हैमव्याकरण में पहले ङीप् प्रत्यय का प्रकरण है उसके अन्त में उसका निषेध करने वाले 'नोपान्त्यवतः' २।४।१३ और 'मनः' २।४।१४ ये दो सूत्र हैं। उक्त दोनों सूत्रों के कारण जिन शब्दों में अन् और मन् प्रत्यय लगा होते हैं उनके बाद स्त्रीलिंग बनाने के लिए ङी प्रत्यय नहीं आता है। इस प्रकार ङी प्रत्यय को स्त्रीलिंग बनाने के लिए 'ताभ्यां वाप् डित्' २।४।१५ सूत्र द्वारा आप् प्रत्यय का विधान किया है। तत्पश्चात् "अजादेः" २।४।१६ सूत्र को रखा है। पाणिनि ने कुमारी आदि शब्दों को सिद्ध करने के लिए "वयसि प्रथमे" ४।१।२ सूत्र की रचना की जिसका तात्पर्य है कि प्रथम अवस्था को बतलाने वाले शब्द से स्त्रीलिंग बनाने के लिए ङीप् प्रत्यय होता है। हेम के यहाँ उक्त सूत्र के स्थान पर "वयस्यनन्त्ये" २।४।२१ सूत्र है। इसमें अन्तिम अवस्था बुढ़ापा न लिया अप का बतलाने वाले सभी शब्दों के आगे ङी प्रत्यय लगता है। जैसे—कुमारी किशोरी और वधूटी आदि। पाणिनि के उक्त सूत्रानुसार वधूटी और किशोरी शब्द

नहीं बनने चाहिए, क्योंकि ये शब्द प्रथम अवस्थावाची नहीं हैं अतः इनकी सिद्धि उक्त सूत्र से नहीं हो सकती है। अतः एव किशोरी और वधूटी के स्थान पर पाणिनि के अनुसार किशोरा और वधूटा ये रूप होने चाहिए। पर हेम के सूत्र से उक्त सभी उदाहरण सिद्ध हो जाते हैं। हेम ने 'वयस्यनन्त्ये' २।४।२१ सूत्र बहुत सोच समझ कर लिखा है।

पाणिनि के दोषपरिमार्जन के लिए कात्यायन ने "वयस्यचरमे इति वाच्यम्" वार्तिक लिखा है। सचमुच में हेम का उक्त अनुशासन अध्ययन पूर्ण है।

पाणिनि ने समाहार में द्विगु समास माना है और उसके "द्विगोः" ४।१।२१ के द्वारा त्रिलोकी को नित्य स्त्रीलिंग माना है। हेम ने उसके लिए "द्विगोस्समाहारात्" २।४।२२ सूत्र लिखा है। यहाँ समाहारात् शब्द जोड़ने का कोई विशेष तात्पर्य नहीं मालूम होता।

पाणिनि ने बह्वादिगण पठित शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए वैकल्पिक ङीष् का विधान किया है। उक्त गण के अन्तर्गत पद्धति शब्द को भी मान लेने पर पद्धति पद्धती इन दो रूपों की सिद्धि होती है जिसको "पद्धतेः" २।४।११ के द्वारा हेम ने भी स्वीकार किया है। स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में आया हुआ 'पूनसि:' ४।१।८७ सूत्र दोनों में एक है।

अव्ययीभाव समास के प्रकरण में पाणिनि की अपेक्षा हैमव्याकरण में निम्न मौलिक विशेषताएँ हैं—

(१) पाणिनि ने "अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रति शब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु' २।१।६ सूत्र लिखा है। प्रयोग की प्रक्रिया के अनुसार एक सूत्र रखने में संगति नहीं बैठती क्योंकि केवल अव्यय का विभक्ति आदि अर्थों के अतिरिक्त भी समास होना चाहिए, इसके लिए उत्तरकालीन पाणिनीय व्याख्याकारों ने अव्यय का योग विभाग करके काम चलाया है, पर हेम ने अपने व्याकरण को इस झमेले से बचा लिया है। इन्होंने ३।१।२१ वाँ सूत्र "अव्ययम्" पृथक् लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक विशेषता और भी बतलायी है वह यह है कि इसके द्वारा निष्पन्न समस्त शब्दों को बहुव्रीहि संज्ञा दी है।

(२) पाणिनि ने केशाकेशि मुष्टामुष्टि, दण्डादण्डि इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास माना है। उक्त प्रयोगों में "अनेकमन्यपदार्थे" २।२।२४ सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास हो जाने के बाद "इच् कर्मव्यतिहारे" ५।४।१२७ तथा "द्विदण्ड्यादिभ्यश्च" ५।४।१२८ सूत्रों द्वारा इच् प्रत्यय का विधान किया है। किन्तु हेम ने इसके विपरीत उपर्युक्त प्रयोगों में अव्ययीभाव

समास माना है। इस प्रक्रिया के लिए हेम ने 'युक्तेऽव्ययीभावः" ३।१।२६ सूत्र की रचना की है। हेम की यह मौलिक विशेषता है कि इन्होंने उक्त स्थलों पर अव्ययीभाव का अनुशासन किया है।

(३) पाणिनीय व्याकरण में 'अव्ययं विभक्ति" इत्यादि सूत्र में यथा शब्द आया है। वैयाकरणों ने उसके चार अर्थ किये हैं।

(१) योग्यता, (२) वीप्सा (३) पदार्थानतिवृत्त और (४) सादृश्य।

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ही पाणिनि का बाद में आया हुआ सूत्र "यथाऽसादृश्ये" २।१।७ संगत होता है। उसका अर्थ है यथा शब्द का समास सादृश्य अर्थ से भिन्न अर्थ में हो। इसका उदाहरण "यथा हरिस्तथा हरः" में समास को रोकना है। अर्थात् यथा के अर्थ में वह अव्यय है जिसमें स्वयं यथा का समास सादृश्य भिन्न अर्थ में होता है।

हेम ने "विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव—अव्ययम् ३।१।३९ सूत्र से यथा को हटा दिया और "योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये" ३।१।४ अलग सूत्र लिखा इसका तात्पर्य यह है कि इन चारों अर्थों में किसी अव्यय का समास हो जाता है। यथा—अनुरूपं प्रत्यर्थं यथाशक्ति सशीलम् इत्यादि। इसके बाद "यथाऽथा"३।१।४१ सूत्र द्वारा यथा हरि तथा हरः प्रयोगों की सिद्धि भी हेम ने कर दी है। उपर्युक्त प्रकरण में हेम ने अपनी अभ्यस्त कुशलता का परिचय दिया है। हेम के अनुसार यथा शब्द दो प्रकार के होते हैं—

(अ) प्रथम प्रकार का यथा शब्द यद् शब्द से "था" प्रत्यय लगाने पर बनता है।

(ब) द्वितीय प्रकार का यथा शब्द स्वतः सिद्ध है। यथा शब्द के इन दो भेदों के अनुसार समासलक्षणीय और असमासलक्षणीय ये दो भेद हैं। जिस यथा शब्द में "था" प्रत्यय नहीं है, ऐसे यथा शब्द का तो समास होता है जैसे—यथारूपं चेष्टते यथासूत्रम् अधीते किन्तु जहाँ यथा शब्द "था" प्रत्ययान्त है वहाँ समास नहीं होता है। जैसे—यथा हरिस्तथा हर यहाँ समास नहीं है। इसी प्रकार यथा चैत्रस्तथा मैत्र में भी समास का अभाव है।

इस प्रकार हेम ने अव्ययीभाव समास में पाणिनि की अपेक्षा मौलिकता और नवीनता दिखलायी है। हेम ने यथा शब्द का व्याख्यान कर शब्दानुशासक की दृष्टि से अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय दिया है। समास प्रकरण में हेम की प्रक्रिया पद्धति में लाघव और सरलता ये दोनों गुण विद्यमान हैं।

हेम का तत्पुरुष प्रकरण "गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः" ३।१।४२ से आरम्भ होता है। इस सूत्र के स्थान पर पाणिनि ने "कुगतिप्रादयः" २।२।१८ सूत्र लिखा। उनके यहाँ गति और प्रादि अलग-अलग हैं किन्तु हेम ने दोनों का समावेश

पाणिनि ने किया है। हेम की एक सूक्ष्म दृष्टि यहाँ यह है कि "कुत्सितः पुरुषो यस्य सः कुपुरुषः" इस स्थल पर बहुव्रीहि समास न हो इसके लिए उन्होंने मन् पद लिया है, जिसकी व्याख्या इन्होंने स्वयं कर दी है। "गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः" ३।१।४२ सूत्र की वृहद्वृत्ति में हेम ने लिखा है—'मन्यो बहुव्रीह्यादिव्यावृत्त्यर्थम्" पाणिनि ने भी उक्त स्थल में अन्य पदार्थ की प्रधानता होने के कारण बहुव्रीहि समास होने में सन्देह नहीं किया है।

पाणिनीय तन्त्र के 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया" "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" "अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया" आदि पाँच वार्तिकों को हेम ने "प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्टग्लानक्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः" ३।१।४७ सूत्र में ही समेट लिया है।

"कुम्भकार" पाणिनि का उपपद समास है, जिसका विग्रह "कुम्भं करोति" और समास कुम्भ+अम्+कार में होता है। उक्त समास स्थल में पाणिनीय तन्त्र में कुछ अधिक प्राणायाम करना पड़ता है, किन्तु हेम ने 'ङस्युक्तं कृता" ३।१।४९ सूत्र द्वारा स्पष्ट अनुशासन कर दिया है। नञ् समास-विधायक नञ् ३।१।५१ सूत्र दोनों के यहाँ समान है।

पाणिनि ने द्विगु समास के लिए "संख्यापूर्वो द्विगुः" सूत्र लिखा है, जिसकी पूर्ति कात्यायन ने "समाहार चापमिष्यते' वार्तिक द्वारा की है। इसी प्रकरण में पाणिनि ने तद्धितार्थ उत्तरपद और समाहार में तत्पुरुष समास करने के लिए "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' २।१।५१ सूत्र लिखा है। हेम ने इस वृहत् प्रक्रिया के लिए एक ही 'संख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम्" ३।१।९९ सूत्र रचा है। प्रायः यह देखा जाता है कि जहाँ पाणिनि ने संक्षिप्त शैली को अपनाया है वहाँ हेम की शैली विस्तार प्राप्त है किन्तु उपर्युक्त स्थल में हेम का संक्षिप्तीकरण श्लाघ्य है। यहाँ एक दूसरी विशेषता यह है कि जहाँ पाणिनीय तन्त्र में विस्तृत प्रक्रिया होने पर भी विश्लेषण नहीं हो पाया है। वहाँ हेम की संक्षिप्त शैली से भी पाठक को विषय समझने में अधिक सरलता होती है।

पाणिनि ने "चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः" में बहुव्रीहि समास किया है किन्तु साथ ही चित्रगा में कर्मधारय समास मानकर चित्रा का पूर्व निपात किया है। हेम इन स्थलों में एक मात्र बहुव्रीहि समास मानते हैं अतः निपात की व्यवस्था के लिए "तृतीयोक्तं वा" ३।१।५ सूत्र का पृथक् निर्माण किया है। इससे ज्ञात होता है कि—बहुव्रीहि में विशेषण का पूर्व निपात करने के लिए पृथक् नियम बनाना आवश्यक है क्योंकि बहुव्रीहि स्थल में विशेष्य विशेषण पदों में अन्य समास हेम के मत में नहीं होता है।

यदि होता तब तो पिता शब्द का पूर्व निपात हो ही जाता, किन्तु हेम के सिद्धान्तानुसार बहुव्रीहि समास हो जाने के उपरान्त विशेष्य-विशेषण समास का निषेध हो जाता है, पर इसमें यह संदेह नहीं रहता कि विशेषण का पूर्व निपात हो या विशेष्य का। इस सन्देह का निरसन करने के लिए हेम ने विशेषण का स्पष्ट रूप से पूर्व निपात करने का पृथक् विधान कर दिया है।

पाणिनि के उदीचों—उत्तरवासियों के मत में 'मातरपितरौ' को शुद्ध माना है अर्थात् उनके अनुसार 'मातरपितरौ' और 'मातापितरौ' ये दोनों प्रयोग होने चाहिए। हेम ने भी मातरपितरं वा ३।२।४७ में वैसा ही विधान स्वीकार किया है परन्तु इनके उदाहरणों में मतभिन्नता भी प्रकट होती है। पाणिनि ने द्वन्द्व समास की विभक्ति में ही 'मातरपितर' रूप ग्रहण किया है। किन्तु हेम ने सभी विभक्तियों के योग में "मातरपितर" रूप ग्रहण किया है जैसे—मातरपितरयो आदि। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि हेम के समय में मातरपितर, यह वैकल्पिक रूप सभी विभक्तियों के योग में व्यवहृत होने लगा था।

संस्कृत में यह साधारण नियम है कि नञ् समास में दूसरा पद जहाँ व्यञ्जनादि होता है वहाँ न के स्थान पर अ होता है। और उत्तरपद स्वरादि हो तो न के स्थान पर अन् होता है। पाणिनि ने इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए विकट प्रक्रिया दिखलायी है। उन्होंने व्यञ्जनादि शब्द के सम्पर्क में रहने वाले "न" के न् का लोप किया है और स्वरादि उत्तरपद के पूर्व स्थित न में न् का लोपकर अवशिष्ट अ के बाद नु का आगम कर अन् बनाया है। हेम ने इस प्रसंग में अत्यन्त सीधा एवं सरल तरीका अपनाया है। इन्होंने नञत् ३।२।१२५ सूत्र के द्वारा सामान्य रूप से न के स्थान में अ का विधान किया है और अन् स्वरे ३।२।१२९ सूत्र के द्वारा अपवाद स्वरूप स्वरादि उत्तरपद होने पर अन् का विधान किया है।

तिङन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि—हेम के पूर्वकाल-सम्बन्धी प्रक्रिया के लिए दो विधियाँ प्रचलित थीं। प्रथम कातन्त्र प्रक्रिया की विधि जिसमें वर्तमाना सप्तमी पञ्चमी ह्यस्तनी अद्यतनी परोक्षा आशीःश्वस्तनी भविष्यन्ती एवं क्रियातिपत्ति ये दश काल की अवस्थाएँ मान्य थीं। दूसरी पाणिनीय प्रक्रिया जिसमें लट् लिट् लुट्, लृट् लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् एवं लृङ् ये दश लकार कालद्योतक माने गये थे। हेम ने कातन्त्र पद्धति को अपनाया है। इसका कारण यह है कि पाणिनीय तन्त्र में एक तो प्रक्रिया में अर्थ ज्ञान के पूर्व एक मूक ल आदि का ज्ञान आवश्यक था अर्थात् लकारों के स्थान में आदेशों को समझना पड़ता था और साथ ही अर्थों को भी किन्तु

धातु	अर्थ	रूप
वर्ते	गति	वर्तति अवर्तीत्, ववर्त।
बाधद	रोटन	बाधते, अबाधिष्ट, बबाधे।
हेड	वेष्टन	हेडति, अहेडीत्, जिहेड।

पाणिनि और हेम के कृदन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन दोनों वैयाकरणों ने इस प्रकरण को पर्याप्त विस्तार दिया है। दोनों अनुशासकों के प्रयोगों में समता रहने पर भी कुछ विशेषताएँ भी दिखलाई पड़ती हैं।

पाणिनि ने "वास्तव्य" प्रयोग की सिद्धि के लिए कोई अनुशासन ही नहीं किया है। कात्यायन ने इसकी पूर्ति अवश्य की है, किन्तु उनका अनुशासन प्रकार पूर्ण वैज्ञानिक नहीं रहा है। उन्होंने उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिए "वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च" वार्तिक लिखा है, जिसका अभिप्राय है कि वस धातु से कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय होता है और वह स्वयं णित् भी होता है। णित् करने का लाभ यह है कि णित् करने से आदिम स्वर की वृद्धि भी हो जाती है। हेम ने उक्त प्रयोग की सिद्धि निपातन के द्वारा की है, यद्यपि निपातन की विधि अगतिक गति ही है, किन्तु हेम के यहाँ यह स्थिति मौलिक बन गई है। पाणिनि ने रुच्य और अव्यथ्य का निपातन के द्वारा ही सिद्ध किया है। हेम ने उक्त प्रयोग क्रम में वास्तव्य को भी मिलाकर 'रुच्याऽव्यथ्यवास्तव्यम्' ५।१।६ द्वारा नैपातनिक अनुशासन किया है। हेम के ऐसा करने से यह लाभ हुआ है कि वास्तव्य की सिद्धि से अष्टाध्यायी के अभाव की पूर्ति तो हुई ही है साथ ही कात्यायन की गौरवग्रस्त प्रक्रिया से बचाव भी हो गया है।

पाणिनि ने तव्य तव्यत्, अनीयर्, यत्, क्यप् और ण्यत् इन प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा करने के लिए एक अधिकार सूत्र "कृत्याः" ३।१।९५ की रचना की है, जिससे ण्वुल् के पहले आने वाले उपर्युक्त प्रत्यय कृत्य बोधक हो जाते हैं। हेम ने इससे भिन्न शैली अपनायी है। पहले उन सभी प्रत्ययों का उल्लेख कर देने के बाद 'ते कृत्याः' ५।१।४७ सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि ऊपर के सभी प्रत्यय कृत्य कहे जाते हैं। ऐसा करने से इस सन्देह का अवसर ही नहीं आता कि आगे आनेवाले कितने प्रत्यय कृत्य कहे जा सकते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी का "कृत्याः" सूत्र इस बात को स्पष्ट करने में अक्षम है कि उसका अधिकार कहाँ तक रहे। इसका स्पष्टीकरण उत्तरकालीन पाणिनीय वैयाकरणों के द्वारा ही हो सका है।

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४ सूत्र से पाणिनि ने नन्द्यादि से ल्यु, ग्रहादि से णिनि और पचादि से अच् प्रत्यय का विधान किया है

किन्तु हेम ने इन तीनों प्रत्ययों के विधान के लिए पृथक् पृथक् तीन सूत्र रचे हैं। अच्-विधायक अच् ५।१।४९ सूत्र अन्-विधायक नन्द्यादिभ्योऽनः ५।१।५२ और णिन् विधायक ग्रहादिभ्यो णिन् ५।१।५३ सूत्र हैं। हेम ने सरलता की दृष्टि रखकर तो विभाजन किया ही है, साथ ही अनुशासन शैली में मौलिकता भी स्थापित की है। यह स्पष्ट है कि अच् प्रत्यय-विधायक सूत्र का हेम ने सामान्य-उल्लेख किया है, इसमें एक बहुत बड़ा रहस्य है। नन्द्यादि एवं ग्रहादि दोनों गणों में पठित शब्द परिगणित हैं इसी कारण पाणिनि ने भी पचादि को आकृति गण माना है। आकृतिगण का मतलब यह होता है कि परिगणितों के सदृश शब्द भी उसी तरह सिद्ध समझे जायें। यहाँ पचादि को आकृतिगण मानने से पाणिनि का तात्पर्य यह है कि—पचादिसम्बन्धी अच् कार्य पचादि गण में अनिर्दिष्ट धातुओं से भी सम्पन्न हो।

हेम व्याकरण में जैसा कि—ऊपर कहा जा चुका है कि—सामान्य रूप से सभी धातुओं से अच् प्रत्यय का विधान माना गया है। इससे फल यह निकलता है कि पचादि का नाम लेकर उसे आकृतिगण मानने की आवश्यकता नहीं होती। इस शैली में एक यह आपत्ति अवश्य होती है कि क्या सभी धातुओं के आगे अच् प्रत्यय लगे? मालूम होता है कि विशेष रूप से अभिहित अन और णिन् प्रत्ययों में प्रकृति रूपों को छोड़कर सर्वत्र अच् प्रत्यय का अभिधान करना हेम को स्वीकार है। संभव है इनके समय में इस तरह के प्रयोग किये जाने लगे होंगे।

पाणिनि ने जॄ धातु से अतृन् प्रत्यय का विधान कर जरत् शब्द सिद्ध किया है जिसका स्त्रीलिंग रूप जरती होगा। हेम ने जॄ धातु से अत् प्रत्यय करके उक्त रूपों की सिद्धि की है।

संस्कृत भाषा की यह सामान्य विधि है कि इसमें परस्मैपदी धातुओं के साथ अत् और आत्मनेपदी धातुओं के साथ आन प्रत्यय (होता हुआ अर्थ में) लगाते हैं। इसके विपरीत परस्मैपदी धातुओं से आन तथा आत्मनेपदी धातुओं से अत प्रत्यय नहीं आ सकते। पाणिनीय व्याकरण में इस बात का पूर्ण निर्वाह किया गया है। पर हेम व्याकरण में पाणिनि की अपेक्षा प्रक्रिया की विशेषता है। हेम ने वयस्था शक्ति एवं शील अर्थ में गच्छमान आदि प्रयोग भी सिद्ध किये हैं। यह भाषा शास्त्र की एक घटना ही कही जायगी। ऐसा मालूम होता है कि पाणिनि के बहुत दिनों के बाद उक्त अर्थों में गच्छमान आदि प्रयोगों का भी औचित्य मान लिया गया होगा। फलस्वरूप हेम ने कुछ विशेष अर्थों में परस्मैपदी धातुओं से भी आन प्रत्यय का अनुशासन किया। इस प्रकरण में हेम और पाणिनि के अन्य प्रत्ययों के अनुशासन में प्रायः

समता है। हम ने अपने इस प्रकरण को पर्याप्त पुष्ट बनाने का प्रयास किया है।

कृदन्त के अनन्तर हेम ने तद्धित प्रत्ययों का अनुशासन किया है। यद्यपि पाणिनीय अनुशासन में तद्धित प्रकरण कृदन्त के पहिले आ गया है। भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनीय तन्त्र की प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप देने के लिए सिद्धान्त कौमुदी का पाणिनीय संस्करण तैयार किया है। इसमें उन्होंने प्रतिपादित शब्दों के साधुत्व के अनन्तर उनके विकारी तद्धित रूपों की साधना प्रस्तुत की है। यह एक साधारण सी बात है कि सुबन्त शब्दों का विकार तद्धित-निष्पन्न शब्द हैं और तिङन्त शब्दों का विकार कृदन्त शब्द हैं। अतः व्याकरण के क्रमानुसार पञ्चमात्मा सन्धि सुबन्त शब्द उनके स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग विधायक प्रत्यय अर्थानुसार विभक्तिविधान सुबन्तों के समासिक प्रयोग सुबन्तों के विकारी तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न तद्धितान्त शब्द, तिङन्त, तिङन्तों के विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त प्रक्रिया रूप एवं तिङन्त के विकारी कृत् प्रत्ययों के संयोग से निष्पन्न कृदन्त शब्द आते हैं। हेम व्याकरण में तिङन्तों के अनन्तर कृदन्त शब्द और उनके पश्चात् विभिन्न अर्थों में, विभिन्न तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न सुबन्त विकारी तद्धितान्त शब्द आये हैं। हेम का क्रम इस प्रकार है कि पहले वे सुबन्त, तिङन्त की समस्त चर्चा कर लेते हैं इसके पश्चात् उनके विकारों का निरूपण करते हैं। इन विकारों में प्रथम तिङन्तविकारी कृत् प्रत्ययान्त कृदन्तों का प्रकरण है, अनन्तर सुबन्तों के विकारी तद्धितान्त शब्दों का कथन है। अतः हेम ने अपने क्रमानुसार तद्धित प्रत्ययों का सबसे अन्त में अनुशासन किया है। हम हेम और पाणिनि की तुलना में इस प्रकरण को इसलिए अन्त में रखते हैं कि हेम के प्रकरणानुसार ही हमें विवेचन करना है।

पाणिनि ने ण्य प्रत्यय के द्वारा दिति से दैत्य अदिति और आदित्य दोनों से आदित्य तथा पत्युत्तर बृहस्पति आदि शब्दों से बार्हस्पत्य आदि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। हेम ने आनडुह्यपत्युत्तरपदाद् ञ्य दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तर पदाञ्ञ्यः ६।१।१५ द्वारा नवप्रयुक्त याम्य शब्द की भी व्युत्पत्ति उक्त शब्दों के साथ प्रदर्शित कर पाणिनि की त्रुटिपूर्ति की है।

पाणिनि ने गोधा शब्द से गौधेर गौधार और गौधेय इन तीन तद्धितान्त रूपों की सिद्धि की है। हेम ने भी गौधार और गौधेर की सिद्धि गोधाया दुष्टे णारश्च ६।१।८१ के द्वारा की है। पाणिनीय तन्त्र में गौधार और गौधेर की सामान्यतः व्युत्पत्ति मात्र कर दी गयी है अर्थात् गोधा के अपत्य अर्थ में उक्त शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। पर हेम ने आर्थिक दृष्टि से एक विशेष प्रकार की नवीनता दिखलायी है। इनके तन्त्र में ६।१।८१ के द्वारा

पाणिनि के शब्दानुशासन के अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। पर हेम ने पाणिनि का पूर्ण अनुकरण ही नहीं किया है। जहाँ अनुकरण किया भी है, वहाँ उसमें मौलिकता का भी समावेश किया है। हेम ने एक नहीं अनेक स्थलों पर पाणिनि की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखलाया है। सरलता के लिए तो हेम प्रसिद्ध हैं ही। इन्होंने आरम्भ में विकार दिखलाया पश्चात् उत्सर्ग और अपवाद के सूत्र लिखे। वास्तव में हेम ने शब्दानुशासन के क्षेत्र में बड़ी समझदारी और बारीकी से काम लिया है। जहाँ पाणिनि ने वैदिक भाषा का अनुशासन दिया है, वहाँ हेम ने प्राकृत भाषा का। दोनों के व्याकरण अद्वितीय प्रमाण हैं। हेम के प्रयोगों के आधार पर से संस्कृत भाषा की प्रवृत्तियों का सुन्दर इतिहास तैयार किया जा सकता है। शब्द सम्पत्ति की दृष्टि से हेम का भाण्डार अधिक समृद्धशाली है। अपने समय तक की संस्कृत भाषा में होनेवाले नवीन प्रयोगों को भी इन्होंने समेट लिया है। अतः यह निष्कर्ष कहा जा सकता है कि जिस काम को समस्त पाणिनि तन्त्र के आचार्यों ने मिलकर किया, उसको अकेले हेम ने कर दिखलाया। भाषा की विकासशील प्रकृति का बहुत ही सुन्दर और मौलिक विश्लेषण इनके शब्दानुशासन में उपलब्ध होता है।

हेम और पाणिनि के इस तुलनात्मक विवेचन से ऐसा निष्कर्ष निकालना नितान्त भ्रम होगा कि पाणिनि हेम की अपेक्षा हीन हैं या उनमें कोई बहुत बड़ी त्रुटि पायी जाती है। सत्य यह है कि पाणिनि ने अपने समय में शब्दानुशासन का बहुत बड़ा कार्य किया है। संस्कृत भाषा को व्यवस्थित बनाने में इनके दिये गये अमूल्य सहयोग को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है। हेम ने जहाँ अपनी मौलिक निष्पत्तियाँ उपस्थित की हैं वहाँ उन्होंने पाणिनि से बहुत कुछ ग्रहण भी किया है। अनेक नियमन स्थलों में उनके ऊपर पाणिनि का ऋण है।

पञ्चम अध्याय

हेमचन्द्र और पाणिनि—इतर प्रमुख वैयाकरण

भ्रातः संवृणु पाणिनिप्रलपितं कातन्त्रकन्था वृथा
मा कार्षीः कटुशाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयस्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा श्रीसिद्धहेमोक्तयः॥

पाणिनि के पश्चात् अनेक वैयाकरणों ने व्याकरण शास्त्र की रचनाएँ की हैं। उत्तरकालिक वैयाकरणों में से अधिकांश वैयाकरणों का उपजीव्य मात्र पाणिनीय अष्टाध्यायी है। केवल कातन्त्र व्याकरण के सम्बन्ध में लोगों की यह मान्यता अवश्य है कि इसका आधार कोई अन्य प्राचीन व्याकरण है। इसी कारण कातन्त्र को प्राचीन मानने वाले की बात का भी समर्थन होता है। व्याकरण शास्त्र के इतिहास-लेखक युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनीतर वैयाकरणों में निम्न ग्रन्थकारों को स्थान दिया है[1]।

१ कातन्त्रकार	६ पाल्यकीर्ति	११ हेमचन्द्र
२ चन्द्रगोमी	७ शिवस्वामी	१२ क्रमदीश्वर
३ क्षपणक	८ भोजदेव	१३ सारस्वत व्याकरणकार
४ देवनन्दी	९ बुद्धिसागर	१४ बोपदेव
५ वामन	१ भद्रेश्वर सूरि	१५ पद्मनाभ

पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' नामक ग्रन्थ में पाणिनि के परवर्ती निम्न वैयाकरणों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है[2]।

१ द्वितीय व्याघ्रपाद कृत	दशपादी वैयाघ्रपद्य व्याकरण
२ यशोभद्र कृत	जैन व्याकरण
३ आर्यवज्रस्वामी कृत	जैन व्याकरण
४ भूतबलि कृत	,,
५ ऐन्द्र इन्द्रगोमी कृत	ऐन्द्र व्याकरण
६ पम्पर कृत	,,
७ श्रीदत्त कृत	जैन व्याकरण
८ चन्द्रकीर्ति कृत	समन्तभद्र व्याकरण

१—सं०—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृ० ३९५।

२—व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृ० ४४८।

९ प्रभाचन्द्र कृत	जैन व्याकरण
१० अमरसिंह कृत	बौद्ध व्याकरण
११ सिंहनन्दी कृत	जैन व्याकरण
१२ महेश्वर सूरिकृत	दीपक व्याकरण
१३ भद्रपाल कृत	व्याकरण
१४ विमलस्वामी या विमलयोगी कृत	व्याकरण
१५ बुद्धिसागर कृत	बुद्धिसागर व्याकरण
१६ केशव कृत	केशवीय व्याकरण
१७ जिनकीर्ति कृत	व्याकरण
१८ विद्यानन्द कृत	विद्यानन्द व्याकरण

इनके अतिरिक्त यम वरुण सौम्य आदि व्याकरण ग्रन्थों का उल्लेख और मिलता है पर हमें इस अध्याय में कलापकार भोजदेव सारस्वतव्याकरणकार और बोपदेव की तुलना हेमचन्द्र से करनी है। पर जैन व्याकरणों का विचार छठे अध्याय में किया जायगा। पाणिनितर व्याकरणों में जिन व्याकरणों का प्रचार विशेषरूप से हो रहा है उनमें उक्त चार वैयाकरणों के व्याकरण ग्रन्थ ही आते हैं।

सबसे प्रथम कातन्त्र व्याकरण के साथ हैम व्याकरण की तुलना की जाती है। यह सत्य है कि हेम ने कातन्त्र का सम्यक् अध्ययन किया है और सम्भवतः उसका सार भी ग्रहण किया है। हेम अपने शब्दानुशासन में जितने पाणिनि से प्रभावित हैं सम्भवतः उतने ही कातन्त्र व्याकरण से भी।

कातन्त्र में संज्ञाओं का कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है, सन्धि प्रकरण के पहले पाद में प्रायः सभी प्रमुख संज्ञाओं का उल्लेख कर दिया गया है। कातन्त्र व्याकरण की "सिद्धो वर्णसमाम्नायः" यह प्रथमसूत्रीय योजना अत्यन्त गम्भीर है। इस सूत्र में वर्णों की नित्यता स्वीकार की गयी है। इस व्याकरण में स्वरों की समान संज्ञा बतायी गयी है स्व संज्ञा नहीं। पर हेम ने "तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः" १।१।१७ द्वारा स्वरों की स्वसंज्ञा बतलायी है। कातन्त्र में "तत्र चतुर्दशादौ स्वराः" १।१।२ सूत्र में स्वरों को सम्प्रदाय के अनुसार गिना दिया है हेम ने इस प्रकार स्वरों की संख्या को नहीं गिनाया है। हाँ कातन्त्र के 'दश समानाः'

—कातन्त्र व्याकरण का रचयिता शर्ववर्मा जैन माने जाते हैं। इस व्याकरण पर कई जैन टीकाएँ उपलब्ध हैं अतः कुछ विद्वान् इसे जैन व्याकरण मानते हैं। पर व्याकरण शास्त्र के इतिहास-लेखकों ने इसे अजैन व्याकरण ग्रन्थ माना है अतः हम हेम के साथ इस ग्रन्थ की तुलना इसी अध्याय में कर रहे हैं।

१।१।१ के निकट हेम का 'लृदन्ता' समाना' सूत्र अवश्य है। कातन्त्र में 'अनुनासिका ङञणनमा' १।१।१३ में पाणिनि की अनुनासिक संज्ञा को ही प्रश्रय दिया गया है, पर हैम व्याकरण में इसका कोई स्थान नहीं है। नामी, घोषवत्, अघोष अन्तस्थ एवं व्यञ्जन संज्ञाएँ कातन्त्र की ही हैम व्याकरण में पायी जाती हैं। हैम की घुट्, धिट्, वाक्य, विभक्ति, अव्यय और तत्पाकत् संज्ञाएँ कातन्त्र की अपेक्षा बिल्कुल नयी हैं।

कातन्त्र व्याकरण के 'लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः' सूत्र का प्रभाव 'हेम के लोकात् १।१।३ पर है। व्यञ्जन शब्दों में पञ्चवर्गात्मक वर्णों की स्थापना हैम की कातन्त्र के तुल्य ही है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हैम व्याकरण के संज्ञा प्रकरण में सर्वाधिक कातन्त्र का अनुसरण विद्यमान है। दोनों व्याकरणों के संज्ञासम्बन्धी कथन बहुत अंशों में मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार हम संज्ञाओं के लिए कातन्त्र के आभारी हैं इसमें कोई इन्कार नहीं कर सकता। यदि यह कहा जाय कि हेमने संज्ञा प्रकरण में कातन्त्र का ग्रहण एवं पाणिनि का सर्वथा परित्याग किया है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इतना होने पर भी भाषा की प्रगतिशीलता और स्वभावानुसारिता का तत्त्व हेम में कातन्त्र की अपेक्षा अधिक है।

कातन्त्र और हेम व्याकरण के सन्धि प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि दोनों शब्दानुशासनों में दीर्घ सन्धि का प्रकरण समान रूप से आरम्भ हुआ है। कातन्त्र में "समानः सवर्णे दीर्घी भवति परश्च लोपम्" १।२।१ सूत्र द्वारा समान संज्ञक वर्णों को सवर्ण पर रहने पर दीर्घ होता है और पर का लोप होता है का विधान किया है। इस सूत्र में समान संज्ञक वर्णों का दीर्घ कर पर के लोप होने का विधान बतलाया गया है जैसे दण्ड+अग्रम् में ण्ड का दीर्घ कर अग्रम् के अकार का लोप कर देने से दण्डाग्रम् बनता है। यहाँ अकार लोप की प्रक्रिया गौरव द्योतक है। हेम ने 'समानानां तेन दीर्घः' १।२।१ सूत्र द्वारा पाणिनि की तरह पूर्व पर को पर के सहयोग से दीर्घ कर इस का नियमन किया है। अतः इस प्रकार लोपकार्य गौरव-प्रक्रिया से मुक्त हो गये हैं।

कातन्त्र के सन्धि प्रकरण में 'वाऽऽसृष्ट लृ ऋणम्' जैसी सन्धियों की सिद्धि का कोई विधान नहीं है किन्तु हेमने "ऋस्तृसि ह्रस्वो वा" १।२।२ १।२।३ १।२।४ और १।२।५ सूत्रों द्वारा उपर्युक्त प्रकार की अनेक सन्धियों का अनुशासन किया है। हेम के उक्त सभी सूत्र कातन्त्र की अपेक्षा सर्वथा नवीन हैं। कातन्त्र में इस प्रकार का कोई अनुशासन नहीं मिलता है।

गुणसन्धि के प्रकरण में कातन्त्र के २।२।२ २।२।३, २।२।४ तथा २।२।५ इन चार सूत्रों के स्थान पर हेमका अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल १।२।६ सूत्र अकेला ही आया है तथा गुण सन्धि के समस्त कार्य इस अकेले ही सूत्र से सिद्ध हो जाते हैं। कातन्त्र में प्राणम् दशार्णम, ऋणार्णम, शीतार्त, परमर्त, प्रार्छति मार्दमीयति आदि सन्धियों की सिद्धि के लिए अनुशासन का अभाव है परन्तु हेम ने अन्य सभी सन्धियों के लिए अनुशासन किया है। यहाँ कातन्त्र के दीर्घ और गुणसन्धि में दोनों ही प्रकरण अधूरे हैं वहाँ हेम के ये दोनों प्रकरण पुष्ट और पूर्ण हैं। वृद्धिसन्धि के कातन्त्र के अवर्णस्येवर्णादिनैदादरल १।२।६ और १।२।७ सूत्र हेम के ऐदौत् सन्ध्यक्षरै १।२।१२ में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

हेम ने वृद्धि सन्धि में अनियोगे लुगेवे १।२।१६ से १।२।२ सूत्रों तक अवर्ण के लुक् का विधान किया है और इहेव तिष्ठ बिम्बोष्ठी, अद्योटा प्रोषति आदि रूपों के वैकल्पिक प्रयोग बतलाये हैं। कातन्त्र की अपेक्षा हेम का यह प्रकरण नवीन और मौलिक है। कातन्त्रकार ने सामान्यतः विचारों के लिए उत्सर्ग सूत्रों की ही रचना की है, अपवाद सूत्रों की नहीं। पर हममे प्रत्येक विचार के लिए दोनों ही प्रकार के सूत्र मिलते हैं।

कातन्त्र में यणसन्धि विधायक चार सूत्र आये हैं हेम ने इन चारों को इवर्णादिरस्वे स्वरे यवरलम् १।२।२१ में समेट लिया है। इतना ही नहीं, बल्कि मध्वा पया नद्येषा मधु अत्र-मध्वत्र जैसे नवीन सन्धि प्रयोग भी १।२।२१ से सिद्ध किये हैं। अयादि सन्धि के लिए कातन्त्र में चार सूत्र हैं, पर हेम ने उस सविधान का कार्य दो ही सूत्रों द्वारा चला लिया है। इस प्रकरण में हेम ने कातन्त्र की अपेक्षा गम्यूतिः, गव्यम्, गवाक्ष गवाक्षम्, गवेन्द्र आदि सन्धि प्रयोगों की सिद्धि अधिक की है। कातन्त्र में जिसे प्रकृतिभाव कहा गया है हेम ने उसे असन्धि कहा है। इस प्रकरण में भी हेम ने 'उ इति' 'ऊँ इति' आदि वैकल्पिक सन्धियों की चर्चा की है, जिनका कातन्त्र में अत्यन्ताभाव है।

व्यञ्जन सन्धि प्रकरण में भी हेम का कातन्त्र की अपेक्षा लाघव दृष्टिगोचर होता है। हेम ने इस प्रकरण में भी नँ>ऽत्याहि नँ>ऽत्यादि, कांस्कान काँस्कान् आदि ऐसे अनेक सन्धि रूपों का अनुशासन किया है, जिनका कातन्त्र में अस्तित्व नहीं है। कातन्त्र के प्रथम अध्याय के पञ्चमपाद में विसर्ग सन्धि का निरूपण किया गया है हेम ने विसर्गसन्धि का अनुशासन रेफ प्रकरण द्वारा किया है और उसकी गणना व्यञ्जन सन्धि में ही कर ली है।

सन्धि के पश्चात् दोनों अनुशासनों में नाम प्रकरण आया है। कातन्त्रकार ने इस प्रकरण के आरम्भ में "धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम्" द्वारा लिंग संज्ञा का

निर्देश किया है। हेम ने इसी अर्थ को लेकर पदोतः पदान्तऽस्य लुक् १।२।२७ सूत्र में नाम संज्ञा का कथन किया है। कातन्त्र में 'लिङ्गान्ता' २।१।१८ सूत्र है, हेम ने इसके स्थान पर पदान्तः १।४।४२ सूत्र लिखा है। इसी प्रकार 'टि सिमन्' २।१।२७ का रूपान्तर 'टे स्मिन' १।४।८ में उपलब्ध है। कातन्त्रकार ने षष्ठी विभक्ति बहुवचन में नुडागम एवं नुडागम किये हैं पर हेम ने इस प्रसङ्ग को स्वीकार नहीं किया इन्होंने सीधे आम् को ही नाम् बना दिया है। यह सत्य है कि हेम ने अपने नाम प्रकरण का क्रम कातन्त्र के अनुसार ही रखा है अर्थात् एक शब्द की समस्त विभक्तियों में एक साथ समस्त सूत्रों को न बतला कर सामान्य विशेष भाव से सूत्रों का सम्बन्ध बतलाया गया है और इस क्रम में अनेक शब्दों के रूप साथ—साथ चलते रहे हैं। एक ही विभक्ति में कई प्रकार के शब्दों का सामान्य कार्य जहाँ होता है, वहाँ कातन्त्र व्याकरण में एक सूत्र आ जाता है। जैसे वृक्ष, नदी और श्रद्धा प्रभृति शब्दों के सम्बोधन तथा षष्ठी विभक्ति बहुवचन में एक ही साथ कार्य दिखलाये गये हैं। सम्बोधन में हे वृक्ष, हे अग्ने हे मुनो हे नदि हे वधु हे श्रद्धे हे माता की सिद्धि के लिए 'ह्रस्वनदीश्रद्धाभ्यः सिर्लोपम्' २।१।७१ सूत्र लिखा गया है तथा इन्हीं शब्दों में षष्ठी बहुवचन की सिद्धि के लिए नुडागम का विधान कर वृक्षाणाम् अग्नीनाम् धेनूनाम् नदीनाम् वधूनाम् श्रद्धानाम् मातॄणाम् का साधुत्व प्रदर्शित किया है। हेम ने भी इन शब्दों की सिद्धि के लिए उक्त प्रक्रिया अपनायी है और ह्रस्वापश्च १।४।३२ द्वारा ह्रस्वान्त आबन्त, स्त्री शब्द और उकारान्तों से पर आम् के स्थान पर नाम् का अनुशासन कर देवानाम् मालानाम् नदीनाम् और वधूनाम् की सिद्धि की है। इस प्रकरण की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हेम ने नदी और श्रद्धा जैसी संज्ञाओं को स्थान न देकर स्पष्ट रूप से नामों का उल्लेख कर दिया है।

कातन्त्र व्याकरण में 'सेर्नश्च' २।१।७१ सूत्र द्वारा सि के स्थान पर नर आदेश किया है और नुडागम भी। हेम ने भी 'स्त्रियाः' १।४।३४ सूत्र द्वारा टि के स्थान पर नर आदेश किया है किन्तु आम् के स्थान पर सं[illegible] र्गोष्ठ १।४।३१ की अनुवृत्ति से ही नाम् कर दिया है; पृथक् नुडागम की आवश्यकता नहीं प्रकट की है। हेम ने यहाँ भी कातन्त्र का अनुसरण किया है अपनी ओर से यहाँ अधिक विलक्षणता दिखलायी है।

कातन्त्रकारने 'अन्यादेरतुः' २।१।७१ सूत्र द्वारा अन्यत् अन्यतर् इतरत् कतरत् आदि शब्दों के साधुत्व के लिए सि और अम् प्रत्यय का लोप कर तुगागम किया है; किन्तु हेम ने पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः १।४।५८ सूत्र से सि और अम् प्रत्यय को ही द् बना दिया है।

हेम की युष्मद् और अस्मद् शब्दों की प्रक्रिया भी प्रायः कातन्त्र के समान है। कातन्त्रकार ने "त्वमहम् सविभक्त्योः" २।३।१ सूत्र लिखा है हेम ने इसके स्थान पर 'त्वमहंसिना प्राक् चाकः' २।१।१२ सूत्र का निर्माण किया है। दोनों ही सूत्रों का भाव प्रायः समान है। इस प्रकरण सम्बन्धी कातन्त्र के २।३।११ २।३।१२ २।३।१३ २।३।८, २।३।९, २।३।१५ और २।३।१६ सूत्र क्रमशः हैम व्याकरण के २।१।१३ २।१।१४, २।१।१५ २।१।१६, २।१।१७ २।१।१८ और २।१।२ सूत्रों से पूर्णतः मिलते हैं। जिस प्रकार कातन्त्रकार ने इनके साधुत्व के लिए प्रक्रिया न देकर सिद्धरूपों का ही विधान किया है, उसी प्रकार हेम ने भी। यहाँ हेम की कोई मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती।

कातन्त्रकार ने जरा शब्द को जरस् आदेश करने के लिए 'जराजरस् स्वरे वा' २।३।२४ सूत्र लिखा है, हेम ने इसी कार्य के लिए 'जराया जरस्वा' २।१।३ सूत्र रचा है। यद्यपि हेमका उक्त सूत्र कातन्त्र से मिलता जुलता है, तो भी हेम ने जरा के साथ अतिजरा शब्द को ग्रहण कर अपनी मौलिकता और वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। रूस और नव् के आदेश का प्रकरण हैम व्याकरण में कातन्त्र की अपेक्षा विस्तृत है। हेम ने उनके अपवादों की भी चर्चा की है।

कारक प्रकरण के आरम्भ में हेम ने कारक की परिभाषा दी है, पर कातन्त्र में इसका सर्वथा अभाव है। कातन्त्रकार ने कर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है 'यत्क्रियते तत्कर्म' २।४।१३ अर्थात् कर्ता जिसे करता है उसकी कर्म संज्ञा होती है। जैसे कटं करोति ओदनं पचति में कर्ता कट—चटाई को करता है, ओदन—भात को पकाता है अतः इन उदाहरणों में कट और ओदन ही कर्ता के द्वारा किये जाने वाले हैं, इसलिए इनको कर्म कहा जायगा।

विचार करने पर कर्म की यह परिभाषा सदोष दिखलायी पड़ती है क्योंकि बालक तिष्ठति रामः शीवति, नदी प्रवहति आदि अकर्मक प्रयोगों में भी कर्म की उक्त परिभाषा घटित होगी यतः उक्त उदाहरणों में बालक ठहरने रूप कार्य को करता है राम सोता है में भी कर्मत्व विद्यमान है तथा नदी का प्रवहमान होना भी नदी का काम है अतएव उपर्युक्त प्रयोगों में भी कर्मत्व मानना पड़ेगा जिससे प्रायः सभी अकर्मक प्रयोग सकर्मक हो जायेंगे। अतः कातन्त्र की कर्म परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष होने के कारण पर्याप्त दोषित्व विद्यमान है। इसी दोषित्व को दूर करने के लिए हेम ने 'कर्तुर्व्याप्यं कर्म' २।२।३ सूत्र में कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, उसे कर्म बतलाया है तात्पर्य यह है कि हेम ने फलाश्रय को कर्म कहा है फलाश्रयता ही कर्म का द्योतक है। यह तीन प्रकार का होता है—निर्वर्त्य विकार्य और प्राप्य। इस प्रकार हेम की कर्म परिभाषा कातन्त्र की अपेक्षा शुद्ध और विशिष्ट है।

कातन्त्र में 'येन क्रियते तत् करणम्' २।४।१२ सूत्र द्वारा करण की परिभाषा दी गई है। यहाँ येन शब्द से स्पष्ट नहीं होता कि कर्त्ता ग्रहण किया जाय या साधन। अतः इसका यह अर्थ है कि जिसके द्वारा कार्य किया जाता है, वह करण है। करण की इस परिभाषा में कर्त्ता और साधन दोनों का ग्रहण होने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष हैं। यथा कुम्भकारेण घटः क्रियते, रामेण गम्यते, इन वाक्यों में कुम्भकार के द्वारा घट किया जा रहा है, राम के द्वारा जाया जा रहा है में कुम्भकार और राम दोनों की करण संज्ञा हो जायगी पर वस्तुतः कुम्भकार और राम करण कारक नहीं हैं कर्त्ता कारक हैं अतः यहाँ अतिव्याप्ति दोष विद्यमान है। 'गोत्रेण गार्ग्यः' इस प्रयोग में गोत्रेण में तृतीया-विभक्ति है पर उक्त सूत्र द्वारा यह सम्भव नहीं है; अतएव यहाँ अव्याप्ति दोष भी विद्यमान है क्योंकि उक्त सूत्र द्वारा प्रतिपादित करण कारक का लक्षण समस्त करण कारकीय प्रयोगों में घटित नहीं होता है। अतः हेम ने उक्त परिभाषा का परिमार्जन कर 'साधकतमम् करणम्'[1] २।२।२४ सूत्र लिखा है अर्थात् क्रिया के प्रकृष्टोपकारक को ही करण संज्ञा होती है।

कातन्त्रव्याकरण का कारक प्रकरण अपूर्ण है, पर हेम ने इसे सभी तरह से पूर्ण बनाने का प्रयास किया है। विनिमय—क्रय विक्रयार्थ और द्यूत विषय अर्थ में पण और व्यवहृ धातुओं से हेम ने विकल्प से कर्म संज्ञा करके शतस्य शतं वा पणति दशानां दश वा व्यवहरति आदि प्रयोगों का अनुशासन किया है। कातन्त्र में इनका बिल्कुल अभाव है। इसी प्रकार हेम ने शतस्य शतं वा प्रदीव्यति की सिद्धि २।२।१७ सूत्र द्वारा; अक्षान् दीव्यति और अक्षैर्दीव्यति की सिद्धि २।२।१ सूत्र द्वारा ग्राममुपवसति अधिवसति और आवसति की सिद्धि २।२।२१ सूत्र द्वारा; मासमास्ते क्रोशं शेते 'गोदोहमास्ते' और कुरूनास्ते की सिद्धि २।२।२३ द्वारा; स्तोकं पचति सुखं स्थाता की सिद्धि २।२।४१ द्वारा मासं गुडधानाः, कल्याणी अधीते च, क्रोशं गिरिः, कुटिला नदी क्रोशमधीते वा की सिद्धि २।२।४१ द्वारा, मासेन मासाभ्यां मासैर्वा आवश्यकमधीतं क्रोशेन क्रोशाभ्यां क्रोशैर्वा प्राभृतमधीतम् की सिद्धि २।२।४२ द्वारा पुष्येण पुष्ये वा पायसमश्नीयात् की सिद्धि २।२।४८ द्वारा, मासेन मासे वा शयानीते की सिद्धि २।२।५१ द्वारा; दिवाय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा की सिद्धि २।२।५५ द्वारा गुरवे प्रतिगृणाति अनुगृणाति की सिद्धि २।२।५७ द्वारा एवं अर्थयते हेम ग्रामाय ग्रामं वा की सिद्धि २।२।१११ सूत्र द्वारा की है। इन समस्त प्रयोगों का कातन्त्र में अभाव है। कारक प्रकरण में हेम ने कातन्त्र की अपेक्षा सैकड़ों नये प्रयोग लिखे हैं। विशेषतः निम्नलि

१—यही पाणिनि का सूत्र भी है।

की दृष्टि से हेम का यह प्रकरण कातन्त्र की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और विस्तृत है।

कातन्त्र व्याकरण में द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, और सप्तमी विभक्तियों का पूर्णतः अनुशासन नहीं किया गया है। इन विभक्तियों के विभिन्न अर्थों और विभिन्न धातुओं के प्रयोग में व्याकरणिक नियमन का अभाव है। हेम ने समस्त विभक्तियों के नियमन की सर्वांगीण और पूर्ण व्यवस्था की है। अतः संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम का कारक प्रकरण कातन्त्र की अपेक्षा सर्वथा मौलिक, विस्तृत और नवीन है।

कारक प्रकरण के अनन्तर कातन्त्र और हैम दोनों व्याकरणों में षत्व, णत्व और सत्व विधान उपलब्ध होता है। कातन्त्र का यह प्रकरण बहुत ही छोटा है, हैम में यह प्रकरण अति विस्तृत है। इसमें अनेक नये सिद्धान्तों का प्ररूपण हुआ है। इसके आगे दोनों व्याकरणों में स्त्री प्रत्यय का विधान है। कातन्त्र में जहाँ इस विषय के लिए २।४।४९–२।४।५२ तक कुल चार ही सूत्र मिलते हैं वहाँ हैम में १११ सूत्रों का एक समस्त पाद ही स्त्रीप्रत्ययों की व्यवस्था के लिए आया है। कातन्त्र की अपेक्षा हेम का यह अनुशासन विधान बहुत विस्तृत और मौलिक है। हैम व्याकरण के इस प्रकरण में कातन्त्र की अपेक्षा सैकड़ों नये प्रयोग और प्रत्यय आये हैं। कातन्त्र में यह प्रकरण जहाँ नगण्यवत् स्थित है; वहाँ हैम व्याकरण में यह पूर्ण प्रौढरूप में उपलब्ध होता।

कातन्त्र और हैम इन दोनों व्याकरणों के समास प्रकरण पर विचार करने से अवगत होता है कि कातन्त्र के इस प्रकरण का अनुशासन कुल २९ सूत्रों में किया गया है जब कि हैम व्याकरण में इस प्रकरण को अनुशासित करने वाले दो पाद हैं; जिनमें क्रमशः १६१ तथा १५९ सूत्र आये हैं। अतः हैम व्याकरण में इस प्रकरण का पूर्ण विस्तार विद्यमान है। समास सम्बन्धी समस्त पहलुओं पर साङ्गोपाङ्ग विचार किया है। हेम ने तत्पुरुष, अव्ययी भाव, द्वन्द्व, द्विगु, कर्मधारय और बहुव्रीहि समासों की व्यवस्था का नियमन पूर्ण विस्तार के साथ किया है। समास नियमन आरम्भ करने के पहले हेम ने गतिसंज्ञा को गिनाया है। इसका तात्पर्य यह है कि आगे विभिन्न गतिसंज्ञकों में तत्पुरुष समास का अनुशासन करना है, इसके लिए यह पृष्ठ भूमि आवश्यक है, अतएव गतिसंज्ञकों को पूर्व में ही गिना देना इन्होंने आवश्यक समझा है।

कातन्त्र का समास विधायक सबसे पहला सूत्र 'नाम्नां समासो युक्तार्थः' २।५।१ है और हेम व्याकरण में भी प्रायः इसी आशय का "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" ३।१।१८ आया है। कातन्त्रकार ने समास के सामान्य नियमों के अनुशासन के उपरान्त कर्मधारय समास की व्यवस्था की है। इस व्याकरण में उक्त समास के अनुशासन के लिए केवल यही एक सूत्र है। कातन्त्र के वृत्तिकार दुर्गसिंह ने इस सूत्र के उदाहरणों में निपातन से सिद्ध होने वाले मयूरव्यंसक, कम्बोजमुण्ड, शाकपार्थिव आदि प्रयोगों को भी रख दिया है। गोनाम' अधकुम्भकारः, कुमारश्रमणा मोक्षोप्यम्, कण्टकः गोपदि., पुरुषस्थितः, फलाफलिका आदि उदाहरणों को अपूर्वक ही उक्त सूत्र में रखा है। अतः तुल्याधिकरण में कर्मधारय समास विधायक सूत्र उक्त प्रयोगों का नियमन करने में सर्वथा असमर्थ है। हेम ने उक्त उदाहरणों के साधुत्व के लिए विशिष्ट विशिष्ट सूत्रों का प्रणयन किया है। हेम व्याकरण में कर्मधारय समास की चर्चा ३।१।९६ सूत्र से ३।१।११६ सूत्र तक मिलती है।

समास के पश्चात् कातन्त्र व्याकरण में तद्धित प्रकरण है पर हेम व्याकरण में धातु प्रकरण आता है। हेम ने धातु विकार और नाम विकारों के नाम और धातुओं के पश्चात् ही निबद्ध किया है। कातन्त्र के तद्धित प्रकरण की अपेक्षा हैम व्याकरण का तद्धित प्रकरण पर्याप्त विस्तृत है। हेम ने छठे और सातवें इन अध्यायों में तद्धित प्रत्ययों का निरूपण किया है। कातन्त्र व्याकरण में इस प्रकरण को आरम्भ करते ही अण्, यण्, आयनण्, एयण् इण् आदि प्रत्ययों का अनुशासन आरम्भ हो गया है, पर हैम व्याकरण में ऐसा नहीं किया है। इसमें तद्धितोऽणादिः ६।१।१ सूत्र द्वारा तद्धित प्रत्ययों के कथन की प्रतिज्ञा की है। अनन्तर तद्धित सम्बन्धी सामान्य विवेचन किया गया है।

कातन्त्र व्याकरण में सामान्य अर्थ में अण्, यण्, ष्यञ् आदि प्रत्ययों का विधान किया है पर हेम ने विशेषरूप से ही सभी सूत्रों का क्रम रखा है। तद्धित प्रत्ययों का शुरू प्रकरण हैम का कातन्त्र की अपेक्षा बिलकुल नवीन है। कातन्त्र में अण् ण्य आयनण् एयण् इण् इकण् य, ईय, मत् वत् इन, वा मन्तु, वन्तु, विन्, इन्, र य तीय या तमट तर ष्यञ् इ और दा प्रत्ययों का ही निर्देश किया गया है, पर हेम व्याकरण में ये प्रत्यय तो हैं ही साथ ही एकत्र ईन एय्य मिक अम ईनम अ इय भ तन रन अकम मयट अय क यम् डमतट् भ तुल्य एक, इम, र वीय कन्, क, टनन् अन् त्यण् मिक् नम्, ईयन्, कनट् म, अक, इकट

कातन्त्र के कतिपय सूत्रों की छाया हेम में उपलब्ध है। कातन्त्रकार ने "प्याय पी स्वाङ्गे" ४।१।४१ सूत्र से प्या के स्थान पर पी आदेश किया है, हेम ने भी इस कार्य के लिए "प्यायः पीः" ४।१।९१ सूत्र ग्रथित किया है। यहाँ ऐसा लगता है कि हेम ने कातन्त्र का उक्त सूत्र ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। एक बात यह भी है कि कातन्त्र व्याकरण का कृदन्त प्रकरण भी पर्याप्त विस्तृत है। अतः जहाँ-तहाँ हेम ने इसका अनुसरण किया है। इतना होने पर भी यह सत्य है कि हेम का कृदन्त प्रकरण कातन्त्र की अपेक्षा विशिष्ट है।

आचार्य हेमचन्द्र और भोजराज

जिस प्रकार हेम का व्याकरण गुजरात का माना जाता है, उसी प्रकार भोजराज का व्याकरण मालवा का। कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह ने सरस्वतीकण्ठाभरण को देखकर ही हेम को व्याकरण ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया था। कालक्रमानुसार विचार करने से भी हेम और भोज में बहुत थोड़ा अन्तर मालूम पड़ता है अतः भोज के व्याकरण की तुलना हेम व्याकरण के साथ करना भी आवश्यक है।

संज्ञा प्रकरण की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि हेम ने संक्षिप्त और सरलरूप में संज्ञाओं का विवेचन किया है। सच बात तो यह है कि वैयाकरणों में हेम ही एक ऐसे वैयाकरण हैं जिन्होंने आवश्यक संज्ञाओं की चर्चा थोड़े में ही कर दी है। इसके प्रतिकूल भोजराज ने अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक व्याकरण शास्त्र में सभी व्याकरणों की अपेक्षा संज्ञाओं का अधिक निर्देश किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन संज्ञाओं की अत्यन्त आवश्यकता नहीं है अथवा जिनसे काम तथा नाम न देने का भी चल सकता है, हेम ने उनका निरर्थक संयोजन करना अच्छा नहीं समझा। हेमचन्द्र सबसे स्पष्ट अनुशासन के वक्ता हैं पर भोजराज में इस गुण का अभाव है। उनके सामने शब्दशास्त्र-व्याख्यानक जितनी प्रक्रियाएँ विस्तार के साथ परिव्याप्त थीं, वे उनके व्यामोह में पड़ गये तथा सूत्र शैली में उन सबको समाविष्ट करने की असमर्थ चेष्टा उन्होंने की। पर वे यह भूल गये कि सूत्र शैली के द्वारा किसी भी शास्त्र को पूर्णरूप से समेटा नहीं जा सकता। फलतः उनका शब्दानुशासन व्याख्यात्मक हो गया है। हेम ने इस प्रवृत्ति से बचने के लिए अल्प शब्दावली में ही विभिन्न प्रवृत्तियों और विकारों का अनुशासन कार्य किया है।

भोजराजीय व्याकरण व्याख्यात्मक होने के कारण परिभाषाओं से अत्यन्त लम्ब है। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उक्त व्याकरण पाणिनीय व्याकरण के

ज्ञान बिना दुर्बोध्य है। कोई सुधरा हुआ पाणिनीय ही उसे भली भाँति समझ सकता है। परिभाषाओं के लिए तो यह अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत होता है कि पहले पाणिनीय ज्ञान कर लिया जाय। पाणिनि ने भी परिभाषाओं का कोई बड़ा प्रकरण प्रस्तुत नहीं किया है, परन्तु पतञ्जलि आदि उत्तरकालीन पाणिनीय वैयाकरणों ने अनेक विभिन्न परिभाषाओं का संकलन तथा परीक्षण किया है। नागेश का परिभाषेन्दुशेखर नामक विशालकाय ग्रन्थ इन्हीं परिभाषाओं का विवरणात्मक संग्रह है। भोजराज ने अपने परिभाषा प्रकरण में उन सभी परिभाषाओं का यथा-तथा रूप में संग्रह कर दिया है। इस कारण इस ग्रन्थ में प्रारम्भिक जटिलता आ गयी है।

हेम ने परिभाषाओं की आवश्यकता नहीं समझी है। वे परिभाषाओं की व्यवस्था विशेष आवश्यकतानुसार विविध निर्देशों द्वारा ही करते गए हैं। इनके दो ही सूत्र परिभाषा के रूप में माने जा सकते हैं। प्रथम है 'सिद्धिः स्याद्वादात्' १।१।२ और द्वितीय है 'लोकात्' १।१।३। हेम ने इन दोनों को भी संज्ञा के रूप में ही ग्रहण किया है। इस प्रकार भोजराज ने जहाँ परिभाषाओं में अपने व्याकरण को उलझा दिया है, वहाँ हेम ने अपने व्याकरण को परिभाषा की उलझन से बिल्कुल मुक्त रखा है।

भोजराज का स्त्री प्रत्यय बहुत ही पेचीदा है। सर्व प्रथम उसमें टाप की प्रक्रिया दिखलाई गई है। टाप् प्रत्यय के लिए सामान्य सूत्र 'अतष्टाप्' १।४।२ है, जिससे सभी अकारान्त शब्दों के आगे स्त्रीलिंग बनाने के लिए टाप् प्रत्यय का विधान है। इसके आगे १।४।१४ सूत्र तक सभी सूत्र टाप प्रत्यय करने वाले आये हैं, किन्तु हेम ने अजादि गण मानकर एक ही सूत्र 'अजादेः' से आप् प्रत्यय के द्वारा सभी निर्देश कर दिया है।

भोजराज ने वृद्ध कुमारी शब्द बनाने के लिए 'कुमारश्चवृद्धायां' १।४।१८ एक अलग सूत्र की रचना की है। उनका सन्देह था कि जो भी कुमारी (कुँआरी) रह कर वृद्धा हो गई हो वहाँ 'वयस्यचरमे' १।४।१७ सूत्र से निर्देश नहीं होगा। अतः अचरमावस्था में ही उक्त रूप द्वारा ङीप का विधान किया गया है। वृद्धा कुमारी में तो वृद्धा कुमारी है, जिसकी अवस्था चरम (अन्तिम) है अतः भोज ने १।४।१८ एक विशेष सूत्र रचा है जिसके द्वारा उक्त प्रयोग की सिद्धि की गई है। किन्तु हेमने ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। इन्होंने कुमार शब्द से सीधे ही कुमारी शब्द बना दिया है। यदि वृद्धा भी कुमारी बनी रह जायगी अर्थात् अविवाहिता रहेगी तो उसे कुमारी तो वास्तविक रूप में नहीं कहेंगे क्योंकि कुमार शब्द अवस्थावाची तरुण शब्द की पूर्वकालीन अवस्था का द्योतन करता है। यह अवस्था है बालिका के विवाह करने के पूर्व की। यदि

किसी स्त्री का वृद्धावस्था तक भी विवाह नहीं हुआ हो तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि वह कुमारावस्था में ही है। कुमारी उसे इसीलिए कहा जाता है कि वह अब भी (वृद्धावस्था में भी) विवाह की पूर्वतन अवस्था का पालन कर रही है। इस प्रकार वृद्धकुमारी में कुमारीत्व का आरोप ही समझा जा सकता है नहीं तो भला व्यवहार में ही वृद्धा कैसे कुमारी हो सकती है यह सोचने की बात है। निष्कर्ष यह है कि कुमारी शब्द अवस्थावाची है, अतः अविवाहिता वृद्धा स्त्री में यह अवस्था विधान नहीं है। हेमचन्द्र अनुशासन शास्त्र के पूर्ण पण्डित थे, फलतः उक्त तथ्य को ही इन्होंने स्वीकार किया है। इसी कारण उक्त प्रयोग के लिए कोई पृथक् अनुशासन की व्यवस्था प्रस्तुत नहीं की। इससे हेम के शब्दार्थ व्यवहार की कुशलता का सहज में ही पता चल जाता है।

भोजराज ने आचार्य शब्द से एक ही स्त्रीलिंग शब्द आचार्यानी बनाया है किन्तु हेम ने मातुल एवं उपाध्याय के समकक्ष आचार्य शब्द से भी आचार्यानी तथा आचार्यी इन दो रूपों की सिद्धि बतलाई है यह इनके भाषा शास्त्रीय विशेष ज्ञान का ही द्योतक है। स्त्री प्रत्यय प्रकरण में हेम वैयाकरण के नाते भोजराज से बहुत आगे हैं।

भोजराज ने हेतु, कर्ता, करण तथा इत्थंभूत लक्षण में तृतीया करने के लिए चार सूत्रों की अलग-अलग रचना की है; किन्तु हेम ने एक ही "हेतुकर्तृकरणे त्थं भूतलक्षणे" के द्वारा सुगमतापूर्वक चारों का काम चला दिया है। यह हेम की मौलिक शैली है कि वे कठिन एवं विस्तृत प्रक्रिया विधि को बहुत सरलता एवं संक्षेप के द्वारा उपस्थित करते हैं तथा इस शैली में इन्हें सर्वत्र सफलता भी मिली है।

पाणिनि ने अपने व्याकरण में वैदिक तथा लौकिक इन दोनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन करना उचित समझा। पर भोजराज के समय में तो वैदिक भाषा बिल्कुल पुस्तकीय हो गई थी। हम ऐसा नहीं कहते कि इस अवस्था में किसी भाषा का व्याकरण ही नहीं लिखा जाना चाहिए; किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि वैसी भाषा की समीक्षा तथा उसका अनुशासन किसे दूसरी भाषा के साथ नहीं किया जा सकता। भोज के ध्यान में यह तथ्य नहीं आ सका और उन्होंने पाणिनि से स्वर मिलाकर वैसा करना अच्छा समझा। भोजने 'तिलवरितार्थे तव्यत् प्रत्यय का भी विधान किया है।

हेमचन्द्र भाषा के व्यवहारिक विद्वान् तथा चमन शैली के महान् पण्डित थे। इनके समय में भाषा की स्थिति बदल चुकी थी। पाणिनि के युग में वैदिक तथा श्रेण्य संस्कृत का घनिष्ठ सम्बन्ध था। फलतः पाणिनि ने अपने अनुशासन में

दोनों को स्थान दिया। भोज और हेम के समय में भाषा की अगली कोटि भी उत्पन्न हो चली थी अर्थात् प्राकृत और संस्कृत के साथ अपभ्रंश भाषा भी आविर्भूत होने लगी थी। अतः हेम ने अपने व्याकरण को समयोपयोगी बनाने के लिए संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के व्याकरण के साथ अपभ्रंश भाषा का व्याकरण भी लिखा। इन्होंने अपभ्रंश को प्राकृत का ही एक भेद मान लिया और प्राकृत व्याकरण में उसका विस्तृत विवेचन किया। अतः हेम का व्याकरण मात्र के व्याकरण की अपेक्षा अधिक उपयोगी, अधिक व्यावहारिक और अधिक सरल है। हेम व्याकरण के तिङन्त, कृदन्त और तद्धित प्रकरणों में भी भोज के व्याकरण की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

हेम और सारस्वत व्याकरणकार—

सारस्वत व्याकरण के विषय में प्रसिद्धि है कि अनुभूति स्वरूपाचार्य को सरस्वती से इन सूत्रों की प्राप्ति हुई और इसी कारण इस व्याकरण का नाम सारस्वत पड़ा। सारस्वत व्याकरण के अन्त में 'अनुभूति स्वरूपाचार्यविरचिते" पाठ उपलब्ध होता है। कुछ विद्वान् इस व्याकरण का रचयिता अनुभूति स्वरूपाचार्य को नहीं मानते; किन्तु वे प्रमाण प्रमेय कलिका के रचयिता आचार्य नरेन्द्रसेन को बतलाते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने भी इस बात की ओर संकेत किया है और अजितसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन को कातन्त्र, जैनेन्द्र और पाणिनीय तन्त्र का अधिकारी विद्वान बतलाया है। हमें भी इस व्याकरण को देखने से ऐसा लगता है कि यह जैन कृति है और इस पर जैनेन्द्र, शाकटायन और हेम का पूरा प्रभाव है। इस व्याकरण पर जैन और जैनेतर सभी टीकाएँ मिलाकर लगभग बीस की संख्या में उपलब्ध हैं।

यह सत्य है कि सारस्वत व्याकरण हेम के पीछे का है, अतः इसमें पाणिनीय, कातन्त्र और हेम का छायायोग दिखलायी पड़ता है। सारस्वत की रचना प्रकरणानुसार की गयी है। इसमें भी प्रत्याहार के झगड़े को स्वीकार न कर हेम के समान वर्णमाला ही स्वीकार की गयी है, अथवा यों कहा जाय कि कातन्त्र और हेम के समान वर्ण समाम्नाय को ही सारस्वत में स्थान दिया गया है। जिस प्रकार हेम ने "लृदन्ता समानाः" १।१।७ सूत्र की वृत्ति में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ को समान संज्ञक माना है, उसी प्रकार सारस्वत में भी "अ इ उ ऋ समानाः" सूत्र द्वारा उक्त वर्णों को समान संज्ञक कहा है। सारस्वत में हेम की कुछ संज्ञाएँ ज्यों की त्यों विद्यमान हैं; जैसे नामी, सन्ध्यक्षर आदि। सारस्वत व्याकरण में एक नयी

बात यह आयी है कि सन्धाओं का कथन आलंकारिक शैली में किया गया है। जैसे—

वर्णादर्शनं लोपः। वर्णविरोधी लोपरा। मित्रवदागमः। शत्रुवदादेशः।

इस व्याकरण का यह अपना मौलिक ढंग कहा जायगा। हेम व्याकरण शास्त्र विज्ञान सम्मत विशुद्ध वैज्ञानिक ही रहते हैं, अतः अपनी भाषा और शैली को भी आलंकारिक होने से बचाते हैं। सारस्वत व्याकरण के रचयिता ने पूर्ववर्ती समस्त तन्त्रों का सार लेकर इस ग्रन्थ की रचना की है। यदि यों कहा जाय कि पाणिनीय तन्त्र के सूत्रों का व्याख्यात्मक संकलन इस व्याकरण में है तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। वास्तव में यह भी एक व्याख्यात्मक व्याकरण है, इसके सूत्रों को ही व्याख्या की शैली में लिखा गया है। अतः संज्ञा प्रकरण पर भी उक्त शैली की छाया वर्तमान है। हेमका संज्ञा प्रकरण इससे कई गुना उपयोगी और वैज्ञानिक है।

सन्धि प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि हेम के 'लृत्यस्ता १।२।१ सूत्र की सारस्वत के 'लृवाग्नौ नामधातौ चाइव' ४१ सं. सू. सूत्र पर पूर्णतया छाप है। व्याख्यात्मक शैली होने के कारण सारस्वतकार ने हेम के उक्त सूत्र को व्याख्या करके ही ग्रहण किया है। इसी प्रकार हेम के १।२। सूत्र की ४१ सा सं सूत्र पर १।२।१ की ४ सा सं सूत्र पर १।२।८ की ४२ सा सं पर, १।२।४२ की १ सा सं सूत्र पर एवं १।२।१७ सूत्र की ११ सा सं सूत्र पर पूर्णतया छाया विद्यमान है। व्यञ्जन सन्धि पर भी हेम के आठ-दस सूत्रों की छाया है। सारस्वतकार ने सूत्रों को ज्यों के त्यों रूप में नहीं ग्रहण किया है; किन्तु व्याख्यात्मक रूप से उन्हें अपनाया है।

सारस्वत व्याकरण में हेम व्याकरण की विभक्तियों को भी ग्रहण किया गया है। सि औ जस्; अम् औ शस् टा भ्याम् भिस्; ङे भ्याम् भ्यस्; ङस् ओस् आम्; ङि ओस् सुप् इन विभक्तियों का सारस्वत में विधान किया है। अतः यह निश्चित है कि सारस्वत में पाणिनि के समान विभक्तियाँ नहीं आयी हैं, बल्कि हेम के अनुसार अपेक्षित हैं।

सारस्वत व्याकरण में अनेक शब्दों पर विसर्गों के स्थान में सत्व तथा षत्व करने के लिए वाचस्पत्यादि गण माना गया है और उस गण में निहित शब्दों में निपातन द्वारा सत्व एवं षत्व का अनुशासन किया है। इसमें विभिन्न प्रकार के प्रयोग आते हैं जो किसी भी प्रकार हृदयंगम नहीं कर सकते। यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि विसर्ग स्थानिक स तथा ष के लिए सारस्वत में एक ही सूत्र है—'वाचस्पत्यादयो निपात्यन्ते' प्र. वि. सू.। किन्तु हम म

इस विषय पर विशेष रूप से भी अनुशासन किया है। इन्होंने पाणिनीय शैली के अनुसार तत्तत्स्थानों पर विशेष अनुशासन की पद्धति को अपनाते हुए कुछ प्रयोगों में नैपातनिक सत्व तथा षत्व का अनुशासन किया है। यद्यपि इन्होंने भी दोनों विधानों के लिए २।३।१४ सूत्र की रचना की है, तो भी हमें ऐसा नहीं लगता है कि हेम से पहले ऐसा किया होगा। हेम ने एक ही सूत्र में बड़ी निपुणता के साथ प्रादुष्पुत्रादि एवं करकादि दो गण मानकर प्रथम में षत्व एवं द्वितीय में सत्व का अनुशासन किया है। इस प्रकरण से मालूम होता है कि सारस्वतकार ने पाणिनि की अपेक्षा जहाँ मौलिकता लाने की चेष्टा की है, वहाँ उनका प्रकरण भले ही छोटा हो गया हो, किन्तु उन्हें विफलता ही हाथ लगी है; परन्तु हेम ने पाणिनि की अपेक्षा जहाँ कहीं भी नवीनता लाने की चेष्टा की है वहाँ इनका मूलभूत आधार प्रयोगों का सरल एवं वैज्ञानिक साधन रहा है, इसी कारण हेम का व्याकरण पाणिन्युत्तर कालीन समस्त व्याकरण ग्रन्थों में मौलिक सिद्ध हुआ है, सारस्वतकार तो पद-पद पर हेम से प्रभावित दिखलायी पड़ते हैं। इन पर जितना ऋण पाणिनि का है, उससे कम हेम का नहीं।

हेम ने कारक प्रकरण में 'आमन्त्र्ये २।२।३२ सूत्र द्वारा सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का विधान किया है 'सारस्वत कारने भी आमन्त्रणे च सूत्र में हेम की बात को दुहराया है। हेम का कारक प्रकरण सर्वाङ्गपूर्ण है, पर सारस्वत व्याकरण में यह प्रकरण बहुत ही संक्षिप्त है। व्याख्याओं के रहने पर भी इससे कारकीय ज्ञान पूर्णरूपेण नहीं हो सकता है।

समास प्रकरण में भी हेम की कई बातों को सारस्वत में ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार हेम ने अव्ययी भाव के आरम्भ में 'अव्ययम्' ३।१।२१ सूत्र को अधिकार सूत्र बताया है, पश्चात् 'विभक्ति समीप' इत्यादि सूत्र से अव्ययी-भाव समास का विधान किया है उसी प्रकार सारस्वत प्रकरण में अव्ययीभाव का प्रकरण आया है। हाँ एक बात अवश्य ही वाच्य है कि सारस्वत में अव्ययीभाव समास विधायक सूत्र में पाणिनीय व्याकरण का ही अनुसरण किया है पर उसके आगेवाला सम्बन्ध हेम के अनुसार है। अतः सारस्वत के समास प्रकरण पर हेम और पाणिनि दोनों वैयाकरणों की छाप विद्यमान है। एक दूसरी विशेषता यह भी है कि सारस्वत की अपेक्षा हैम व्याकरण का समास पूर्ण है। सारस्वत में बहुव्रीहि और तत्पुरुष समास का विवेचन कम हुआ है।

सारस्वत व्याकरण का तिङन्त प्रकरण हेम के तिङन्त प्रकरण के समान है। हेम की शैली के आधार पर ही अनुभूति स्वरूपाचार्य ने भी

कामाना, आशीः, प्रेरणा, अद्यतनी, परोक्षा आदि क्रियावस्थाओं का ही निर्देश किया है और उन्होंने प्रत्यय भी हेम के समान ही बतलाये हैं। धातुरूपों के साधुत्व की प्रक्रिया बिलकुल हेम से मिलती जुलती है तथा धातु प्रकरण का नाम तिङन्त न रखकर हेम के समान आख्यात रखा है। कारकार्थ निरूपक प्रक्रिया भी सारस्वत की हेम से बहुत कुछ अंशों में समता रखती है। कर्म-कर्तृ प्रक्रिया में हेम के कई सूत्रों का व्याख्यात्मक प्रयोग किया गया है। उदाहरण भी हेम के उदाहरणों से प्रायः मिलते-जुलते हैं।

सारस्वत व्याकरण का तद्धित प्रकरण बहुत क्षीण है। हेम की तुलना में तो यह प्रकरण शिशु मालूम पड़ता है। इस प्रकरण में हेम को सारस्वत की अपेक्षा लगभग पाँच सौ प्रयोग अधिक हैं। धायट्, धायन्, कन्, आट्, कप् शाप आदि ऐसे अनेक तद्धित प्रत्यय हैं; जिनका संविधान सारस्वत में नहीं आया है। तन्वी, कर्मठ, सर्वपथीनम्, अद्यतन पार्श्वकम्, जनता, आवश्य आदि प्रयोगों की सिद्धि सारस्वत व्याकरण में ठीक हेम के समान उपलब्ध होती है। आलु प्रत्यय का नियमन सारस्वत में केवल हेम व्याकरण के अनुसार नहीं है, बल्कि इसमें पाणिनीय व्याकरण के भी उदाहरण संगृहीत किये गये हैं।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि सारस्वत व्याकरणकार ने हेम से बहुत कुछ ग्रहण किया है। इन्होंने पाणिनि और कातन्त्र से भी बहुत कुछ लिया है, तो भी यह व्याकरण हेम के समान उपयोगी और वैज्ञानिक नहीं बन सका है। हेम ने अपनी मौलिक प्रतिभा के कारण सर्वत्र मौलिकताओं का स्फोटन किया है। जहाँ उन्होंने पूर्वाचार्यों से ग्रहण भी किया है, वहाँ पर भी वे अपनी नवीनता और मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखे हैं।

हेम और बोपदेव—

पाणिन्युत्तरकालीन प्रसिद्ध वैयाकरणों में बोपदेव का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इनका समय ११८०—११४ ईस्वी के लगभग माना जाता है। इनके द्वारा रचित मुग्धबोध व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है। इस व्याकरण पर १३–१४ टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

मुग्धबोध व्याकरण बहुत जटिल है। इसमें क, घी ङ, टी टी ड घी टी त ती थ थ, धी द दा दी घ धि धु नि नी नु प आदि प्रायः बीज-गणित के बीजाक्षरों के समान एकाक्षरी संज्ञाएँ आयी हैं। मुग्धबोधकार की संज्ञाएँ अपनी हैं और इन्होंने इन संज्ञाओं को अन्वर्थ नहीं माना

है। स्त्रैण्या समास कृदन्त प्रत्यय, प्रत्यय सम्बन्धी भाव, तद्धित प्रत्यय प्रभृति के लिए एकाक्षरी संज्ञाएँ लिखी हैं। हेम का यह प्रकरण मुग्धबोध से बिल्कुल भिन्न है। संज्ञाओं के लिए बोपदेव जैनेन्द्र व्याकरण के तो कुछ अंशों में अवश्य आभारी हैं पर हेम के नहीं। हेम की संज्ञाएँ बोपदेव की संज्ञाओं से नितान्त भिन्न हैं। शब्दानुशासक की दृष्टि से हेम की संज्ञाएं बेजोड़ हैं। हैम व्याकरण में जहाँ कुल बीस संज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं, वहाँ मुग्धबोध में पूरी एक सौ सत्रह संज्ञाओं का जिक्र है। इन संज्ञाओं की जटिलता ने मुग्धबोध की प्रक्रिया को उलझन पूर्ण बना दिया है।

हैम व्याकरण में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ आदि क्रम से वर्णमाला को ग्रहण किया गया है, पर मुग्धबोध में प्रत्याहार का क्रम है। अतः प्रत्याहार विचार की दृष्टि से बोपदेव हेम की अपेक्षा पाणिनि के अधिक आभारी हैं। यों तो यह व्याकरण अपने ढंग का है, इसमें दूसरे वैयाकरण की शैली का अनुकरण बहुत कम हुआ है फिर भी सन्धि प्रकरण में हेम शाकटायन और पाणिनि इन तीनों शब्दानुशासकों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है।

मुग्धबोध में सि और जस् आदि विभक्तियों को हेम के अनुसार ही ग्रहण किया है। रूपसाधनिका भी प्रायः हेम और पाणिनि के समान है।

मुग्धबोध के स्त्री प्रत्यय में आप् विधायक ६–७ सूत्र आये हैं। [illegible] आप् २४९ वें सूत्र द्वारा सामान्यतया आप का निर्देश किया गया है। हेम ने जिस कार्य को एक सूत्र द्वारा चलाया है, मुग्धबोध में उसी कार्य के लिए कई सूत्र आये हैं। मुग्धबोध में नारी सखी, पङ्गुनी, यवनानी हिमानी अरण्यानी मानवी पतिवत्नी अन्तर्वत्नी पत्नी भार्गी गोपी, नासी, रक्षी, कुण्डी काशी कुशी वाकुली पटी कबरी अधित्री आदि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों को निपातन द्वारा सिद्ध किया है। हैम व्याकरण में उपर्युक्त प्रयोगों के लिए साधुत्व प्रक्रिया दिखलायी गयी है। मुग्धबोधकार ने प्रक्रिया का लाघव दिखलाने के लिए हेम और पाणिनि से अधिक शब्दों का निपातन किया है। वास्तव में निपातन एक कमजोरी है, जब अनुशासन विधायक नियमन नहीं मिलता तब लाचार वैयाकरण निपातन का सहारा ग्रहण करते हैं।

हैम व्याकरण में दीर्घपुच्छी मणिपुच्छी उलूकपुच्छी शूर्पणखी चन्द्रमुखी, आदि स्त्री प्रत्ययान्त प्रयोगों का साधुत्व दिखलाया गया है, पर मुग्धबोध में उक्त प्रयोगों का अभाव है।

तिङन्त प्रकरण में जिस प्रकार हेम ने क्रिया की अवस्था विशेष के अनुसार वर्तमाना अद्यतनी ह्यस्तनी आदि विभक्तियों के प्रत्यय बतलाये हैं, उसी

प्रकार मुग्धबोध में की खी गी घी, टी, टी डी ढी, ती और बी संज्ञाएँ रखकर हेमोक्त प्रत्ययों का ही निर्देश कर दिया है। धातु रूपों की साधनिका में भी हेम का पर्याप्त अनुकरण किया है। कृदन्त प्रकरण के प्रत्ययों में अ अक्, अन्, अन अनट् अनि अनीय अन्त अक् अस्, आटय आस, आलु इ इक ष्णक इत्नु, इष्णु, इस् उ उस् अक् क, क्वनि कि, कुर केलिम, क्त, क्तवतु, क्ति, कान् क्नु, कार क्यप क्रु क्लुक् क्वनिप, क्सुस्, कि, क्विप्, क्वरप्, ख, खनट्, खल घञ, घि, घिणु, घुरम, घ घम्, घुण, टपन् टयप्, ट ड्यण चक्रम चतुम्, द, ण्क्, ह हर डु प, णक् णन्, णनट्, णिन् तक, तिक्, तृन् त त्नक्, त्रक, नक्, नम प र स वनिप्, वर, क्विप वि‍ट, विम, श, शतृ शान, मेक, षम् ष्णुक स्क, स्नु, स्वतृ और स्यमान कृत् प्रत्ययों का समावेश किया है। ये सभी प्रत्यय हेम व्याकरण में भी आये हैं तथा साधन प्रक्रिया भी दोनों व्याकरणों में समान है। पता चलता है कि बोपदेव ने कृत् प्रत्ययों के लिए पाणिनि स अधिक हेम को अपना आदर्श रखा है।

मुग्धबोध में अ असट् अस् आ आस् आरक, आलु, आदि इन इत्, इल इम इम इमन् इय ईर इक, इय ईयसु, ईर, उर, उस, एयस एन कट कप, कम् कल किन् कुण, गोपुग गोष घहत्यक चण चतर्ण चतरा चन चरट् चाण, चाणत्, चित् चम्सु, च्य, च्वि, वाठीय वाढ ड डट डतम डतर, डति डान् डिन् ण नापत्य, णीन णीन्त, तम तयट् तयट् तर, तन ति तिषट् तु, तेम त्व त्यम् थ थाप्, त्य यट थाप दयट् दा दानी, देशीय मट मयट् मात्रट म्नेय म्नीक, यक, किन् एवं रूप आदि तद्धित प्रत्यय आये हैं। मुग्धबोध के इन प्रत्ययों में हेम की अपेक्षा कुछ अधिक प्रत्ययों की संख्या है। मुग्धबोध कार के तद्धित प्रत्ययों की शैली पाणिनि की नहीं है हेम की है। पाणिनीय तन्त्र में प्रथम एक प्रत्यय करते हैं, पश्चात् उसके स्थान पर दूसरे प्रत्यय का आदेश हो जाता है, किन्तु मुग्धबोध में यह बात नहीं है।

सार में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम का मुग्धबोध पर प्रभाव है पर उसकी प्रणयन शैली हेम से भिन्न है।

षष्ठ अध्याय

हेमचन्द्र और जैन वैयाकरण

मुग्धबोध के रचयिता पं० वोपदेव ने जिन आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया[1] है उनमें इन्द्र, शाकटायन और जैनेन्द्र भी शामिल हैं कुछ विद्वान् जैनेन्द्र और ऐन्द्र को एक ही व्याकरण मानते हैं। कहा जाता है कि—'भगवान् महावीर जब आठ वर्ष के थे, उस समय इन्द्र ने शब्द लक्षण सम्बन्धी कुछ प्रश्न उनसे किये और उनके उत्तर रूप यह व्याकरण बनाया गया जिससे इसका नाम जैनेन्द्र या ऐन्द्र[2] पड़ा।

कल्पसूत्र की विनय विजय कृत सुबोधिका टीका में बताया गया है कि भगवान् महावीर को उनके माता पिता ने पाठशाला में गुरु के पास पढ़ने भेजा जब इन्द्र को यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह स्वर्ग से आया और पण्डित के घर जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। उसने भगवान् से पण्डित के मन में जो सन्देह था, उन सब प्रश्नों को पूछा'। अब सब लोग यह सुनने के लिये उत्कण्ठित थे कि—देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् वीर ने सब प्रश्नों के उत्तर दिये और उसके फलस्वरूप यह जैनेन्द्र व्याकरण बना।

हेमचन्द्राचार्य ने अपने योग शास्त्र के प्रथम प्रकाश में लिखा है[3] कि इन्द्र के लिए जो शब्दानुशासन कहा गया उपाध्याय ने उसे सुनकर लोक में 'ऐन्द्र' नाम से प्रकट किया अर्थात् इन्द्र के लिये जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम ऐन्द्र हुआ। इन्द्र व्याकरण का उल्लेख शब्दार्णव की ताडपत्र वाली प्रति जो तेरहवीं शताब्दी की लिखी हुई है-में वर्तमान है अतः जैनेन्द्र व्याकरण से भिन्न कोई व्याकरण ऐन्द्र था, जिसका अभाव प्राचीन काल में ही हो चुका है। संभवतः यह ऐन्द्र व्याकरण जैन रहा होगा।

जैन व्याकरण परम्परा के उपलब्ध समस्त व्याकरणों में सबसे प्राचीन शब्दानुशासन देवनन्दि या पूज्यपाद का जैनेन्द्र व्याकरण है। इसका रचना

---

१ इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ।

२. आवश्यकसूत्र की हारिभद्रीयवृत्ति पृ १८२ ।

१ मातापितृभ्यामन्येद्युः प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे । आः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितीन्द्रस्तत्रुपास्थितः ॥ ५६ ॥ उपाध्यायासने ...... ह्यौरितम् ॥ ५७–५८ ॥

काल पाँचवीं शताब्दी माना जाता है इस ग्रन्थ के दो सूत्र पाठ उपलब्ध हैं—एक में तीन हजार सूत्र हैं और दूसरे में लगभग तीन हजार सात सौ। श्री प नाथूराम प्रेमी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि देवनन्दि या पूज्यपाद का बनाया हुआ सूत्रपाठ यही है, जिस पर अभयनन्दि ने अपनी महावृत्ति लिखी है।

जैनेन्द्र व्याकरण में पाँच अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। हेमचन्द्र ने पञ्चाध्यायी रूप जैनेन्द्र का अध्ययन अवश्य किया होगा।

जैनेन्द्र व्याकरण का सबसे पहिला सूत्र 'सिद्धिरनेकान्तात्' १।१।१ है। हेम ने इसी सूत्र को प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के द्वितीय सूत्र में "सिद्धिः स्याद्वादात्' १।१।२ रूप में लिखा है। अतः स्पष्ट है कि हेम ने जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार शब्दों की सिद्धि अनेकान्त द्वारा मानी है, क्योंकि शब्द में नित्यत्व अनित्यत्व, उभयत्व अनुभयत्व आदि विभिन्न धर्म रहते हैं। इन नाना धर्मों से विशिष्ट धर्मी रूप शब्द की सिद्धि अनेकान्त से ही सम्भव है। एकान्त सिद्धान्त से अनेक धर्म विशिष्ट शब्दों का साधुत्व नहीं बतलाया जा सकता।

जहाँ जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता देवनन्दी अनेकान्त से ही शब्दों की सिद्धि बतलाकर रुक गये वहाँ हेम ने एक कदम और आगे बढ़ कर स्याद्वाद के साथ लोक को भी ग्रहण किया। हेम ने 'लोकात्' १।१।३ सूत्र की वृत्ति में बताया है "उक्तादतिरिक्तानां क्रियागुणद्रव्यजातिकालकिङ्गस्वाङ्गसंख्यापरिमाणा पत्यवीर्यसाह्य्याऽऽद्यर्थादीनां संज्ञानां परान्नित्यनित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चा नवकाशं बलीय इत्यादीनां न्यायानां लोकाद् वैयाकरणसमयविद् प्रामा णिकादेशः शास्त्रप्रवृत्तये सिद्धिर्भवतीति वेदितव्यम् वर्णसमाम्नायस्य च" इससे स्पष्ट है कि हेम लोक की उपेक्षा नहीं करना चाहते हैं लोक की प्रवृत्ति उन्हें मान्य है। वैयाकरणों के द्वारा प्रतिपादित शब्द साधुत्व को तथा लोक प्रसिद्ध पर आश्रित शब्द व्यवहार को भी हेम ने साधुत्व के लिये आधार माना है। शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम इस स्थल में जैनेन्द्र से कुछ आगे हैं।

जैनेन्द्रका दूसरा प्रकरण सांकेतिक है। इसमें धातु, प्रत्यय प्रातिपदिक, विभक्ति, समास आदि सम्बर्ध महासंज्ञाओं के लिये बीज गणित जैसी अतिसंक्षिप्त संकेत पूर्ण संज्ञाएँ आई हैं। इस व्याकरण में उपसर्गों के लिए 'गि' अव्यय के लिये 'झि', समास के लिए 'स' वृद्धि के लिए 'ऐप्' गुण के लिए 'एप्' सम्प्रसारण के लिये 'जि' प्रथमा विभक्ति के लिए 'वा' द्वितीया के लिये 'इप' तृतीया विभक्ति के लिये 'भा' चतुर्थी के लिये 'अप' पंचमी के लिये 'का' षष्ठी

के लिये 'ता' सप्तमी के लिए 'ईप्' और संबोधन के लिए 'कि' संज्ञायें बतायी गयी हैं। निपात के लिए 'नि' दीर्घ के लिए 'दी' प्लुत के लिए 'दि', उत्तरपद के लिये 'यु', सर्वनाम स्थान के लिये 'घन्' अपकर्षन के लिए 'स्मक', प्लुत के लिये 'पा', ह्रस्व के लिए प्र, प्रत्यय के लिये 'त्य' प्रातिपदिक के लिये मृत्', परस्मैपद के लिये मम्, आत्मनेपद के लिये 'द' अकर्मक के लिये 'धि' उपयोग के लिये 'एक' सवर्ण के लिए स्वम्', तद्धित के लिए 'हृत्', लोप के लिए 'खम्', हार् के लिये 'उत्' लुक् के लिए 'उप्' एवं अभ्यास के लिए 'च' संज्ञा का विधान किया गया है। समास प्रकरण मे अव्ययी भाव के लिये 'ह' तत्पुरुष के लिये 'षम्' कर्म धारय के लिये 'प' द्विगु के लिये र और बहुव्रीहि के लिये 'वम्' संज्ञा बतलायी गयी है। जैनेन्द्र का यह संज्ञा प्रकरण अन्वर्थक नहीं है, यह इतना सांकेतिक है, कि उक्त संज्ञाओं के अभ्यस्त होने के उपरान्त ही विषय को हृदयंगम किया जा सकेगा। पर हेम की संज्ञायें अन्वर्थक है, उनमें रहस्यपूर्ण सांकेतिकता नहीं है। यों तो हेम में जैनेन्द्र की अपेक्षा कम ही संज्ञाओं का ही निर्देश किया गया है पर जितनी भी संज्ञायें निर्दिष्ट हैं सभी स्पष्ट हैं। हेम ने स्वर ह्रस्व दीर्घ प्लुत नामी समान धुट अघोष घोषवत् शिट्, स्व नाम अव्यय प्रथमादि विभक्ति संज्ञायें बतलायी हैं। समास अव्यय तद्धित, कृत्, सर्वनाम आदि के लिए पृथक् रहस्यात्मक संज्ञाएं निर्दिष्ट नहीं हैं। समास के भेदों के लिए जिस प्रकार जैनेन्द्र में अन्य संज्ञाएँ बतलाई गई हैं उस प्रकार हेम व्याकरण में नहीं। संक्षेप में हम इतना कह सकते हैं कि जैनेन्द्र की संज्ञाओं में बीज गणितीय पाण्डित्य भले हो, स्पष्टता नहीं है। उनकी संज्ञाओं में सरलता और स्पष्टता का जितना ही अभाव है, हेम की संज्ञाओं में सरलता और स्पष्टता उतनी ही अधिक है।

जैनेन्द्र व्याकरण में सन्धि के सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। देवनन्दी ने 'सन्धौ' ४।३।१ सूत्र को सन्धि का अधिकार सूत्र मानकर चतुर्थ अध्याय और पञ्चम अध्याय में सन्धि का निरूपण किया है। अधिकार सूत्र के अनन्तर छकार के परे सन्धि में तुगागम का विधान किया है। तुगागम करनेवाले ४।३।११ से ४।३।१४ तक चार सूत्र हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व आङ् माङ् तथा दी संज्ञकों से परे तुगागम किया है और त् को च बनाकर इच्छति गच्छति आच्छिनत्ति माच्छिदत् ह्रीच्छति म्लेच्छति कुमारीच्छाया आदि प्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। देवनन्दी की अपेक्षा हेम की प्रक्रिया में लाघव है। देवनन्दी ने पाणिनि का अनुसरण किया है पर हेम ने अपनी स्वतन्त्र विचार शैली का उपयोग कर सरलता लाने की चेष्टा की है।

अनन्तर जैनेन्द्र में यण् सन्धि का प्रकरण आया है। देवनन्दी ने पाणिनि के समान 'अचोऽचि यण्' ४।३।६५ सूत्रद्वारा इक्—इ, उ, ऋ, लृ को क्रमशः यणादेश—य, व, र, ल, का नियमन किया है। हेम ने उक्त कार्य का अनुशासन इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम् १।२।२१ सूत्र द्वारा ही कर दिया है। किन्तु ह्रस्वोऽपदे वा १।२।२२ सूत्र में नदि एषा, नद्येषा जैसे नवीन प्रयोगों की सिद्धि का भी विधान किया है।

देवनन्दी ने अयादि सन्धिका सामान्य विधान एचोऽयवायावः ४।३।६६ सूत्र में किया है। हेम ने इसी विधान के लिए दो सूत्र रचे हैं। जैनेन्द्र में यकारादि प्रत्ययों के परे अवादेश का विधान 'विल्ये' ४।३।६७ सूत्र द्वारा किया है। इसके लिए हेम का 'य्यक्ये' १।२।२५ सूत्र है। ऐसा लगता है कि हेम ने देवनन्दी के उक्त सूत्र के आधार पर ही य्यक्ये १।२।२५ को रचा है। यद्यपि स्थूलरूप से देखने पर देवनन्दी और हेम के सूत्र का एक ही भाव मालूम पड़ता है, परन्तु इस सूत्र की वृत्ति में विशेषता है, जिसका कथन इन्होंने स्वयं किया है "ओकारौकारयो स्थाने स्ववर्गीये यकारादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमवाव इत्येतावादेशौ भवत"। अर्थात् क्य प्रत्यय भिन्न यकारादि प्रत्ययों के परे ही अवादिका विधान होता है। इससे गोयूति में अव् का निषेध हो गया। हेम ने गव्यूति शब्द की व्युत्पत्ति पक्ष में पृषोदरादित्वात् साधु कहा है और कोषादय के मत में 'संज्ञा शब्दोऽयम्' कहकर साधुत्व मान लिया है।

हेम व्याकरण में स्वयं कथ्यः, कव्यः, कव्यम्, भवस्थानाम्यम् जैसे सार्थ प्रयोगों की सिद्धि के लिए अनुशासन नहीं किया गया है। पर जैनेन्द्र में इन सन्धियों का अनुशासन विद्यमान है। गुण सन्धि और वृद्धि सन्धि का प्रकरण दोनों का मिलता-जुलता है। अन्तर इतना ही है कि हेम ने प्रयोगों के साधुत्व को सरल और स्पष्ट बनाने का आयास किया है। जैनेन्द्र में अकार का पररूप करने के लिये एङि पररूपम् ४।३।८१, ४।३।८२, ४।३।८३ और एङ्पदान्तोऽपरे सूत्र आये हैं। किन्तु हेम व्याकरण में अकार का पररूप न कर उसके लुक् करने का अनुशासन आया है। इससे पररूप करनेवाली प्रक्रिया बहुत सरल हो गई है। जैनेन्द्र व्याकरण में विभिन्न निपाती स्थितियों में पररूप का और भी कई सूत्रों में विधान किया गया है। किन्तु हेम ने लुक् में ही समेट लिया है। जैनेन्द्र के प्रकृतिभाव को हेम में असन्धि कहा गया है पर प्रयोग सिद्धि की प्रक्रिया समान है।

व्यञ्जन सन्धि का नियमन जैनेन्द्र के पाँचवें अध्याय के चतुर्थ पाद में हुआ है। देवनन्दी और हेम में यहाँ कोई विशेष अन्तर नहीं है। 'सम्राट्'

शब्द का साधुत्व दोनों ही वैयाकरणों ने निपातन से माना है। विसर्ग सन्धि का जैनेन्द्र में पृथक् रूप से कथन है, पर हेम ने रेफ के अन्तर्गत विसर्ग को मान कर व्यञ्जन संधि में ही इसे स्थान दिया है। यह सत्य है कि हेम की व्यञ्जन सन्धि में जैनेन्द्र की व्यञ्जन और विसर्ग सन्धि के सभी उदाहरण नहीं आ पाये हैं।

सुबन्त की सिद्धि जैनेन्द्र और हेम में प्रायः समान है। पर दो चार स्थल ऐसे भी हैं जहाँ हेमचन्द्र ने अनुशासन संबंधी विशेषता दिखलायी है। पाणिनि के समान देवनन्दी ने भी शब्दों का साधुत्व दिखलाया है। हेमचन्द्र ने अपने क्रम को बहुत अंशों में उक्त वैयाकरणों के समान रखते हुए भी अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में—पाणिनि और देवनन्दी दोनों ने ही जस् के स्थान पर 'शी' आदेश किया है, पर हेम ने सीधे ही जस् के स्थान पर 'इ' आदेश कर दिया है। इसी प्रकार जहाँ देवनन्दी ने षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में नुट् और सुट् का आगम किया है, वहाँ हेम ने प्रक्रिया लाघव के लिए आम् को ही 'साम्' और 'नाम्' बना दिया है। जैनेन्द्र के समान ही हेम ने युष्मद् और अस्मद् शब्दों के रूपों का निपातन किया है। इदम् से पुल्लिङ्ग में अयम् और स्त्रीलिङ्ग में 'इयम्' रूप बनाने के लिए हेम व्याकरण में "अयमियं पुंस्त्रियोः सौ" २।१।३८ सूत्र आया है, किन्तु जैनेन्द्र में पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग रूपों के लिए पृथक् "द सौ, पुंसीदोऽयम् ५।१।१६८–१६९ ये दो सूत्र लिखे गये हैं। इस विधान से हेम का जैनेन्द्र की अपेक्षा लाघव सिद्ध होता है।

जैनेन्द्र में जरा शब्द से जरस् बनाने के लिये "जराया जरसन्यः" ५।१।६८ सूत्र द्वारा जरा संबंधी अच् के स्थान पर [illegible] करने का नियमन किया गया है, किन्तु हेम ने सीधे ही जरा के स्थान पर जरस् आदेश कर दिया है और 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' कह कर सीधे ही अतिजरसः, अतिजरसम् आदि प्रयोगों का साधुत्व प्रकट किया है। इस प्रकार शब्द रूपों की साधनिका में हेम ने प्रायः सर्वत्र ही लाघव प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। हेम की प्रक्रिया में स्पष्टता और वैज्ञानिकता ये दोनों गुण वर्तमान हैं।

स्त्री प्रत्यय प्रकरण में देवनन्दी ने पतिवत्नी और अन्तर्वत्नी प्रयोगों की सिद्धि पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ ३।१।१२ सूत्र द्वारा निपातन से मानी है। हेम ने भी उक्त दोनों रूपों को पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ भार्यागर्भिण्योः २।४।५१ सूत्र द्वारा निश्चित अर्थों में निपातन से सिद्ध माना है। अर्थात् हेम ने अविधवा अर्थ में पतिवत्नी शब्द का निपातन और गर्भिणी अर्थ में अन्तर्वत्नी शब्द का निपात

न स्वीकार किया है। अनुशासन की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन निःसन्देह — देवनन्दी की अपेक्षा वैज्ञानिक है।

जैनेन्द्र व्याकरण में पत्नी शब्द का साधुत्व निपातन द्वारा माना गया है पर हेम इसी प्रयोग की सिद्धि प्रक्रिया द्वारा करते हैं। इन्होंने पति शब्द से 'ऊढायाम्' २।४।५१ सूत्र द्वारा ऊढा—विवाहिता' के अर्थ में ङी प्रत्यय तथा अन्त्य में 'न्' का विधान कर पत्नी प्रयोग की सिद्धि की है। जैनेन्द्र का 'पत्नी' ३।१।२२ सूत्र पत्नी शब्द का निपातन करता है। अभयनन्दी ने महावृत्ति में पत्नी शब्द का अर्थ 'अस्य पुंसः वित्तस्य स्वामिनी' किया है। महावृत्तिकार की दृष्टि में वित्तस्वामिनी ऊढा भार्या ही हो सकती है, अतः उन्होंने वित्तस्वामिनी कहकर विवाहिता अर्थ ग्रहण कर लिया है। जैनेन्द्रकार देवनन्दी ने इस पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है।

वय अर्थ में 'ङी' प्रत्यय विधायक सूत्र दोनों व्याकरणों में एक ही है। कुमारी, किशोरी, वधूटी, तरुणी तलुनी आदि की प्रत्ययान्त प्रयोगों की सिद्धि दोनों वैयाकरणों ने समान रूप से की है।

जैनेन्द्र व्याकरण में नख मुख आदि संज्ञावाले शब्दों से ङी प्रत्यय का निषेध किया गया है और शूर्पणखा, गौरमुखा आदि प्रयोगों को साधु माना है। हेम ने नखमुखादनाम्नि २।४।४ सूत्र द्वारा उक्त शब्दों से वैकल्पिक ङी प्रत्यय करके शूर्पणखी शूर्पणखा, चन्द्रमुखी चन्द्रमुखा आदि प्रयोगों की साधनिका उपस्थित की है।

देवनन्दी ने ङी प्रत्यय का विधान करते समय सूर्याणी, सूरी और सूरी के लिये कोई नियमन नहीं किया है। पर हेम ने 'सूर्याद्देवतायां वा' २।४।६४ सूत्र द्वारा देवता अर्थ में विकल्प से ङी प्रत्यय का अनुशासन किया है और देवता अर्थ में सूर्याणी तथा सूरी और मानुषी अर्थ में सूरी शब्द का साधुत्व दिखलाया है। जैनेन्द्र व्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी ने अपनी टीका में 'येन सूर्यादिदेवतायां ङी मे मर्यादि' लिखकर 'सूर्यस्य भार्या सूरी' रूप बतलाया है और देवता भिन्न अर्थ में 'सूर्यो नाम मनुष्यः तस्य सूरीति' निर्देश किया है। अतः स्पष्ट है कि हेम का यह वैकल्पिक ङी विधान बिल्कुल नया है, जिसका जिक्र न तो देवनन्दी ने किया है और न अभयनन्दी ने।

देवनन्दी ने मनुषी की मनायी और मनावी प्रयोगों के साधुत्व के लिए 'मनोरौ च' ३।१।४१ सूत्र लिखा है। हेम ने इन्हीं प्रयोगों के लिये 'मनोरौ वा' २।४।६१ सूत्र लिखा है। जैनेन्द्र और हेम के उक्त दोनों सूत्रों में 'च' और 'वा' का अन्तर है। अर्थात् हेम ने वैकल्पिक ङी का विधान कर मनुष्यङ्ग का साधुत्व भी इसी सूत्र द्वारा कर लिया है। जैनेन्द्र के महावृत्तिकार ने 'वैकल्पिकमनुडैस्थानि'

विभक्त बिना किसी अनुशासन के मात्र शब्द का साधुत्व मान लिया है। अतः हेम ने जैनेन्द्र का एक सूत्र ग्रहण कर भी एक नयी बात कह दी है जिस से हेम की मौलिकता सिद्ध होती है।

जैनेन्द्र व्याकरण में 'कारके' १।२।१०९ को अधिकार सूत्र मान कर कारक प्रकरण का अनुशासन किया है। देवनन्दी ने पञ्चमी विभक्ति का अनुशासन सब से पहिले आरम्भ किया है। पश्चात् चतुर्थी, तृतीया सप्तमी, द्वितीया और षष्ठी विभक्ति का नियमन किया है। उनका यह कारक प्रकरण बहुत संक्षिप्त है। हेम ने कारक प्रकरण को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। चतुर्थी के नाना अर्थों में विधान करने वाले विशेष सूत्र जैनेन्द्र में नहीं आये। इसी प्रकार मैत्राय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते[१] शपते, पाकाय व्रजति, न त्वां तृणाय मन्ये आदि प्रयोग जैनेन्द्र की अपेक्षा हेम में अधिक हैं। हेम के कारक प्रकरण की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि हेम ने आरम्भ में ही कारक की परिभाषा दी है तथा कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान और अधिकरण इन छहों कारकों की परिभाषाएँ भी दी हैं। स्पष्टीकरण और परिभाषा की दृष्टि से हेम इस निरूपणपूर्ण प्रकरण में जैनेन्द्र से बहुत आगे हैं। महावृत्तिकार ने जो परिभाषाएं टीका के बीच में प्रस्तुत की हैं हेम ने उन समस्त परिभाषाओं का उपयोग किया है।

जैनेन्द्र में समास प्रकरण प्रथम अध्याय के तीसरे पाद में आया है। इस प्रकरण में सबसे पहले 'समर्थः पदविधिः' १।३।१ सूत्र द्वारा परिभाषा उपस्थित की गई है। सामान्यतया समास विधायक सूत्र 'सुप् सुपा' १।३।२ है। हेमने 'नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्' सूत्र द्वारा स्यादियों का स्यादियों के साथ समास किया है। जैनेन्द्र में "ह्" १।३।४ को अव्ययीभाव का अधिकार सूत्र मानकर 'हि विभक्त्यभाव..' इत्यादि १।३।५ द्वारा विभक्ति, अभाव, समृद्धि, अर्थाभाव, अति,ख्रि असंप्रति, प्रति, ख्याति, शब्दप्रभव, पश्चात्, यथा आनुपूर्वी यौगपद्य सम्पत्, साकल्य और अन्तोक्ति इन सोलह अर्थों में अव्ययीभाव समास का संविधान किया है। हेम ने भी—'अव्ययम्' ३।१।२१ को अधिकार सूत्र मानकर विभक्ति समीप समृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययाऽसम्प्रति पश्चात् क्रमख्याति युगपत् सदृक् सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम् ३।१।३९ सूत्र से उक्तार्थों में अव्ययीभाव की व्यवस्था की है।

जैनेन्द्र व्याकरण में 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः' १।१।१ सूत्र द्वारा बताया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर

१. स्थानेनाऽऽत्मानं ज्ञापयति—प्रकाशयति—इत्यर्थः ।

एकत्व, द्वित्व और बहुत्व में प्रयुक्त होते हैं अतः एक शेष मानना निरपेक्ष है। पर हेमचन्द्र ने 'समानामर्थे नैकः शेषः ३।१।११८' में एक शेष का उल्लेख किया है। हेम का समासान्त प्रकरण भी जैनेन्द्र की अपेक्षा विस्तृत है। हेम ने अम्, डुम्मुक और ह्रस्व का विधान ही प्रमुख रूप में किया है यद्यपि जैनेन्द्र में भी उक्त प्रकरण है, पर हेम में ये प्रकरण अधिक विस्तृत हैं।

तिङन्त प्रकरण पर विचार करने से अवगत होता है कि जैनेन्द्र में पाणिनि की तरह नव लकारों का विधान है। हेम ने लकारों के स्थान पर क्रिया की अवस्था द्योतक ह्यस्तनी अद्यतनी वर्तमाना, पञ्चमी आदि विभक्तियों को रखा है। तिङन्त प्रकरण में हेम की शैली जैनेन्द्र से बिलकुल भिन्न है।

देवनन्दी ने 'लस्य' सूत्र द्वारा लकार का अधिकार माना है और दश लकारों जैसे लेट् को छोड़ शेष नव लकारों को ही ग्रहण किया है। इनमें पांच लकार टित्संज्ञक और अन्तिम चार ङित्संज्ञक हैं। इनके यहाँ सर्वप्रथम धातु से लकार होता है, पश्चात् लकार के स्थान पर 'मिप वस् मस, सिप थस, थ, तिप् तस, झि ये प्रत्यय परस्मैपदियों में और इट, वहि, महि थास, आथाम्, ध्वम्, त, आताम्, झ ये प्रत्यय आत्मनेपदियों में होते हैं। पश्चात् भिन्न-भिन्न लकारों में भिन्न भिन्न प्रकार के आदेश किये जाते हैं। जैसे लट् लकार में आत्मनेपदी धातुओं में रूपसिद्ध करने के लिए टित् लकारों में आकार को एत्व किया गया है और मध्यमपुरुष एक वचन में थास् के स्थान पर २।४।६६ सूत्र द्वारा स आदेश किया है। लिट् लकार में मिप वस मस् आदि नव प्रत्ययों के स्थान पर णल् व म, थ, थुस, अथ, णल् अतुस्, उस् इन नव प्रत्ययों का आदेश किया है। लोट् लकार में ४।४।७१ द्वारा इकार के स्थान पर उकार, सि के स्थान पर 'हि' और मि के स्थान पर 'नि' 'हो' जाता है। इसी तरह सभी लकारों के प्रत्ययों में विशेष-विशेष आदेश किये हैं।

हेम की प्रक्रिया देवनन्दी की प्रक्रिया से विपरीत है। इन्होंने वर्तमाना (लट् लकार) में तिप्, तस्, अन्ति, सिप्, थस, थ, मिव्, वस्, मस्, ते आते अन्ते, से आथे, ध्वे, ए, वहे, महे प्रत्यय किये हैं। परोक्षा (लिट् लकार) के प्रत्ययों में णव्, अतुस्, उस्, थव्, अथुस्, अ, णव्, व, म, ए, आते इरे, से, आथे, ध्वे, ए, वहे, महे, प्रत्ययों की गणना की है। पञ्चमी (लोट् लकार) में तुव्, ताम् अन्तु, हि, तं त, आनिव्, आवव आमव, ताम्, आताम्, अन्ताम्, स्व, आथाम् ध्वम्, ऐव, आवहैव, आमहैव इन प्रत्ययों का विधान किया है, इसी प्रकार ह्यस्तनी, अद्यतनी, श्वस्तनी आदि विभक्तियों में पृथक् पृथक् प्रत्ययों का विधान किया है इन प्रत्ययों के विधान से हेम उक्त

आदेश वाली गौरव पूर्ण प्रक्रिया से बच गये हैं। जिस प्रकार जैनेन्द्र में पहिले धातु से अकार का विधान होता है पश्चात् सिप्, थस्, थ आदि प्रत्यय किये जाते हैं, तत्पश्चात् इन प्रत्ययों के स्थान पर विभिन्न लकारों में विशेष विशेष आदेश किये जाते हैं उस प्रकार हेम ने आदेश न कर, आदेश-निष्पन्न प्रत्ययों की ही गणना कर दी है। अतः हेम गौरवपूर्ण उस बोझिल प्रक्रिया से मुक्त हैं। इस तिङन्त प्रकरण में हेम ने जैनेन्द्र की अपेक्षा प्रायः लाघवपूर्ण सरल प्रक्रिया उपस्थित की है। यद्यपि यह सत्य है कि हेम ने जैनेन्द्र से बहुत कुछ ग्रहण किया है पर इस ग्रहण को ज्यों के त्यों रूप में नहीं रखा है। उसमें अपनी मौलिक प्रक्रिया का योगकर उसे नया और विशिष्ट बना दिया है।

तद्धित प्रकरण जैनेन्द्र व्याकरण में पर्याप्त विस्तार के साथ आया है। हेम ने भी इस प्रकरण का निरूपण छठे और सातवें दोनों अध्यायों में किया है। जैनेन्द्र की तद्धित प्रक्रिया प्रणाली में यञ्, ढण, ठण्, छ, फ आदि प्रत्ययों का विधान विद्यमान है पश्चात् यञ के स्थान में आयन्, ढण के स्थान पर एय, ठण के स्थान पर इक, छ के स्थानपर ईय आदेश करके तद्धितान्त प्रयोगों की सिद्धि की है। पर हेम ने पहले प्रत्यय कुछ किया और अनन्तर उसके स्थान पर कुछ आदेश कर दिया यह प्रक्रिया नहीं अपनायी है। अतः जहाँ जैनेन्द्र में ढण प्रत्यय किया गया है, वहाँ हेम ने एयण्; जहाँ जैनेन्द्र में ठण प्रत्यय किया गया है वहाँ हेम ने इकण् और जहाँ जैनेन्द्र में छ प्रत्यय का विधान है, वहाँ हेम ने ईय प्रत्यय किया है। इस प्रकार हेम की प्रक्रिया अधिक सरल और स्पष्ट है।

हेम ने तद्धित प्रकरण में जैनेन्द्र के कुछ सूत्रों को ज्यों का त्यों अपना लिया है, किन्तु उन सूत्रों के अर्थ में इन्होंने विस्तार किया है। जैसे 'कुलटाया वा' ६।१।७८ सूत्र जैनेन्द्र का ३।१।११६ है। हेम ने कुलटा शब्द से अपत्यार्थ में एयण प्रत्यय का विधान करते हुए इस शब्द के अन्त में इन् के लोप का भी निर्देश किया है। जब कि जैनेन्द्र में इस सूत्र द्वारा वैकल्पिक रूप से केवल इनादेश किया है और 'क्षुद्राभ्यो ढण्' ३।१।११९ ढण् प्रत्यय का अनुशासन किया गया है पश्चात् ढण् के स्थान पर एय आदेश कर कौलटिनेय, कौलटेय आदि तद्धितान्तरूपों की सिद्धि की है। अतः स्पष्ट है कि हेम ने जिन सूत्रों को ज्यों का त्यों अपनाया भी है तो भी उनमें अपनी प्रतिभा को उड़ेल दिया है। जैनेन्द्र में पीला शब्द से अपत्यार्थ में वैकल्पिक अण् कर पैलः और पैलेयः रूपों का साधुत्व बतलाया है, वहाँ हेम ने पीला के साथ साल्वा और मण्डूक को भी ग्रहण किया है तथा इन तीनों शब्दों से वैकल्पिक अण्

विधान कर पैङ्ग, पैङ्गेय, शास्त शास्नेयः मातृकः मातृकि आदि शब्दों की शब्द प्रक्रिया लिखी है। जैनेन्द्र में शस्त्र्यैक्याव्यारिभ्याम् ३।२।१५१ में शास्त्री और शस्त्रधारी शब्द से इय प्रत्यय करके शास्त्रेय आदि रूप बनाये हैं, किन्तु शास्त्र प्रयोगका निर्देश नहीं किया है।

गोधा शब्द से अपत्यार्थ में जैनेन्द्रकार ने आर और द्रण प्रत्यय करके गोधार और गोधेर प्रयोगों की सिद्धि की है किन्तु हेम ने गोधा शब्द से दुष्ट अपत्यार्थ में आर और एरण प्रत्यय का विधान किया है। हेम ने इस प्रकरण में जैनेन्द्र के अनेक सूत्र और भावों को ग्रहण किया है।

कृत्प्रत्ययों का अनुशासन हेम ने पाँचवें अध्याय में किया है। जैनेन्द्र में ये प्रत्यय यहाँ वहाँ विद्यमान हैं। 'धोर्कृत्' २।१।८२ सूत्र को कृत्प्रत्ययों का अधिकारीय सूत्र माना है और तव्य अनीय आदि प्रत्ययों का विधान किया है। इस प्रकरण के अन्तर्गत यत्, क्यप्, ण्वुल्, तृच्, अच, अन्, क्विन्, क, ड, घ ञ, णिच, क्ति, क्तप्, शतृ शानच्, क्त्वा, आदि णु, प आदि प्रत्ययों का जैनेन्द्र में अनुशासन विद्यमान है। हेम के यहाँ ण्वुल के स्थान पर णक् और ल्युट के स्थान पर अन प्रत्यय का विधान है। अतः हेम व्याकरण का यह प्रकरण जैनेन्द्र के समान होते हुए भी विशिष्ट है।

हेमचन्द्राचार्य और शाकटायनाचार्य

यह सत्य है कि हेमचन्द्र के व्याकरण के ऊपर शाकटायन व्याकरण का सर्वाधिक प्रभाव है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण की रचना में पाणिनि, कातन्त्र जैनेन्द्र, शाकटायन और सरस्वती कण्ठाभरण का आधार ग्रहण किया है। अतः उक्त व्याकरण ग्रन्थों के कतिपय सूत्र तो ज्यों के त्यों हेम में उपलब्ध हैं और कतिपय सूत्र कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं।

हेम के सिद्ध हेम शब्दानुशासन की शैली उक्त समस्त व्याकरणों की मिश्रित शैली का प्रतिबिम्ब है, पर यह ऐसा प्रतिबिम्ब है, जो बिम्ब के अभाव में भी अपना प्रकाश बिम्ब की अपेक्षा कई गुना अधिक रखता है। हेम व्याकरण के अध्ययन से ऐसा लगता है कि हेम ने अपने समय में उपलब्ध समस्त व्याकरण वाङ्मय का आलोडन-विलोडन कर समुद्र-मन्थन के अनन्तर प्राप्त हुए रत्नों के समान तत्त्व ग्रहण कर अपने शब्दानुशासन की रचना की। इसी कारण हेम व्याकरण में वे त्रुटियाँ नहीं आने पायी हैं, जो अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों के पृथक् पृथक् ग्रन्थों में परिच्छिन्न रूप में विद्यमान हैं। हेम ने शक्ति भर अपने शब्दानुशासन को सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

शाकटायन व्याकरण की शैली और भाव को हेम ने एकाध स्थान में ज्यों के त्यों रूप में ग्रहण कर लिया है। उदाहरण के लिये 'पारेमध्ये षष्ठ्या वा' (पाणिनि), 'पारेमध्ये षष्ठ्या वा' (जैनेन्द्र) और 'पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा' (शाकटायन) का सूत्र है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर 'पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा' सूत्र लिखा। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणों के सूत्र की हेम के सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का शब्दशः अनुकरण किया है। भारतीय प्रोफेसर पाठक ने "Jain Shakatayana-contemporary with Amoghvarsa" शीर्षक निबन्ध में हेम के ऊपर शाकटायन का सर्वाधिक प्रभाव सिद्ध किया[1] है।

शाकटायन के "न नृ पूजार्थध्वजचित्रे" ३।३।१४ सूत्र पर "नरि मनुष्ये पूजार्थे ध्वजे चित्रे चित्रकर्मणि चाभिधेये कः प्रत्ययो न भवति। 'संज्ञाप्रतिकृत्योरिति यथासंख्यम् प्राप्तिः नरि चञ्चामरणः। चञ्चातुल्यः वध्रिका, खरकुटी दासी। पूजार्थे-अर्हन् शिवः स्कन्दः। पूजार्थाः प्रतिकृतय उच्यन्ते। ध्वजे गरुडः। सिंहः। तालः। ध्वजः। चित्रे दुर्योधनः। भीमसेनः। लिखी गई है।

हेमचन्द्र ने "न नृ पूजार्थ ध्वज चित्रे" ७।१।१०९ सूत्र पर अपनी बृहद् वृत्ति में लिखा है नरि मनुष्ये पूजार्थे ध्वजे चित्रे च चित्रकर्मणि अभिधेये कः प्रत्ययो न भवति। तत्र साऽपमिस्येषामिवस्यन्तम्। संज्ञाप्रतिकृत्योरिति यथासंख्यं प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम्। नृ चञ्चा तृणमयः पुरुषः। य एव रज्ज्वाप विक्रीयते। चञ्चातुल्यस्तु चञ्चा। एवं वध्रिका। खरकुटी। पूजार्थे अर्हन्। शिवः स्कन्दः पूजार्थाः प्रतिकृतय उच्यन्ते। ध्वजे गरुडः सिंहः तालो ध्वजः। चित्रे दुर्योधनः भीमसेनः।

उपर्युक्त शाकटायन के उद्धरण के साथ हेम के उद्धरण की तुलना करने से ऐसा मालूम पड़ेगा कि हेम ने शाकटायन की प्रतिलिपि ग्रहण की है। पर सूक्ष्म दृष्टि से समालोचनपूर्वक विचार करने से यह ज्ञात होता है कि हेम में शाकटायन की अपेक्षा पद पद पर नवीनता और मौलिकता विद्यमान है। यद्यपि इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि हेम ने शाकटायन व्याकरण से बहुत कुछ ग्रहण किया है, तो भी प्रक्रिया और प्रयोग साधना की दृष्टि से हेम अवश्य ही शाकटायन से आगे हैं। हेम ने अपने समय में प्रचलित समस्त व्याकरणों का अध्ययन अवश्य किया है और विशेषतः पाणिनि,

१ देखें Indian Antiquary October 1914 Vol XLIII P 208

कातन्त्र, जैनेन्द्र और शाकटायन का खूब मन्थन किया है, इसी कारण हेम पर जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरणों का प्रभाव इतना अधिक है कि जिससे साधारण पाठक को यह भ्रम हो जाता है कि हेम ने शाकटायन की प्रतिलिपि कर ली है। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि हेम ने जहाँ भी पाणिनि, कातन्त्र, जैनेन्द्र या शाकटायन का अनुसरण किया है, वहाँ अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उदाहरण में आये हुए प्रयोगों में भी एक नहीं अनेक नये प्रयोग आये हैं तथा प्रक्रिया क्रम भी अपने ढंग का है।

शाकटायन व्याकरण ने प्रत्याहार शैली को अपनाया है। इस व्याकरण में "तथारो शास्त्रे सम्प्रदायार्थे प्रत्याहार' कथ्यते" लिखकर 'अइउण्, ऋक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरलञ् ञमङणनम्, जबगडदश्, झभघढधष्, ख फ छ ठ थ च ट, चटतव्, कपय्, श ष स अं अः ≍क≍प र् और हल्' इन तेरह प्रत्याहार सूत्रों का निरूपण किया है। यहाँ एक विशेषता यह है कि शाकटायन में प्रत्याहार सूत्रों का क्रम पाणिनि जैसा ही नहीं है, बल्कि उनके सूत्रों में संशोधन और परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ शाकटायन में लृकार स्वर को माना ही नहीं गया है। इसी तरह अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की गणना व्यञ्जनों के अन्तर्गत कर दी गयी है। पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को विकृत व्यञ्जन माना है। वास्तव में अनुस्वार मकार या नकार जन्य है, विसर्ग कहीं सकार से और कहीं रेफ से स्वतः उत्पन्न होता है, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः 'क, ख' तथा 'प फ' के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने इन सभी अक्षरों का अपने प्रत्याहार सूत्रों में—जो उनकी वर्णमाला कही जाती सर्वांश रूप से कोई स्थान नहीं दिया। बाद के पाणिनीय वैयाकरणों में से कात्यायन ने उक्त चारों को स्वर और व्यञ्जन दोनों में ही परिगणित करने का निर्देश किया। शाकटायन व्याकरण में अनुस्वार विसर्ग आदि के मूल रूपों को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रत्याहार सूत्रों में रखकर उनके व्यञ्जन होने की घोषणा कर दी गई है।

शाकटायन व्याकरण के प्रत्याहार सूत्रों की दूसरी विशेषता यह है, कि इसमें हल् सूत्र को स्थान नहीं दिया है और हकार को पूर्व सूत्र में ही रख दिया गया है। इसमें सभी वर्ग के प्रथमादि अक्षरों के क्रम से अलग अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। केवल वर्गों के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिये दो सूत्र हैं। 'पाणिनीयवर्णसमाम्नाय' की भाँति शाकटायन व्याकरण में भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण में ४१, ४२, या ४४ प्रत्याहार रूपों की उपलब्धि होती है, किन्तु शाकटायन में सिर्फ १८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

शाकटायन व्याकरण में सामान्य संज्ञाएं बहुत अल्प हैं। इत्संज्ञा और त (सवर्ण) संज्ञा करने वाले; अतः ये दो ही संज्ञाविधायक सूत्र हैं और इस व्याकरण में अवशेष दो सूत्र ग्राहक सूत्र कहे जायेंगे। ग्राहकसूत्रों में प्रथम सूत्र वह है जो स्वर (व्यञ्जन भी) से उसके सवर्णीय दीर्घादि वर्णों का बोध कराता है और दूसरा प्रत्याहार बोधक 'आसमेतत्' १।१।१ सूत्र है यहां प्रत्याहारबोधक सूत्र इतना अस्पष्ट है कि इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। यदि उसके शब्दों के अनुसार समझना हो तो उसके पूर्व पाणिनि का "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र अवस्थित कर लेना पड़ेगा।

शाकटायन में लृवर्ण को ग्रहण नहीं किया है, किन्तु शाकटायन के टीकाकारों ने "ऋवर्ण ग्रहणे लृवर्णस्यापि ग्रहणं भवति ......ऋलृवर्णयोरैक्यम्[1]" द्वारा लृकार के ग्रहण की सिद्धि की है।

यह सत्य है कि शाकटायन व्याकरण में संज्ञा सूत्रों की बहुत कमी है। शाकटायनकार ने कारिकाओं में भी व्याकरण के प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश किया है। इस व्याकरण के संज्ञा प्रकरण में कुल छः सूत्र हैं—उन में भी दो ही सूत्र ऐसे हैं, जो संज्ञा विधायक कहे जा सकते हैं।

हेम और शाकटायन व्याकरण के संज्ञा प्रकरण की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि हेम का संज्ञा प्रकरण शाकटायन की अपेक्षा पुष्ट और सर्वांगपूर्ण है। हेम प्रत्याहार के झमेले में नहीं पड़े हैं। इन्होंने वर्णमाला का सीधा क्रम स्वीकार किया और स्वर तथा व्यञ्जनों का विचार एवं उनकी संज्ञाओं का प्रतिपादन शाकटायन से अच्छा किया है। हेम की संज्ञाएं शाकटायन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और व्यावहारिक हैं, अतः यह निश्चय है कि हेम संज्ञा प्रकरण के लिए शाकटायन के बिल्कुल आभारी नहीं हैं। इन्होंने पूर्वाचार्यों से जो भी ग्रहण किया है, उसे अपनी प्रतिभा के सांचे में ढालकर मौलिक बना दिया है।

शाकटायन में "न १।१।७ सूत्र के द्वारा विराम में सन्धि कार्य का निषेध करते हुए अविराम में सन्धि का विधान मानकर—सूत्र को अधिकार सूत्र बताया है। अच् सन्धि के आरम्भ में सब से पहिले अयादि सन्धि का विधान एक ही एचोऽप्ययवायाव् १।१।६९ सूत्र द्वारा कर दिया है। पश्चात् आगे १।१।७१ द्वारा यण सन्धि का निरूपण किया है। हेम ने भी अपने शब्दानुशासन में उक्त दोनों सन्धियों का विधान शाकटायन जैसा ही किया है। हां अयादि सन्धि के लिये जहां शाकटायन में एक ही सूत्र है वहां हेम ने दो सूत्रों द्वारा

१ रूपसिद्धि वृत्ति पृ० ३।

उक्त सन्धि कार्य का अनुशासन किया है। क्रम में अन्तर है। हेम ने सर्वप्रथम दीर्घ सन्धि का अनुशासन किया है, तत्पश्चात् गुण, वृद्धि, यण् और अयादि सन्धियों का सन्धि के विधान के प्रसंग में शाकटायन में 'ह्रस्वो वाऽपदे' १।१।७४ सूत्र है इसके द्वारा दधि अत्र सम्पन्न: नदि एषा, नद्येषा; मधु अपलेय, मध्वलय आदि सन्धि प्रयोगों की सिद्धि की है। इस सूत्र द्वारा वैकल्पिक रूप से इको—ई उ का ह्रस्व किया गया है। हेम ने भी 'ह्रस्वोऽपदे वा १।२ २२ सूत्र ज्यों का त्यों शाकटायन का ग्रहण कर लिया है और इसके द्वारा ईकारादि को असमान स्वर वर्ण परे रहने पर ह्रस्व होने का निरूपण किया है। यह हेम का अनुकरण मात्र ही नहीं कहा जायगा बल्कि ज्यों का त्यों रूप में ग्रहण करने की बात स्वीकार की जायगी अच् सन्धि प्रकरण का शाकटायन के १।१।८५, १।१।८६ १।१।८८, १।१।९७ एवं हेम के स्वरसन्धि प्रकरण में १।२।२१ १।२।१८, १।२।१७ और १।२।३० में ज्यों के त्यों उपलब्ध हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि हेम स्वर सन्धि के लिए जैनेन्द्र और पाणिनि की अपेक्षा शाकटायन के अधिक ऋणी हैं।

प्रकृति भाव प्रकरण को शाकटायन ने निषेध सन्धि प्रकरण कहा है। हेम ने इसे असंधि प्रकरण कह दिया है। अतः उक्त नामकरण के लिये भी हेम के ऊपर शाकटायन का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। हैम व्याकरण में असन्धि प्रकरण ११ सूत्रों में वर्णित है, जब कि शाकटायन में यह प्रकरण केवल चार सूत्रों में आया है। पर यह सत्य है कि—शाकटायन के उक्त चार सूत्रों में से तीन सूत्रों को हेम ने थोड़े से फेर फार के साथ ग्रहण का किया है। जैसे शाकटायन के 'नप्लुतस्यानितौ' १।१।९९ को 'प्लुतो नि तौ' १।२।३२ में 'चादेरचोऽनाङ् १।११ १। को 'चादि स्वरोऽनाङ्' १।२।३१ में और 'ओत' १।१। २ को 'ओदन्त' १।२।३७ में ग्रहण किया है।

शाकटायन में स्वर सन्धि के अन्तर्गत द्वित्व सन्धि को भी रखा गया है। और इसका अनुशासन ९ सूत्रों में किया गया है किन्तु हैम व्याकरण में व्यञ्जन सन्धि में ही उक्त प्रकरण के लिये बारह सूत्र आये हैं। शाकटायन में जिस कार्य के लिये दो सूत्र हैं हेम ने उस कार्य को एक ही सूत्र में कर दिखाया है। जैसे शाकटायन में छकार के द्वित्व विधान के लिये 'दीर्घाच्छो वा १।१।१२४ और अचाङ्माङ १।१।१२६ ये दो सूत्र आये हैं पर हेम ने इन दोनों को 'अनाङ्माङो दीर्घाद्वाच्छ: १।३।२८ सूत्र में ही समेट लिया। द्वित्व प्रकरण का अनुशासन हेम का शाकटायन की अपेक्षा विस्तृत और उपयोगी है।

शाकटायन में जिसे हल सन्धि कहा गया है, हेम ने उसे व्यञ्जन सन्धि माना है। शाकटायन में तवर्ग का चवर्ग होने का विधान किया है, पर हेम ने

सन्धि में ही कर लिया है। इस सन्धि में आये हुए शाकटायन के सूत्रों का हेम ने उपयोग नहीं किया है। हेम की विवेचन-प्रक्रिया अपने ढंग की है। जहाँ तक हमारा ख्याल है कि रेफ और सकारजन्य विसर्गसन्धि के विकार को व्यञ्जन में परिगणित करना हेम की अपनी निजी विशेषता है। इससे इन्होंने लाघव तो किया ही साथ ही अनावश्यक विस्तार से भी अपने को बचा लिया है।

शब्द साधुत्व की प्रक्रिया में हेम और शाकटायन इन दोनों ने दो दृष्टिकोण अपनाये हैं। शाकटायन ने एक एक शब्द को लेकर उसका सभी विभक्तियों में साधुत्व प्रदर्शित किया है। पर हेम ने ऐसा नहीं किया। हेम ने सामान्य विशेषभाव से सूत्रों का ग्रथन कर एक से ही अनुशासन में चलने वाले कई शब्दों की सिद्धि बतलायी है जैसे देवम्, मालाम्, मुनिम्, नदीम्, साधुम् और वधूम् की सिद्धि के लिये समान कार्य विधायक एक ही 'समानादमोऽतः' १।४।४६ सूत्र रचा है। इस प्रक्रिया के कारण ही हेम स्वरान्त और व्यञ्जनान्त शब्दों की सिद्धि साथ-साथ करते चले हैं। इनका यह क्रम लाघव की दृष्टि से अवश्य ही महत्वपूर्ण है। शाकटायनकार ने पाणिनि की प्रक्रिया पद्धति का अनुसरण किया है, पर हेम ने अपनी प्रक्रिया पद्धति भिन्न रूप से स्वीकार की है। हेम का एक ही सूत्र स्वरान्त और व्यञ्जनान्त दोनों ही प्रकार के शब्दों का नियमन कर देता है। इस प्रकरण में शाकटायन के कई सूत्रों को हेम ने ग्रहण कर लिया है।

स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में शाकटायन ने स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों का साधुत्व छोड़ दिया है। जैसे दीर्घपुच्छी दीर्घपुच्छा कबरपुच्छी, मणिपुच्छी विषपुच्छी, उलूकपक्षी अश्वक्रीती, मनसाक्रीती आदि प्रयोगों का शाकटायन में अभाव है, पर हेम ने उक्त प्रयोगों की सिद्धि के लिये 'पुच्छात्' २।४।४१ 'कबरमणि-विषशरादेः' २।४।४२ 'पक्षाच्चोपमानादेः' २।४।४३ एवं 'क्रीतात् करणादेः' २।४।४४ सूत्रों का ग्रथन किया है। इसी प्रकार शूर्पणखी शूर्पणखा चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा आदि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों के साधुत्व के लिये शाकटायन में किसी भी प्रकार का अनुशासन नहीं है, किन्तु हेम ने 'नखमुखादनाम्नि' २।४।४ सूत्र द्वारा उक्त प्रयोगों का अनुशासन किया है।

स्त्रीप्रत्यय में शाकटायन के 'वयस्यनन्त्ये', १।३।१० 'पाणिगृहीतीति पत्नी, १।३।२५ 'पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यावविधवा गर्भिण्योः' १।३।४२, 'सपत्न्यादौ' १।३।४३ 'नारी सखीपङ्गूश्वश्रूः' १।३।७५ सूत्र हेम में क्रमशः २।४।२१, २।४।५२, २।४।५३ २।४।४९ और २।४।७६ सूत्र हैं, उदाहरण इन सूत्रों के वे ही हैं

है। हेम ने तुल्यार्थैस्तृतीया षष्ठ्यौ २।२।११६ द्वारा दोनों ही विभक्तियों का विधान तुल्यार्थ में कर दिया है।

शाकटायन में ऋत के योग में द्वितीया और पंचमी का विधान करने वाले 'पञ्चमी चर्ते' १।३।१९१ सूत्र में पंचमी का उल्लेख कर चकार से द्वितीया विभक्ति का उल्लेख किया गया है पर हेम ने 'ऋते द्वितीया च' सूत्र में द्वितीया का उल्लेख कर चकार से पञ्चमी का ग्रहण कर लिया है।

उत्कृष्ट अर्थ में अनु और उप के योग में द्वितीया विभक्ति विधायक दोनों व्याकरणों में एक ही सूत्र है। जहाँ शाकटायन में इसके उदाहरण में अनुसमन्त भद्र तार्किकाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः जैसे दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य प्रयोग उपस्थित किये गये हैं, वहाँ हेम ने अनुसिद्धसेन कवयः और उपोमास्वातिं संग्रहीतारः प्रयोगों को रखा है।

उत्पातद्वारा ज्ञाप्य में चतुर्थी विभक्ति का विधान करने वाला दोनों व्याकरणों में एक ही सूत्र है तथा हेम ने उदाहरण में भी शाकटायन की निम्नकारिका को ज्यों का त्यों रख दिया है:—

> वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
> पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥

इस प्रकरण में शाकटायन के १।३।१२५, १।३।१ २ ३।३।१ ४, १।३।१२७ १।३।१२९ १।३।१३१ १।३।१३२, १।३।१३७ १।३।१४२ १।३।१७९ १।३।२८ १।३।१८३ १।३।१८६ १।३।१८८, १।३।१४० १।३।१५७ १।३।१९२, तथा १।३।१६७ संख्यक सूत्र हेम व्याकरण में क्रमशः २।२।२३, २।२। ७ २।२।३९, २।२।४२, २।२।४५, २।२।४६, २।२।४९ २।२।२७ २।२ ६८, २।२।९८, २।३।२ ६, २।२।१ ८ २।२।११ , २।२।६ २।२।५९ २।२।७३, २।२।११३ और २।२।९१ संख्यक सूत्रों के रूप में ग्रहण किये गये हैं।

शाकटायन में समास प्रकरण आरम्भ करते ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया है। पश्चात् कुछ तद्धित प्रत्यय आ गये हैं जिनका संयोग प्रायः बहुव्रीहि समास में होता है। जैसे नञ् दुस् सु इनसे पर प्रजा शब्दान्त बहुव्रीहि से अस् प्रत्यय नञ् दुस् तथा अल्प शब्द से परे मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से अस् प्रत्यय, जाति शब्दान्त बहुव्रीहि से ड प्रत्यय, एवं धर्म शब्दान्त बहुव्रीहि से अन् प्रत्यय होता है। इसके बाद बहुव्रीहि समास में में पुंवद्भाव, ह्रस्व आदि अनुशासनों का नियमन है। सुगन्धि पूतिगन्धि सुर भिगन्धि, दुर्गन्धि, पद्मगन्धि आदि सामासिक प्रयोगों के साधुत्व के लिए इत्

प्रत्यय का विधान किया गया है। हेम ने भी समास प्रकरण के आरम्भ में अपनी उत्थानिका इसी प्रकार आरम्भ की है। पर शाकटायन व्याकरण में बहुव्रीहि समास का अनुशासन समाप्त होने के बाद ही अव्ययीभाव प्रकरण आरम्भ होता है तथा युद्धवाच्य में ग्रहण और प्रहरण अर्थ में केशाकेशि और दण्डादण्डि को अव्ययीभाव समास माना है, अतः शाकटायन के मतानुसार अव्ययीभाव समास के तीन भेद हैं। अन्य पदार्थ प्रधान, पूर्व पदार्थ प्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अतः 'केशाश्च केशाश्च परस्परस्य ग्रहणं यस्मिन् युद्धे' जैसे विग्रह वाक्य वाले प्रयोगों में अन्य पदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास होता है। हेम व्याकरण में बहुव्रीहि का प्रकरण बीच में रुक गया है और अव्ययीभाव का आरम्भ हो गया है। हेम ने समास प्रकरण के आरम्भ में गति संज्ञा विधायक सूत्रों का सकलन किया है और गतिसंज्ञकों में होने वाले तत्पुरुष समास का विधान आरम्भ करने के पहिले ही पीठिका सूत्रों का समाहार कर दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हैम व्याकरण का समास प्रकरण शाकटायन की अपेक्षा विस्तृत और पूर्ण है। यद्यपि इस प्रकरण में भी हेम ने अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग किया है तो भी शाकटायन के कई सूत्र हैम व्याकरण के इस प्रकरण में विद्यमान हैं।

शाकटायन व्याकरण में समास के पश्चात् तद्धित प्रकरण आरम्भ होता है। इस प्रकरण का पहला सूत्र है "प्राग्जिताद्वा" २।४।४ हैम में यह सूत्र प्राग् जितादण् ६।१।११ में आया है। हेम ने शाकटायन की अपेक्षा अधिक अनुक्रम तद्धित प्रकरण में लिया है। यों तो हैम व्याकरण की शैली शाकटायन से भिन्न है। शाकटायन में जहाँ 'फञ' प्रत्यय करण कारक का अनुबन्ध कर फ के स्थान पर आयन आदेश किया है वहाँ हेम ने आयन प्रत्यय का ही अनुशासन किया है। इसी प्रकार शाकटायन के फञ्, इञ, क, ख, घ, ण्य, ढञ् और छण प्रत्ययों के स्थान पर हैम व्याकरण में क्रमशः एयण, एरण, ईय, ईन, इय, इकण्, अकम् और एयकम प्रत्यय होते हैं। हेम ने प्रक्रिया लाघव के लिए इन, इन्, आदि प्रत्ययों के स्थान पर पुनः आदेश न कर सीधे ही प्रत्ययों की व्यवस्था कर दी है। इस प्रकरण में शाकटायन की अपेक्षा हेम ने डायट टयनाण्, पाकट कामिन आदि अनेक नवीन प्रत्ययों का अनुशासन किया है।

शाकटायन का तिङन्त प्रकरण 'क्रियार्थो धातुः' से आरम्भ होता है तथा इसी धातु संज्ञक सूत्र को अधिकार सूत्र कहा गया है। हैम व्याकरण में भी इसी सूत्र को अधिकार सूत्र के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। जहाँ शाकटायन में पाणिनि की प्रकार प्रक्रिया के अनुसार क्रिया रूपों का तद्गुण दिखलाया गया है,

यहाँ हेम में क्रियाकलापों को ग्रहण कर धातुरूपों की प्रक्रिया लिखी गयी है। अतः इसी की दृष्टि से दोनों व्याकरणों में मौलिक अन्तर है। शाकटायन की अपेक्षा हैम व्याकरण में अधिक धातुओं का भी प्रयोग हुआ है।

कृदन्त प्रकरण में हेम पर शाकटायन का प्रभाव लक्षित होता है किन्तु यह सत्य है कि अपनी अद्भुत प्रतिभा के कारण हेम ने इस प्रकरण में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए ध्यण प्रत्यय के प्रकरण को लिया जा सकता है। शाकटायन में ४।३।१९, ४।३।५१ ४।१।१७९ सूत्रों द्वारा ध्यण् प्रत्यय का अनुशासन किया गया है। हेम ने सामान्यतः ध्यण् प्रत्यय के लिये ऋवर्णव्यञ्जनान्ताद् ध्यण् ५।१।१७ सूत्र का ग्रथन किया है। पश्चात् विशेष धातुओं से इस प्रत्यय का नियमन किया है। अनन्तर आसाव्यम्, याप्यम्, वाप्यम्, राप्यम्, अपत्राप्यम्, वेप्यम्, वाम्यम् प्रभृति कृदन्त प्रयोगों का साधुत्व आसुयुवपिरपिलपित्रपिडिपिदभिचम्यानमः" ५।१।२ द्वारा किया गया है। शाकटायन में उक्त प्रयोगों सम्बन्धी अनुशासन का अभाव है। हेम ने संचाय्या कुण्डपाय्या, प्रणाय्य, धाय्या, मानम्, सन्नाय्य इति निकाय्यो निवासः इत्यादि ध्यणन्त प्रयोगों का निपातन माना है। शाकटायन में इनका जिक्र भी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि हेम का कृदन्त प्रकरण शाकटायन की अपेक्षा विशिष्ट है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हेम ने अपने शब्दानुशासन में जैनेन्द्र और शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनेन्द्र की महावृत्ति और शाकटायन की अमोघवृत्ति तथा लघुवृत्ति से भी हेम ने अनेक सिद्धान्त लिए हैं। सूत्रों की वृत्ति में भी हेम ने उक्त वृत्तियों से पर्याप्त सहायता ली है। इतना होने पर भी हेम की मौलिकता क्षुण्ण नहीं होती है, क्योंकि हेम ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा द्वारा उक्त व्याकरणों से कतिपय सूत्र और सिद्धान्तों को ग्रहण कर भी उन्हें पचाकर अपने रूप में उपस्थित किया है। सूत्रों में यत्किञ्चित् परिवर्तन से ही इन्होंने विलक्षण चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

हेम का प्रभाव उत्तरकालीन जैन वैयाकरणों पर पर्याप्त पड़ा है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो इस व्याकरण के पठन पाठन की परम्परा भी रही है। अतः इस पर अनेक टीका टिप्पण लिखे गये हैं। विवरण निम्नप्रकार है।—

नाम	कर्ता	समय
लघुन्यास	हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र गणी	
लघुन्यास	धर्मघोष	
न्यासोद्धार	कनकप्रभ	
हैम लघुवृत्ति	काकल कायस्थ	हेमचन्द्र के समकालीन
ढ		

हैमलघुवृत्ति ढुंढिका	सौभाग्य सागर	१५११
हैम ढुंढिका वृत्ति	उदय सौभाग्य	
हैम लघुवृत्ति ढुंढिका	मुनिशेखर	
हैम अवचूरि	धनचन्द्र	
प्राकृतदीपिका	द्वितीय हरिभद्र	
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि	
हैम चतुर्थपाद वृत्ति	उदय सौभाग्य	१५ १
हैम व्याकरण-दीपिका	जिन सागर	
हैम व्याकरण अवचूरि	रत्नशेखर	
हैम दुर्गपदप्रबोध	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ	१६६१
हैम कारक समुच्चय	श्रीप्रभ सूरि	१२८
हैम वृत्ति		,,

हैम व्याकरण से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ

नाम	कर्त्ता	संवत्
लिंगानुशासन वृत्ति	क्षमानन्द	
धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रम)	पुण्यसुन्दर	
क्रियारत्नसमुच्चय	गुणरत्न	१४६६
हैम विभ्रम सूत्र	गुणचन्द्र	
हैम विभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ	
हैम लघुन्यास प्रशस्ति अवचूरि	उदयचन्द्र	
न्यायमंजूषा	हेमहंस	१५१५
न्याय मंजूषा न्यास		,,
स्यादि शब्द समुच्चय	अमरचन्द्र	

हैम व्याकरण के ऊपर लिखे गये अन्य व्याकरण

नाम	कर्त्ता	संवत्
हैम कौमुदी (चन्द्रप्रभा)	मेघविजय	१७५८
हैम प्रक्रिया	महेन्द्रसुत वीरसी	
हैम लघु प्रक्रिया	विनय विजय	

इस प्रकार हैम व्याकरण के आधार पर अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं। आज भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कई आचार्य हैम के आधार पर व्याकरण ग्रन्थ लिख रहे हैं। अभी हाल में हमने आचार्य तुलसी गणी के संघ में 'भिक्षु व्याकरण' देखा था जिसका प्रणयन हेम के आधार पर किया गया है। कालूकौमुदी नामक व्याकरण भी हैम व्याकरण के ढंग का ही है।

सप्तम अध्याय

हैमप्राकृत शब्दानुशासन : एक अध्ययन

अष्टम अध्याय : प्रथमपाद

प्रथमपाद का पहला सूत्र 'अथ प्राकृतम्' ८।१।१ है' इस सूत्र में अथ शब्द को अनन्तर और अधिकारार्थवाची माना गया है। संस्कृत शब्दानुशासन के अनन्तर प्राकृत शब्दानुशासन का अधिकार आरम्भ होता है। महाराष्ट्री प्राकृत भाषा की प्रकृति संस्कृत को स्वीकार किया है तथा "प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्" द्वारा यह व्यक्त किया है कि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है, तदपेक्षया से विकार रूप में निष्पन्न प्राकृत है।

प्राकृत भाषा का बोध करानेवाला 'प्राकृत' शब्द प्रकृति से बना है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव भी है, अतः जो भाषा स्वाभाविक है, वह प्राकृत शब्द द्वारा व्यवहृत की जाती है अर्थात् मनुष्य को जन्म से मिली हुई बोलचाल की स्वाभाविक भाषा प्राकृत भाषा कही जाती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने उपर्युक्त सूत्र में प्राकृत शब्द के मूल प्रकृति' शब्द का अर्थ संस्कृत किया है और बताया है कि संस्कृत—प्रकृति से आये हुए का नाम प्राकृत है। इस उल्लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्राकृत भाषा का उत्पत्ति-कारण संस्कृत भाषा है किन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि प्राकृत भाषा सीखने के लिए संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारणभेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य-वैषम्य है, उसको दिखाना अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा का सीखना का यत्न करना है। इसी आशय से हेमचन्द्र ने संस्कृत को प्राकृत की योनि कहा है। वस्तुतः प्राकृत और संस्कृत भाषा के बीच में किसी प्रकार का कार्य-कारण या जन्य-जनक भाव है ही नहीं; किन्तु जैन आचार्य भी एक ही भाषा के शब्दों में भिन्न भिन्न उच्चारण होते हैं—यथा एक ग्रामीण व्यक्ति जिस भाषा का प्रयोग करता है, उसी भाषा का प्रयोग सुसंस्कृत नागरिक भी करता है, पर दोनों के उच्चारण में अन्तर रहता है, इस अल्पतर अन्तर के कारण उन दोनों को भिन्न-भिन्न भाषा बोलनेवाला नहीं कहा जा सकता; इसी तरह समाज में प्राकृत लोग—जन साधारण प्राकृत का व्यवहार करते हैं और नागरिक लोग संस्कृत का; किन्तु इतने मात्र से दोनों प्रकार के व्यक्तियों की भाषाएँ भिन्न भिन्न नहीं कही जा सकती।

यह सत्य है कि स्वाभाविक उच्चारण के अनन्तर ही संस्कृत उच्चारण उत्पन्न होता है, जैसे आरम्भ में गाँव ही गाँव थे पश्चात् कुछ गाँवों ने सुसंस्कृत होकर नगर का रूप धारण किया। यही बात भाषाओं के साथ भी लागू होती है। अतः आरम्भ में कोई एक ऐसी भाषा रही होगी जिसके ऊपर व्याकरण का अनुशासन नहीं था और जो स्वाभाविक रूप में बोली जाती थी। कालान्तर में वही संस्कारापन्न होकर संस्कृत कहलाने लगी होगी जैसा कि इसके नाम से प्रकट है। इतिहास और भाषा-विज्ञान दोनों ही इस बात के साक्षी हैं कि किसी भी साहित्यिक भाषा का विकास जन-भाषा से ही होता है; पर जब यह भाषा लिखी जाने लगती है और इसमें साहित्य-रचना होने लगती है तो यह धीरे-धीरे स्थिर हो जाती है और परिमार्जित रूप प्राप्त करने के कारण संस्कृत कही जाने लगती है। भारत की भाषा और बोलियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आधुनिक हिन्दी संस्कृत है तो भोजपुरी, मैथिली और मगही प्राकृत। अतः हेमचन्द्र का संस्कृत को योनि कहने का तात्पर्य यही है कि शब्दानुशासन से पूर्णतया अनुशासित संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत का सीखना। हेम व्याकरण के सात अध्याय संस्कृत भाषा का अनुशासन करते हैं, अतः इन्होंने इस अनुशासित संस्कृत भाषा के माध्यम से ही प्राकृत भाषा को सीखने का क्रम रखा और संस्कृत को प्रकृति कहा।

प्राकृत का शब्द-भाण्डार तीन प्रकार के शब्दों से युक्त है—(१) तत्सम (२) तद्भव और देश्य। तत्सम वे संस्कृत शब्द हैं, जिनकी ध्वनियों में नियमित रूप से कुछ भी परिवर्तन नहीं होता; जैसे नीर, दाह, भूमि, माया, धीर, पंक, कण्ठ, हस, हास, तीर, तिमिर, कम, कवि, दावानल, सरार, कुम्भ, [illegible], देवी, तीर, परिहार, वारण, हर एवं मन्दिर आदि।

जो शब्द संस्कृत के वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार अथवा वर्णपरिवर्तन के द्वारा उत्पन्न हुए हैं वे तद्भव कहलाते हैं जैसे—अग्र=अग्ग, दष्ट=दट्ठ, ईर्ष्या=ईसा, उद्गम=उग्गम, कृष्ण=कसण, खर्जूर=खज्जूर, पक्ष=पक्ख, धर्म=धम्म, चक्र=चक्क, क्षोभ=छोह, पक्ष्म=पम्ह, ध्यान=झाण, नाथ=णाह, विदग्ध=विअड्ढ, वाणिज्य=वाणिज्ज, पश्चात्=पच्छा, स्पर्श=फंस, भार्या=भारिआ, मेघ=मेह, शेष=सेस, वेश=वेस, वचन=वयण, शिथिल=सिढिल आदि। प्राकृत में तद्भव शब्दों की संख्या अत्यधिक है। इस भाषा का व्याकरण प्रायः उक्त प्रकार के शब्दों का ही नियमन करता है।

जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति प्रत्यय का विभाग नहीं हो सकता है और जिन शब्दों का अर्थ मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित है, ऐसे शब्दों को देश्य या देशी कहते हैं। हेमचन्द्र ने इन शब्दों को अव्युत्पन्न कोटि में रखा है,

जैसे अगय (दैत्य) आकासिय (पर्याप्त), इराव (हस्ती), ईस (कीलक), उअम (उत्थान), एमणिम (धनाढ्य), कंदोट्ट (कुमुद), गयणाउम (निरुक्त), झाम (ध्यामा), किञ्जु (समूह), भुग्ग (शूकर), मड्डा (बलात्कार) एवं रत्ति (आज्ञा) आदि।

हेम ने उपर्युक्त सूत्र में दो ही प्रकार के शब्द बतलाये हैं—तत्सम और देश्य। यहाँ तत्सम से हेम का अभिप्राय है, संस्कृत के समान उच्चरित होने वाली शब्दावली। अतः इन्होंने तद्भव की गणना भी तत्सम में ही कर ली है। तत्सम शब्दों के सिद्ध और साध्यमान भेदों से हेम का तात्पर्य पूर्वोक्त तत्सम और तद्भव से है। इन्होंने विशुद्ध तत्सम शब्दों की गणना सिद्ध शब्दों में और तद्भव शब्दों की गणना साध्यमान शब्दों में की है। उक्त प्रकार के तत्सम शब्दों को ही हेम ने अनुशासनीय माना है। देश्य शब्द अनुशासन के बहिर्भूत हैं। यों तो आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में देशी धातुओं का संस्कृत धातुओं के स्थान में आदेश स्वीकार किया है तथा उन्होंने बताया है "एते चान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति।" अर्थात् जिन्हें अन्य वैयाकरणों ने देशी कहा है, उन्हें हेम ने धात्वादेश द्वारा सिद्ध किया है। अतएव हम इतना ही कह सकते हैं कि इस प्रथम सूत्र में हेम ने अनुशासित होने वाले शब्द प्रकारों का स्पष्ट रूप से निर्देश कर दिया है।

'अथ प्राकृतम्' सूत्र की वृत्ति में प्राकृत वर्णमाला का स्वरूप भी निर्धारित किया गया है यथा—"ऋ-ॠ-लृ-ॡ-ऐ-औ-ङ-ञ-श-ष-विसर्जनीय-प्लुत-वर्जो वर्णसमाम्नायो लोकाद् अवगन्तव्यः। ङञौ स्ववर्ग्यसंयुक्तौ भवत एव। ऐदौतौ च केषाञ्चित्"। अर्थात् ऋ ॠ लृ ॡ ऐ औ ङ ञ श ष विसर्ग और प्लुत को छोड़ अवशेष वर्ण प्राकृत वर्णमाला में होते हैं। किसी-किसी के मत में ऐ और औ का प्रयोग भी वर्णमाला में माना गया है। अतएव हेम के उक्त सूत्रानुसार प्राकृत वर्णमाला का स्वरूप निम्न प्रकार माना जायगा।

स्वर—
अ इ उ (ह्रस्व)
आ ई ऊ ए ओ (दीर्घ)

व्यंजन—
क ख ग घ ङ (कवर्ग)
च छ ज झ (चवर्ग)
ट ठ ड ढ ण (टवर्ग)

त थ द ध न (तवर्ग)
प फ ब भ म (पवर्ग)
य र ल व (अन्तःस्थ)
स ह (ऊष्माक्षर) तथा अनुस्वार।

द्वितीय सूत्र द्वारा हेम ने प्राकृत के समस्त अनुशासनों को वैकल्पिक स्वीकार किया है। इस पद का तृतीय सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसमें आर्ष प्राकृत की अनुशासन-विधियों के वैकल्पिक होने का कथन किया गया है। तात्पर्य यह है कि हेम ने प्राकृत और आर्षप्राकृत ये दो भेद प्राकृत के किये हैं। जो प्राकृत अधिक प्राचीन है उसे आर्ष कहा गया है, और इसकी उत्पत्ति के लिए समस्त व्याकरण में आर्षम् ८।१।१ का अधिकार बताया है। स्थान-स्थान पर उसके उदाहरण भी जैन आगमों से दिये गये हैं।

चतुर्थ सूत्र समास में स्वरों का परस्पर में वैकल्पिक रूप से दीर्घ और ह्रस्व होने का विधान करता है। संस्कृत का ह्रस्व स्वर प्राकृत में दीर्घ और संस्कृत का दीर्घ स्वर प्राकृत में ह्रस्व हो जाता है; जैसे अन्तर्वेदि का ह्रस्व इकार प्राकृत शब्द अन्तावेई में दीर्घ ईकार के रूप में हो गया है। कहीं यह नियम भी नहीं लगता है; जैसे जुवइ-अणो। कहीं उक्त विधि विकल्प से होती है—जैसे वारिमति = वारी-मई, वारिमई; पतिगृहं = पईहर, पइ-हरं आदि।

'पदयोः सन्धिर्वा' ८।१।५ से ८।१।१ सूत्र तक सन्धि-नियमों का विश्लेषण किया गया है। सन्धि दो पदों में विकल्प से होती है; जैसे—वास + इसी = वासेसी, विसम + आयवो = विसमायवो, दहि + ईसरो = दहीसरो आदि। इवर्ण और उवर्ण के परे असवर्ण स्वर रहने पर सन्धि का निषेध किया गया है, जैसे पंकामि अवयवए। एकार और ओकार के परे स्वर रहने पर भी सन्धि नहीं होती है जैसे अहो अच्छरियं। उद्वृत्त और विकन्त से परे स्वर रहने पर भी सन्धि का निषेध किया गया है जैसे निसाअरो रयणी अरो एवं होइ इह आदि। प्राकृत में व्यञ्जन सन्धि और विसर्ग सन्धि का अभाव है, अतः हेम ने उक्त दोनों सन्धियों का अनुशासन नहीं किया है। हेम का स्वर-सन्धि का प्रकरण वररुचि के प्राकृतप्रकाश की अपेक्षा विस्तृत है।

'अन्त्यव्यञ्जनस्य' ८।१।११ सूत्र से ८।१।२४ सूत्र तक शब्दों के अन्त्य व्यञ्जनसम्बन्धी विकारों का नियमन किया गया है। इस विधान में शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन का लोप, श्रद् और उद् के अन्त्य व्यंजन का लोपाभाव, निर और दुर् के अन्त्यव्यञ्जन का वैकल्पिक लोप, निर अन्तर् और दुर के अन्त्यव्यंजन का स्वर के परे रहने पर लोपाभाव, विद्युत् शब्द को छोड़ स्त्रीलिंग में वर्तमान

शेष शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन का लोप, स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान अन्त्य व्यञ्जन रेफ को रा–आदेश, क्षुध् शब्द के अन्त्य व्यञ्जन को ह, शरदादि शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन को अत्; दिक् और प्रावृष् शब्दों के अन्त्य व्यञ्जन को स, आयुस् और अप्सरस् शब्दके अन्त्य व्यञ्जन को वैकल्पिक स, ककुभ् शब्द के अन्त्य व्यञ्जन को ह, अन्तिम मकार को अनुस्वार एवं अन्त्य मकार को वैकल्पिक अनुस्वार होता है।

ङ–ञ–ण–नो व्यञ्जने ८।१।२५ सूत्र से ८।१।३० तक के सूत्रों में अनुस्वारसम्बन्धी आदेशों की विवेचना की गयी है। व्यञ्जन के परे रहने से ङ ञ ण न के स्थान पर अनुस्वार होता है जैसे पङ्क्तिः=पंती पराङ्मुखः=परंमुहो उत्कण्ठा=उक्कंठा, सन्ध्या=संझा आदि।

वक्रादि गण में प्रथमादि स्वरों के अन्त में आगम रूप अनुस्वार होता है। संस्कृत शब्दानुशासन में इस वक्रादि गण को आकृतिगण कहा गया है जैसे—वंक, तंस अंसु, मंसू, पुंछ गुंछ आदि। क्त्वा और स्यादि के स्थान पर जो णम् आदि आदेश होते हैं उनके अन्त में अनुस्वार होता है; जैसे—काऊण काऊणं वच्छेण, वच्छेणं। विंशति आदि शब्दों के अनुस्वार का लुक होता है जैसे वीसा तीसा आदि। मांसादि शब्दों के अनुस्वार का विकल्प से लोप होता है; जैसे मासं मंसं मासलं मंसलं आदि। अनुस्वार का वर्गादि वर्णों के परे रहने पर सवर्ण्य विशेष के कारण उसी वर्ग का अन्तिम वर्ण भी हो जाता है; जैसे—पङ्को पंको आदि।

प्रावृट्-शरत्तरणयः पुंसि। ८।१।३१ ८।१।३५ सूत्र तक शब्दों की लिङ्ग सम्बन्धी व्यवस्था का वर्णन है। प्रावृट् शरत और तरणि शब्दों का पुंल्लिङ्ग में व्यवहार करने का विधान है, जैसे पाउसो सरओ एस तरणि आदि। यों तो साधारणतया संस्कृत शब्दों का लिङ्ग ही प्राकृत में प्राय रह जाता है।

दामन्, शिरस् और नभस् शब्दों को छोड़ शेष सकारान्त और नकारान्त शब्दों को पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होने का अनुशासन किया है, जैसे जसो पओ तमो तेओ जम्मो नम्मो एवं मम्मो आदि। अक्षि के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग पुंल्लिङ्ग में होता है; किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि अक्षि शब्द का अञ्जल्यादि गण में पाठ होने से स्त्रीलिङ्ग में भी व्यवहार होता है; जैसे एसा अच्छी चक्खू, चक्खूइं, नयणा, नयणाइं लोअणा लोअणाइं आदि। गुणादि शब्दों की गणना नपुंसक लिङ्ग में और अञ्जल्यादिगणपठित इमान्त शब्दों की वैकल्पिकरूप से स्त्रीलिङ्ग में की गयी है। बाहोरात् ८।१।३६ सूत्र स्त्रीलिङ्ग में बाहु शब्द से आकार का अन्तादेश करता है।

अतो डो विसर्गस्य ८।१।३७ सूत्र द्वारा संस्कृत लक्षणोत्पन्न अत के परे विसर्ग के स्थान पर ओ आदेश किया गया है, जैसे—सर्वतः=सव्वओ पुरतः=

पुरओ, आगत = आगओ, मार्गित = मग्गिओ आदि। ३८ वें सूत्र में बताया गया है कि माल्य शब्द के पूर्व निर् उपसर्ग आये तो उसके स्थान पर ओ होता है तथा स्था धातु के पूर्व प्रति उपसर्ग आवे तो उसके स्थान पर परि आदेश होता है; जैसे ओमल्लं निम्मल्लं (निर्माल्यं); परिट्ठा, पइट्ठा (प्रतिष्ठा) परिट्ठिअं पइट्ठिअं (प्रतिष्ठितम्)। आगे के दोनों सूत्रों में भी अव्यय सम्बन्धी विशेष विकार का निर्देश किया गया है।

लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः ८।१।४३ सूत्र द्वारा प्राकृत लक्षण वश लुप्त हुए य र व श ष स की उपधा का दीर्घ होने का नियमन किया है; जैसे पासइ (पश्यति), कासवो (कश्यपः), वीसमइ (विश्राम्यति), वीसामो (विश्रामः), संफासो (संस्पर्शः) आसो (अश्वः), वीससइ (विश्वसिति) वीसासो (विश्वासः), दूसासणो (दुश्शासनः), पूसो (पुष्यः), मणूसो (मनुष्यः) आदि।

अतः समृद्ध्यादौ वा ८।१।४४ सूत्र समृद्धि आदि शब्दों के अकार को विकल्प से दीर्घ होने का विधान करता है जैसे—सामिद्धी, समिद्धी (समृद्धिः), पायडं, पयडं (प्रकटं), पासिद्धी पसिद्धी (प्रसिद्धिः) पाडिवआ पडिवआ (प्रतिपत्) पासुत्तं पसुत्तं (प्रसुप्तं) आहिआई अहिआई (अभिजाति), आदि। ४५ वें सूत्र में दक्षिण शब्द के आदि अकार को हकार के परे रहने पर दीर्घ होने का विधान किया है जैसे दाहिणो।

इः स्वप्नादौ ८।१।४६ सूत्र से लेकर ८।१।५५ सूत्र तक स्वर विकार का नियमन किया है। स्वप्न आदि शब्दों के आदि अकार को इत्व और पक्वाङ्गार एवं ललाट शब्द के आदि अकार को विकल्प से इत्व होता है; जैसे सिविणो सिमिणो तथा पिक्कं, पक्कं इङ्गालो अँगारो णिडालं, णडालं आदि। मध्यम और कतम शब्द के द्वितीय अकार का इत्व तथा सप्तपर्ण शब्द में द्वितीय अकार का इत्व विकल्प से होता है। मयट् प्रत्ययान्त शब्दों में आदि अकार के स्थान पर अइ आदेश होता है जैसे विसमइओ विसमओ हर शब्द के आदि अकार को ईकार होने का विधान है तथा ध्वनि और विष्वक् शब्द के आदि अकार को उत्व होता है।

वन्द्र और खण्डित शब्दों में आदि अकार को णकार सहित विकल्प से उत्व होता है, जैसे वुन्द्रं वन्द्रं खुण्डिओ खण्डिओ गवय शब्द के वकार को उत्व प्रथम शब्द के पकार थकार और रकार को युगपत् तथा क्रम से उत्व एवं ज्ञ और अभिज्ञ आदि शब्दों के ज्ञ के स्थान पर ण तथा ज के अकार के स्थान पर उत्व होता है, जैसे गउओ गउआ पुढुमं, पुढमं पढुमं पढमं; अहिण्णू सव्वण्णू, कयण्णू आगमण्णू आदि।

शय्यादि शब्दों में आदि अकार के स्थान पर एकार, पद्म शब्द के आदि अकार के स्थान पर ओकार, अर्प धातु के अकार के स्थान पर ओकार एवं स्वप धातु में आदि अकार के स्थान पर ओकार आदेश होने का नियमन किया गया है।

नञ् परे पुनः शब्द के आदि अकार के स्थान पर आ और आइ आदेश होते हैं जैसे न उणा, न उणाइ। अव्यय तथा उत्खातादि शब्दों में आदिम आकार को विकल्प से अकार आदेश होता है, जैसे जह, जहा (यथा); तह तहा (तथा), अहव, अहवा (अथवा), उक्खय उक्खाय (उत्खात), चमर, चामरं (चामर), कलओ कालओ (कालक), ठविअं, ठाविअं (स्थापित), पययं पाययं (प्राकृत) आदि।

जिन संस्कृत शब्दों में घञ् प्रत्यय के कारण वृद्धि होती है, उनके आदि आकार के स्थान पर वैकल्पिक रूप से अकार आदेश होता है, जैसे पवहो, पवाहो, पहरो पहारो पयरो पयारो आदि। महाराष्ट्र शब्द के आदि आकार के स्थान पर अकार होता है, जैसे मरहट्ठ, मरहट्ठो। मांस आदि शब्दों में अनुस्वार के स्थान पर अत् आदेश होता है, जैसे मंसं पंसणो, कंस कंसिओ आदि। श्यामाक शब्द में मकारोत्तरवर्ती आकार के स्थान पर अत् आदेश होता है, जैसे सामओ। सदादि शब्दों में आकार के स्थान पर विकल्प से इकार आदेश होता है जैसे सइ, सया, निसि-अरो निसा-अरो, कुप्पिसो, कुप्पासो।

आचार्ये चोच्च ८।१।७३ सूत्र द्वारा आचार्य शब्द के आकार को इकार और अकार आदेश होने का विधान किया है, जैसे आइरिओ, आयरिओ। स्त्यान और खल्वाट शब्दों में आदि आकार के स्थान पर ईकार आदेश होता है, जैसे ठीणं थीणं थिण्णं खल्लीडो आदि।

सास्ना स्तावक और आसार शब्दों में आदि आकार के स्थान पर उकार ऊकार आदेश होता है, जैसे सुण्हा थुवओ ऊसारो आदि। आर्या शब्द के श्वश्रू वाची होने पर र्यकार के आकार का ऊकार आदेश होता है, जैसे अज्जू तथा श्वश्रू भिन्न अर्थ में अज्जा रूप बनता है।

हेम ने मात्र शब्द में आकार को एत्व, द्वार शब्द में आकार को वैकल्पिक एत्व, पारापत शब्द में रेफोत्तरवर्ती आकार को एत्व एवं आर्द्र शब्द के आकार को विकल्प से उत् और आत् का विधान किया है; जैसे मेत्तं, देरं पारेवओ पारावओ आदि।

मात्रटि वा ८।१।८१ सूत्र में मात्रट् प्रत्यय के आकार को विकल्प से एकार आदेश करने का नियमन किया गया है, जैसे एत्तिअमेत्तं एत्तिअमत्तं बहुलाधिकार

होने से क्वचित् मात्र शब्द में भी यह अनुशासन लागू होता है, जैसे मोअम्मेत्त। आर्द्र शब्द में आदि के आकार का विकल्प से उत् और ओत होता है, जैसे उल्लं ओल्लं आदि। पंक्तिवाची आवली शब्द में आकार के स्थान पर ओकार आदेश होता है—जैसे ओली।

हेम का ह्रस्वः संयोगे ८।१।८४ सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह संयुक्त वर्णों से पूर्ववर्ति दीर्घ स्वरों को ह्रस्व होने का अनुशासन करता है, जैसे अम्ब (आम्रम्), तम्ब (ताम्रम्), विरहग्गी (विरहाग्निः) अस्सं (आस्यम्), मुणिंदो (मुनीन्द्रः) तित्थं (तीर्थम्) गुरुल्लावा (गुरूल्लापाः), चुण्ण (चूर्ण) नरिंदो (नरेन्द्रः), मिलिच्छो (म्लेच्छः), अहरुट्ठ (अधरोष्ठ), नीलुप्पल (नीलोत्पल) आदि।

इत एद्वा ८।१।८५ सूत्र संयोग में आदि इकार के स्थान पर विकल्प से एकार आदेश करने का नियमन करता है, जैसे पेण्डं पिण्डं धम्मेल्ल, धम्मिल्लं सिन्दूर सेन्दुर; वेण्हु, विण्हु, पेट्ठ पिट्ठ; बेल्ल, बिल्लं आदि। किंशुक शब्द में आदि इकार के स्थान पर एकार तथा मिरा शब्द में इकार के स्थान पर एकार आदेश होता है जैसे केसुअं किंसुअं मेरा आदि। पथि पृथिवी प्रतिश्रुत्, मूषिक, हरिद्रा और बिभीतक शब्दों में इकार के स्थान पर ओकार आदेश होता है, जैसे पहो पुहई पुढवी पडंसुआ मूसओ हलद्दी, बहेडओ आदि। शिथिल और इङ्गुदी शब्दों में आदि इकार के स्थान पर विकल्प से अकार आदेश होता है, जैसे सिढिलं पसढिलं अङ्गुअं इङ्गुअं। तित्तिरि शब्द में रकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर अकार होता है; जैसे तित्तिरो।

इतौ तो वाक्यादौ ८।१।९१ सूत्र द्वारा वाक्य के आदि में आने वाले इति शब्द के तकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर अकारादेश किया है, जैसे इअ जंपिअवसाणे (इति यत प्रियावसाने)। यहाँ यह विशेषता है कि यह नियम वाक्य के आदि में इति के आने पर ही लागू होता है, मध्य या अन्त में इति के आने पर नहीं लगता है; जैसे पिओत्ति (प्रिय इति), पुरिसोत्ति (पुरुष इति) आदि।

जिह्वा सिंह, त्रिंशत् और विंशति आदि शब्दों में लि शब्द के साथ इकार के स्थान पर ईकारादेश होता है जैसे जीहा सीहो तीसा वीसा आदि। बहुलाधिकार होने से क्वचित् स्थल पर यह नियम लागू भी नहीं होता जैसे सिंहदत्तो सिंहराओ आदि। निर् उपसर्ग के रेफ का लोप होने पर इकार के स्थान पर ईकारादेश होता है नीसरइ नीसासो आदि।

द्वि शब्द और नि उपसर्ग के इकार के स्थान पर उकार होता है जैसे दुमत्तो दु आई दुविहो दुरेहो आदि। प्रवासी और इक्षु शब्द में इकार के स्थान पर

उत्व आदेश होता है जैसे पावासुओ (प्रावासिकः), उच्छू (इक्षु)। युधिष्ठिर शब्द में आदि इकार को उकारादेश होता है जैसे जहुट्ठिलो, जहिट्ठिलो।

द्विधा शब्द के साथ कृग धातु का प्रयोग होने पर इकार के स्थान पर ओत्व तथा ८।१।९७ सूत्र में चकार ग्रहण होने से उत्वादेश भी होता है जैसे दोहा किज्जइ दुहा किज्जइ आदि। निर्झर शब्द में नकार सहित इकार के स्थान पर विकल्प से ओकारादेश होता है जैसे ओज्झरो, निज्झरो। हरीतकी शब्द में आदि ईकार के स्थान पर अकार और कश्मीर शब्द में ईकार के स्थान पर आकार आदेश होता है जैसे हरडई कम्हारा आदि। पानीय आदि शब्दों में ईकार के स्थान पर ८।१।१०१ सूत्र द्वारा हेम ने इकारादेश का विधान किया है; जैसे पाणिअं अलिअं जिअइ जिअउ करिसो सिरिसो दुइअं तइअं आदि।

जीर्ण शब्द में ईकार के स्थान पर उकार; हीन और विहीन शब्दों में ईकार के स्थान पर विकल्प से ऊकार तीर्थ शब्द में ह परे रहने पर ईकार के स्थान पर ऊकार; पीयूष, आपीड बिभीतक, कीदृश और ईदृश शब्दों में ईकार के स्थान पर एकार नीड और पीठ शब्दों में ईकार के स्थान पर एकार नीड और पीठ शब्दों में ईकार के स्थान पर एकार; मुकुलादि शब्दों में आदि उकार का अकार; उपरि शब्द के उकार के स्थान पर अकार स्वार्थिक गुरु के उकार को अकार भ्रुकुटि शब्द में उकार के स्थान पर इकार, पुरुष शब्द में रेफाश्रयवर्ती उकार के स्थान पर इकार क्षुत शब्द में आदि उकार के स्थान पर ईकार सुभग और मुसल शब्द में उकार के स्थान पर ऊकार एवं उत्साह और उत्सन्न शब्दों का छोड़ सयुक्त त्स और च्छ वर्णवाले शब्दों में उकार के स्थान पर ऊकार आदेश होता है।

दुर उपसर्ग के रेफ का लोप होने पर उकार के स्थान पर विकल्प से ऊकारादेश होता है जैसे दूसहो, दुसहो (दुस्सह), दूहवो दुहवो (दुर्भगः)। यहाँ इतनी विशेषता और समझनी चाहिए कि रेफ के लोपाभाव में ऊकार का विधान नहीं होता है; जैसे दुस्सहो विरहो आदि।

ओत्संयोगे ८।१।११६ सूत्र द्वारा हेम ने संयोग परे रहने पर आदि उकार को ओकार का नियमन किया है, जैसे तोण्डं (तुण्ड)- मोण्डं (मुण्ड), पोक्खरं (पुष्कर), कोट्टिमं (कुट्टिमम्)- पोत्थअं (पुस्तक), लोद्धओ (लुब्धकः), मोत्था (मुस्ता), वोक्कन्तं (व्युत्क्रान्त), कोन्तलो (कुन्तल)आदि। कुतूहल शब्द में उकार के स्थान पर विकल्प से अकार तथा तकार को द्वित्व; उद्भूत शब्द में उकार के स्थान पर ईकार हनूमान् कण्डूय और वातूल शब्द में

ऊकार के स्थान पर उकार; मधूक शब्द में विकल्प से ऊकार के स्थान पर उकार; नूपुर शब्द में ऊकार के स्थान पर ओकार एवं स्थूणा और तूण शब्दों में ऊकार के स्थान पर विकल्प से ओकार आदेश होता है।

प्रयोग ८।१।१२६ सूत्र से ८।१।१४४ सूत्रों तक ऋकार के स्थान पर होने वाले स्वरों का निरूपण किया है। हेम ने ८।१।१२६ सूत्र द्वारा ऋकार के स्थान पर अकार आदेश होने का संविधान किया है, जैसे घयं (घृत), तणं (तृणम्), कयं (कृतं), वसहो (वृषभः) मओ (मृग), घट्ठो (घृष्ट) आदि उदाहरणों में संस्कृत ऋ के स्थान पर अकारादेश किया गया है।

आत्कृशा मृदुक-मृदुत्वे वा ८।१।१२७ सूत्र कृशा, मृदुत्व और मृदुक शब्दों में ऋकार के स्थान पर विकल्प से आकार का नियमन करता है, जैसे कासा किसा (कृशा) माउक्कं, मउअं (मृदुकः) माउक्कं, मउत्तणं (मृदुत्वं) आदि।

इत्कृपादौ ८।१।१२८ सूत्र कृपा ऋषि आदि शब्दों में ऋकार के स्थान पर इकार का अनुशासन करता है। प्राकृत प्रकाश में ऋष्यादि गण पठित शब्दों में ऋकार के स्थान पर इकार का आदेश किया है। हेम के कृपादि गण और प्राकृत प्रकाश के ऋष्यादि गण में कतिपय शब्दों की न्यूनाधिकता का ही अन्तर है। हेम ने कृपादि गण में ऋष्यादि गण की अपेक्षा अधिक शब्द पठित किये हैं। उक्त सूत्र के उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

किवा = कृपा दिट्ठं = दृष्टं सिट्ठि = सृष्टि, मिअ = मृग सिंगारो = शृंगार, घुसिणं = घुसृण इड्ढी = ऋद्धि, किसाणु = कृशानु, किवणो = कृपण किई = कृति तिप्पं = तृप्तं किच्चं = कृत्यं दिट्ठी = दृष्टि, गिद्धी = गृद्धि, भिंगो = भृङ्ग आदि।

हेम ने सामासिक और गौण संस्कृत शब्दों में ऋ के स्थान पर उत्वादेश का अनुशासन किया है, जैसे पिउ-हरं = पितृ गृहम्, पिउवई = पितृपतिः, पिउवणं = पितृवनम्, पिउसिआ = पितृष्वसा, माउमण्डलं = मातृमण्डलम्, उऊ = ऋतु, आदि। वृषभ शब्द में व सहित ऋकार के स्थान पर उकारादेश किया है तथा मृषा शब्द में उकार ऊकार और ओकारादेश का नियमन किया है, जैसे मुसा मूसा मोसा मुसावाओ मूसावाओ मोसावाओ (मृषावाद)। वृष्ट, वृष्टि, पृथक्, मृदङ्ग और नप्तृक शब्दों में ऋकार के लिए इकार और उकार का नियमन किया गया है, जैसे विट्ठो वुट्ठो विट्ठी वुट्ठी, पिहं पुहं मिइंगो मुइंगो नत्तिओ नत्तुओ। बृहस्पति और वृन्त शब्द में ऋकार के लिए क्रमशः इकार उकार तथा इकार एकार और ओकार आदेश करने का संविधान किया है।

हेम ने रिः केवलस्य ८।१।१४० सूत्र में व्यञ्जन रहित अकेले ऋकार के स्थान पर रि आदेश किया है जैसे—रिच्छोऽऋक्षः, रिद्धी=ऋद्धि आदि। ऋण, ऋजु, ऋषभ ऋतु ऋषि शब्दों में ऋकार के स्थान पर विकल्प से 'रि' आदेश होता है जैसे—रिण, अण (ऋणम्) रिज्जू, उज्जू (ऋजुः) रिसहो, उसहो (ऋषभः), रिसी, इसी (ऋषि) आदि।

आदृते दिः ८।१।१४३ सूत्र में आदृत शब्द में दकारोत्तरवर्ती ऋकार के स्थान पर दि आदेश किया है जैसे आढिओ। इस शब्द में ऋकार के स्थान पर इद् आदेश होता है; जैसे दरिओ (दृप्तः), दरिअ-सीहेण=दृप्तसिंहेन।

हेम ने लृत इलिः क्लृप्त-क्लृन्ने ८।१।१४५ सूत्र द्वारा लृ के स्थान पर इलि आदेश करने का अनुशासन किया है जैसे किलिन्न-कुसुमोवयारेसु, धाराकिलिन्न-वत्त आदि उदाहरणों में क्लृप्त के स्थान पर किलिन्न आदेश किया गया है।

वेदना चपेटा, देवर और केसर शब्दों में विकल्प से इकार और एकार होते हैं जैसे वेअणा विअणा चविडा चवेडा आदि। स्तेन शब्द में एकार के स्थान पर एकार और ऊकार विकल्प से होते हैं जैसे थूणो, थेणो में स्तेन शब्द के अन्तर्गत एकार को ऊकार और एकार आदेश किये गये हैं।

हेम ने संस्कृत के ऐकार के स्थान पर प्राकृत में एकार होने का विधान ८।१।१४८ सूत्र के द्वारा किया है, जैसे एरावणो (ऐरावणः) केढवो (कैटभः) केलासो (कैलासः) सेला (शैला) तेलुक्क (त्रैलोक्यम्) वेज्जो (वैद्य) वेहव्व आदि शब्दों में ऐकार एकार के रूप में परिवर्तित हो गया है। हेम ने ८।१।१४९ और १५ सूत्र द्वारा सैन्धव शनैश्चर और सैन्य शब्दों में ऐकार के स्थान पर इकार आदेश किया है। १५१ वें सूत्र द्वारा सैन्य और दैत्य इत्यादि शब्दों के ऐकार के स्थान पर अइ आदेश किया है। वैरादि शब्दों में ऐकार के स्थान पर विकल्प से अइ आदेश होता है; जैसे वइर वेर कइलासो कलासो कइरवं केरवं वइसवणो वेसवणो वइसम्पायणो वेसम्पायणो वइआलिओ वेआलिओ; वइसिअं वेसिअं, चइत्तो चेत्तो आदि।

उच्चैः और नीचैः शब्दों में ऐकार के स्थान पर अअ आदेश होता है जैसे उच्चैः के स्थान पर उच्चअं और नीचैः के स्थान पर नीचअं होता है। हेम ने १५५ वें सूत्र द्वारा धैर्य शब्द में ऐकार के स्थान पर ईकार आदेश किया है।

'औत ओत् ८।१।१५९ द्वारा संस्कृत शब्दों के औकार के स्थान पर प्राकृत में ओकार आदेश होता है जैसे कोमुई=कौमुदी कोत्थुहो=कौस्तुभ कोसुंभो=

कौस्तुभः कोसबी = कौशाम्बी, कोंचो = क्रौञ्च कोसिओ = कौशिकः सोरियं = सौमार्य सोहग्गं = सौभाग्य गोअमो = गौतम । सौन्दर्यादि शब्दों में औकार के स्थान पर उद् होता है जैसे सुदेर, सुंदरियं = सौन्दर्यम् मुंजो = मौञ्जः सुद्धोअणी = शौद्धोदनि दुवारिओ = दौवारिकः सुगंधत्तणं = सौगन्ध्य पुलोमी = पौलोमी, सुवण्णिओ = सौवर्णिक ।

कौक्षेयक और पौरादिगण पठित शब्दों में औकार के स्थान पर अउ आदेश होता है जैसे कउच्छेअय = कौक्षेयकः, पउरो = पौरः, कउरवो = कौरवः कउसलम् = कौशलम्, सउरं = सौरम् गउडो = गौड मउली (मौलि), मउणं = मौनं सउरा = सौरा एवं कउला = कौला आदि ।

गौरव शब्द में गकार सहित औकार के स्थान पर आकार और अउरादेश तथा नौ शब्द में औकार के स्थान पर आवादेश होता है । त्रयोदश के समान संख्यावाची शब्दों में आदिस्वर का पर स्वर और व्यञ्जन के साथ एकारादेश होता है । स्थविर, विच किल, अयस्कार कदल और कर्णिका आदि शब्दों में आदि स्वर का पर स्वर और व्यञ्जन के साथ एत् आदेश होता है ।

पूतर बदर नवमालिका, नवफलिका पूगफल, मयूख लवण चतुर्गुण, चतुर्थ चतुर्दश चतुर्वार सुकुमार कुतूहल, उदूखल, उलूखल, मयूर, निषण्ण एवं प्रावरण शब्दों में आदि स्वर का पर स्वर और व्यञ्जन के साथ एत्, ओत्, और उत् आदेश होता है ।

इस प्रकार हेम ने इस पाद में १७४ सूत्रों द्वारा स्वर विकार का विस्तार पूर्वक नियमन किया है । हेम का यह विधान प्राकृत के समस्त वैयाकरणों की अपेक्षा नवीन और विस्तृत है । वररुचि ने स्वर विकार का निरूपण १-४ सूत्रों में ही कर दिया है । त्रिविक्रम ने विस्तार करने की चेष्टा की है, पर हेम की सीमा से बाहर नहीं निकल सके हैं ।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ८।१।१७६ सूत्र से ८।१।२७१ सूत्र तक व्यञ्जन-विकार का विचार किया गया है । स्वरादसंयुक्तस्यानादेः" सूत्र को व्यञ्जन परिवर्तन का अधिकार सूत्र कहा है । ८।१।१७७ सूत्र में बताया गया है कि पद ही शब्द के भीतर रहे हुए असंयुक्त क ग च ज त द प य व और व का लोप होता है और इनके लोप हो जाने के उपरान्त केवल स्वर शेष रह जाता है । हेम ने "अवर्णो यश्रुतिः ८।१।१८० सूत्र द्वारा यह भी बतलाया है कि बचा हुआ स्वर अ और आ से परे हो तो प्रायः उसके स्थान में य का प्रयोग होता है । इस सूत्र द्वारा निम्नलिखित भाषा की प्रवृत्ति 'य श्रुति' कहलाती है। जैसे—
क—तित्थयरो (तीर्थंकरः), लोओ (लोकः), मुउलो (मुकुल) मउलो (मकुल)
ग—नओ (नगः), नयर (नगरम्), मयंको (मृगाङ्कः)

च—कयग्गाहो (कचग्रहः), सूई (सूची)
ज—गओ (गजः), पयावई (प्रजापतिः), रययं (रजतम्)
त—माई (मात्री), मई (मतिः), रसायलं (रसातलम्), राई (रात्रिः)
द—गया (गदा), मयणो (मदनः), नई (नदी), मओ (मदः),
वयणं (वदनं)
प—रिऊ (रिपुः) सुउरिसो (सुपुरुषः)
ब—विउहो (विबुधः)
य—विओओ (वियोगः), नयण (नयनम्), जउणा (यमुना)
व—वडवाणलो (वडवानलः), लायण्णं (लावण्यम्), जीओ (जीवः)

हेम ने १७८ वें सूत्र में यमुना चामुण्डा कामुक और अतिमुक्तक शब्दों के मकार का लोप कहा है तथा लुप्त मकार के स्थान पर अनुनासिक होता है। जैसे जउणा चाँउण्डा, काँउओ अणिउँतयं आदि शब्दों में मकार का लोप हुआ है और लुप्तमकार का अवशिष्ट स्वरों के ऊपर अनुनासिक हो गया है। १७९ वें सूत्र में वकार के लोप का निषेध किया गया है। कुब्ज, कर्पर और कील शब्द के ककार को खकार आदेश होता है। मरकत मदकल और कन्दुक के ककार के स्थान पर गकार; किरात शब्द में ककार के स्थान पर चकार शीकर शब्द में ककार के स्थान पर भकार तथा हकार; चन्द्रिका शब्द में चकार के स्थान पर मकार एवं निकष स्फटिक और चिकुर शब्द में ककार के स्थान पर हकार आदेश होता है।

ख घ थ ध फ भ ये व्यञ्जन अनुक्रम से क्+ह ग्+ह त्+ह, द्+ह प्+ह, ब+ह से बने हुए हैं। प्राकृत में विजातीय संयुक्त व्यञ्जनों का प्रयोग निषिद्ध है अतः शब्द के आदि में नहीं आये हुए और असंयुक्त ऐसे उपर्युक्त सभी अक्षरों के आदि अक्षर का प्राकृत में प्रयोग नहीं होता है। अतएव हेम ने उक्त सभी व्यञ्जनों के स्थान पर हकार आदेश का विधान किया है जैसे महो (मखः), मुहं (मुखं), मेहला (मेखला) लिहइ (लिखति), पमुहेण (प्रमुखेन) सही (सखी) आलिहिया (आलिखिता) मेहो (मेघः) जहणं (जघन), माहो (माघः), लाहवं (लाघवं), नाहो (नाथः), गाहा (गाथा), मिहुण (मिथुन), [illegible] ([illegible]) कहेइ (कथय), वहरिस्स (वधरिष्यामि), साहु (साधु) राहा (राधा), बाहो (बाध) बहिरो (बधिरः) बाहइ (बाधते) इंदहणू (इन्द्रधनु) [illegible] ([illegible]), सहा (सभा) सहावो (स्वभावः), नहं (नभः), थणहरो (स्तनभरः), सोहइ (शोभते), आहरणं (आभरण) दुल्लहो (दुर्लभः) आदि।

हेम ने पृथक् शब्द में थको विकल्प से धकारादेश, शृंखला शब्द में खको ककारादेश, पुन्नाग और भगिनी शब्द में गकार के स्थान पर मकारादेश, छाग शब्द में गकार के स्थान पर लकारादेश, दुर्भग और सुभग शब्द में गकार के स्थान पर वकारादेश, खचित और पिशाच शब्द में च को स और ल्ल आदेश, जटिल शब्द में जकार के स्थान पर विकल्प से झकारादेश, स्वर से परे असंयुक्त टकार के स्थान पर डकारादेश, सटा, शकट और कैटभ शब्दों में टकार के स्थान पर ढकारादेश, स्फटिक शब्द में टकार के स्थान पर लकारादेश एवं चपेटा पाटि शब्द में तथा पटि धातु में टकार के स्थान पर लकारादेश का विधान किया है।

हेम व्याकरण के ठो ढः ८।१।१९९, २०२, २०१, २११, २१६ और २१७ सूत्रों के अनुसार स्वर से परे आये हुए असंयुक्त ठ ड न प फ और ब के स्थान में अनुक्रम से ढ, ड ळ, ण व, भ और व का आदेश होता है, जैसे मठ = मढ, पीठ = पीढ, गुड = गुळ, गमन = गमण, कूप = कूव, रेफ = रेभ, अलाबु = अलावु। हेम ने वेणु शब्द में णकार के स्थान पर विकल्प से लकारादेश, तुच्छ शब्द में तकार के स्थान पर च और छ का आदेश, तगर, त्रसर और तूवर शब्द में तकार के स्थान पर टकारादेश, प्रत्यादि में तकार के स्थान पर डकारादेश, वेतस शब्द में तकार के स्थान पर डकारादेश, गर्भित और अतिमुक्तक शब्दों में तकार के स्थान पर णकारादेश, रुदित शब्द में द्विरुक्त तकार के स्थान पर ण्ण आदेश, सप्तति के तकार के स्थान पर 'रा' आदेश, अतसी और सातवाहन शब्दों में तकार के स्थान पर लकारादेश, पलित के तकार के स्थान पर विकल्प से लकारादेश, पीत शब्द में तकार के स्थान पर लकारादेश; वितस्ति, वसति, भरत, कातर और मातुलिंग शब्दों में तकार के स्थान पर हकारादेश; मेथि, शिथिर, शिथिल और प्रथम शब्दों में थकार के स्थान पर ढकारादेश, निशीथ और पृथिवी शब्दों में थकार के स्थान पर धकारादेश, दशन, दष्ट, दग्ध, दोला, दण्ड, दर, दम्भ, दर्भ, कदन और दोहद शब्दों में दकार के स्थान पर डकारादेश; दंश और दह धातुओं में दकार के स्थान पर डकारादेश, संख्यावाची शब्दों तथा गद्गद शब्द में दकार के स्थान पर रेफादेश, आसन्नवाची कदली शब्द में दकार के स्थान पर रेफादेश एवं प्रदीपि धातु तथा दोहद शब्द में दकार के स्थान पर लादेश का विधान किया है।

कदम्ब शब्द में दकार के स्थान पर विकल्प से लकारादेश, दीपि धातु में दकार के स्थान पर विकल्प से धकारादेश, कदर्थित शब्द में दकार के स्थान पर वकारादेश, ककुद शब्द में दकार के स्थान पर हकारादेश, निषध शब्द में

धकार के स्थान पर ढकारादेश एवं औषध शब्द में धकार के स्थान पर विकल्प से ढकारादेश होता है। हेम ने ८।१।२२८–२२९ में स्वर से पर शब्द के मध्य, अन्त और आदि में आनेवाले नकार के स्थान पर णकारादेश का अनुविधान किया है; जैसे कणयं मयणो, वयणं, नयणं माणं प्रयोगों में मध्यवर्ती और अन्तिम नकार का णकार हुआ है। णरो णई, णेइ आदि में आदि नकार के स्थान पर णकारादेश हुआ है। निम्ब और नापित शब्द में नकार के स्थान पर ल और ण्ह आदेश होते हैं।

पादि, परुष परिघ, परिखा पनस, पारिभद्र शब्दों में पकार के स्थान पर फकारादेश होता है तथा प्रभूत शब्द में पकार के स्थान पर वकारादेश होता है। नीप और पीड शब्द में पकार के स्थान पर विकल्प से मकारादेश; पापर्द्धि शब्द में पकार के स्थान पर रेफादेश; बिसिनी शब्द में बकार के स्थान पर भकारादेश; कबन्ध शब्द में बकार के स्थान पर मकार और यकारादेश, कैटभ शब्द में भकार के स्थान पर वकारादेश; विषम शब्द में मकार के स्थान पर ढकारादेश; मन्मथ शब्द में मकार के स्थान पर वकारादेश; अभिमन्यु शब्द में मकार के स्थान पर वकारादेश एवं भ्रमर शब्द में मकार के स्थान पर विकल्प से सकारादेश होता है। हेम का यह अनुविधान वररुचि के समान ही है।

हेम ने आदेर्यो जः ८।१।२४५ सूत्र द्वारा शब्द के आदि में आये हुए यकार के स्थान पर जकारादेश करने का नियमन किया है, जैसे जसो = यशः, जमो = यमः जाइ = याति आदि। युष्मद् शब्द में यकार के स्थान पर तकारादेश किया है जैसे—तुम्हारिसो तुम्हकेरो आदि। यष्टि शब्द में यकार के स्थान पर लकारादेश उत्तरीय शब्द में तथा अनीय और तीय इन कृत्य प्रत्ययों में यकार के स्थान पर ज्जादेश; अकान्त–कान्ति–मिश्र अर्थ वाची छाया शब्द में यकार के स्थान पर विकल्प से हकारादेश; किरि और भेर शब्द में रकार के स्थान पर डकारादेश पर्याण शब्द में रेफ के स्थान पर डा–आदेश एवं करवीर शब्द में प्रथम रकार के स्थान पर णकारादेश होने का अनुशासन हेम ने किया है। हेम ने इस प्रकरण में वररुचि की अपेक्षा अधिक शब्दों का अनुशासन किया है।

हरिद्रादौ लः ८।१।२५४ सूत्र द्वारा हरिद्रादि गण पठित असंयुक्त शब्दों में रेफ के स्थान पर लकारादेश होता है, जैसे हलिद्दी दलिद्दाइ दलिद्दो दालिद्दं हलिद्दो जहुट्ठिलो सिढिलो मुहलो चलणो वलुणो कलुणो आदि शब्दों में रेफ के स्थान पर लकारादेश किया गया है। हरिद्रादि गणपठित शब्द हेम के प्रायः वही हैं जिनकी लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषाचन्द्रिका' में रचना की है।

१ २

उर्ध्वं एमेव एवमेव आदि। हैम व्याकरण का यह अनुशासन प्राकृत प्रकाश के समान है। हाँ, हेम ने कुछ अधिक शब्दों का अनुशासन अवश्य किया है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि हेम ने इस प्रथम पाद में स्वर और व्यञ्जन विकारका विस्तार सहित प्रतिपादन किया है। विभिन्न शब्दों की विभिन्न परिस्थितियों में होने वाले स्वर और व्यञ्जनों के विकारी रूप का वर्णन किया है। व्यञ्जनों में असंयुक्त व्यञ्जनों का विचार ही इस पाद में अनुशासित किया गया है। प्राकृत प्रकाश के संकीर्ण प्रकरण में, जिन अनुशासनों को बतलाया गया है, वे सभी अनुशासन हेम ने इसी पाद में बतलाये हैं। वर्ण लोप, वर्णागम, वर्णविकार और वर्णविपर्यय आदि के द्वारा स्वर और व्यञ्जनों के विभिन्न विकारों को इस पाद में अंकित किया गया है। हेम ने इसमें भाषा की विभिन्न स्थितियों का साङ्गोपाङ्ग अनुशासन प्रदर्शित किया है। अपने पूर्ववर्ती सभी प्राकृत वैयाकरणों से यह इस क्षेत्र में आगे हैं।

द्वितीय पाद

इस पाद में प्रधानतः संयुक्त व्यंजनों के विकार का निर्देश किया है। हेम ने १–७९ सूत्र तक संयुक्त व्यंजनों के आदेश का नियमन और ७७–८८ सूत्र तक संयुक्त व्यंजनों में से आदि मध्य और अन्त के किसी एक व्यञ्जन के लोप का विधान किया गया है। ८९–९ सूत्र तक विशेष परिस्थितियों में वर्णों के द्वित्व का निर्देश किया है। ९९–११५ सूत्र तक स्वरभक्ति—स्वरभक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है; यह प्रकरण भाषा-विज्ञान के ध्वनिपरक सिद्धान्तों को अपने में आत्मसात् करने की पूर्ण क्षमता रखता है। ११६–१२४ सूत्र तक वर्ण व्यत्यय के नियम बतलाये गये हैं। इस प्रकरण में हेम ने उच्चारण सूत्र के उन सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है जिनके कारण नाद-बोध की त्रुटि भी भाषा में अन्तर आता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक सम्पत्ति की विभिन्नता के कारण—उच्चारणोपयोगी अवयवों की विभिन्नता के कारण उच्चारण में अपनी निजी विशेषता रखता है; जिससे अनेक व्यक्ति वर्ण व्यत्यय का प्रयोग कर देते हैं। हेम ने उक्त सूत्रों में वर्ण व्यत्यय के सिद्धान्तों का बड़े सुन्दर ढंग से प्रणयन किया है। १२५–१४४ सूत्र तक पूरे शब्द के प्राकृत आदेशों का नियमन किया है। ११ –११७ सूत्र तक प्राकृत में विभक्तियों की व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। इस तरह हेम का प्राकृत भाषा सम्बन्धी कारक प्रकरण बड़ा सबल है। ११ सूत्र से १४४ वें तक वचन सम्बन्धी आदेशों की व्यवस्था की गई है। १५-१७१ सूत्र तक भिन्न-भिन्न अर्थों में प्राकृत प्रत्ययों के आदेश बतलाये गये हैं। १७४–२१ सूत्र तक प्राकृत अव्ययों का अर्थ सहित निर्देश किया गया है।

हेम ने बतलाया है कि शुष्क मुष्क, स्क, स्कन्द और सुकुल के संयुक्त व्यञ्जनों को विकल्प से खकारादेश होता है, जैसे शुष्क से सुक्ख और मुष्क से मुक्ख आदि, वर्ण की व्यवस्था करते हुए हेम ने 'क्षः खः क्वचित्तु छझौ' ८।२।३ सूत्र द्वारा बतलाया है कि क्ष के स्थान पर खकार होता है, पर क्वचित् छ और झ भी आदेश होते हैं जैसे खओ (क्षय), लक्खण (लक्षण), झीणं (क्षीण) छीणं झीणं आदि शब्दों में क्ष के स्थान पर ख, छ और झ का आदेश किया है। इसमें ष्क और स्क के स्थान पर ख आदेश की व्यवस्था बतलायी गयी है और उदाहरणों में पोक्खर (पुष्कर), पोक्खरिणी (पुष्करिणी), निक्ख (निष्क), खन्धावारो (स्कन्धावारः), अवक्खन्दो (अवस्कन्द) आदि शब्द उपस्थित किये गये हैं। शुष्क और स्कन्द शब्दों में ष्क और स्क के स्थान पर खादेश होता है। स्फेटकादि शब्दों में संयुक्त ष्म को खादेश किया है, जैसे खेडओ (स्फेटक), खोडओ (स्फोटक), खोडओ (स्फोटकः), खेडिओ (स्फेटिकः) आदि।

स्थाणु शब्द में स्था के स्थान पर खादेश; स्तम्भ शब्द में स्त के स्थान पर विकल्प से खादेश; रक्त शब्द में संयुक्त 'क्त' के स्थान पर गादेश; शुल्क शब्द में संयुक्त ल्क के स्थान पर ङ्गादेश; कृत्ति और चत्वर शब्द में संयुक्त के स्थान पर चादेश; चैत्य शब्द को छोड़ शेष 'त्य' वाले शब्दों में त्य के स्थान पर चादेश; प्रत्यूष शब्द में त्य के स्थान पर च और ष के स्थान पर हादेश त्व, थ्व द्व और ध्व के स्थान पर क्रमशः च, छ ज और झ आदेश एवं वृश्चिक शब्द में संयुक्त श्चि के स्थान पर ञ्चु आदेश होता है।

हेम ने 'छोऽक्ष्यादौ' ८।२।१७ के द्वारा एक नियम बताया है कि अक्ष्यादि शब्दों में संयुक्त वर्ण के स्थान पर छ आदेश होता है, जैसे अच्छि (अक्षि), उच्छु (इक्षु), लच्छी (लक्ष्मीः), कच्छो (कक्षः), छीरं (क्षीर), सरिच्छो (सदृक्षः) वच्छो (वृक्षः), मच्छिआ (मक्षिका) छेत्त (क्षेत्र), छुहा (क्षुधा), दच्छो (दक्ष), कुच्छी (कुक्षि), आदि उदाहरणों में क्ष के स्थान पर छ आदेश का विधान किया है, वररुचि की अपेक्षा हेम का यह एक विशेष नियम है इसके द्वारा इन्होंने भाषा की एक नयी प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। इनके समय में उच्चारणसौकर्य बढ़ रहा था और भाषा एक नयी मोड़ ले रही थी।

क्षमायां कौ ८।२।१८ सूत्र द्वारा हेम ने पृथ्वी वाची क्षमा शब्द में क्ष के स्थान पर छ आदेश का विधान किया है। इससे इनकी एक विशेषता यह दृष्टिगोचर होती है कि संस्कृत में एक ही क्षमा शब्द पृथ्वी और क्षमा (माफी) के अर्थ में व्यवहृत होता था पर इन्होंने इस अनुशासन द्वारा पृथ्वी अर्थ में

क्षमा और छमा (माफी) अर्थ में छमा शब्द का निर्देश किया है। इससे हेम की सूक्ष्म सूझ का पता लगता है।

ऋक्ष शब्द में विकल्प से क्ष के स्थान पर च्छ का आदेश होता है, जैसे रिच्छं रिक्खं रिच्छो रिक्खो इत्यादि शब्दों में क्ष के स्थान पर च्छ आदेश हुआ है।

संस्कृत का एक ही क्षण शब्द द्वय अर्थवाची है। क्षण शब्द का एक अर्थ समय होता है और दूसरा अर्थ उत्सव होता है। संस्कृत में क्षण ही शब्द के दो अर्थ होने से पर्याप्त भ्रान्तियाँ हुई हैं किन्तु प्राकृत भाषा में उक्त भ्रान्तियों को दूर करने का यत्न किया गया है। हेम ने उक्त तथ्य को लेकर ही उत्सव वाची क्षण शब्द में क्ष के स्थान पर छ आदेश किया है। जब क्षण शब्द समयवाची रहता है, उस समय क्ष के स्थान पर ख आदेश होता है। अतः उत्सव अर्थ में छणो (क्षणः) और समय अर्थ में खणो (क्षणः) रूप बनते हैं। हेम का यह अनुशासन उन्हें संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं के वैयाकरणों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

अनिश्चित अर्थ में ह्रस्व स्वर से परे थ्य, श्च, त्स और प्स के स्थान पर च्छ आदेश होता है; जैसे पथ्य के स्थान पर पच्छं, पथ्या के स्थान पर पच्छा, मिथ्या के स्थान पर मिच्छा, पश्चिम के स्थान पर पच्छिमं, आश्चर्य के स्थान पर अच्छेरं, पश्चात् के स्थान पर पच्छा, उत्साह के स्थान पर उच्छाहो, मत्सर के स्थान पर मच्छलो मच्छरो; संवत्सर के स्थान पर संवच्छलो संवच्छरो, चिकित्सति के स्थान पर चिइच्छइ, जुगुप्सति के स्थान पर जुगुच्छइ, अप्सरा के स्थान पर अच्छरा रूप बनते हैं। सामर्थ्य, उत्सुक और उत्सव शब्दों में संयुक्त वर्ण के स्थान पर विकल्प से छ आदेश होता है, जैसे सामच्छं सामत्थं (सामर्थ्यं); उच्छुओ ऊसुओ (उत्सुकः) तथा उच्छवो ऊसवो (उत्सवः) आदि। स्पृहा शब्द में संयुक्तवर्ण के स्थान पर छ आदेश होता है; जैसे छिहा (स्पृहा) आदि।

द्य, य्य और र्य के स्थान पर ज आदेश होता है; जैसे मज्जं (मद्यं), अवज्जं (अवद्यं), वेज्जो (वैद्य), जुई (द्युति), जोओ (द्योत), जज्जो (जय्य), सेज्जा (शय्या), भज्जा (भार्या), कज्जं (कार्यं), वज्जं (वर्य), पज्जाओ (पर्याय) पज्जत्तं (पर्याप्तम्), मज्जाया (मर्यादा) आदि। अभिमन्यु शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से ज और न्ध आदेश होते हैं जैसे अहिमज्जू अहिमन्नू (अभिमन्यु)। ध्वज शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से झ आदेश होता है; जैसे झओ धओ (ध्वजः) आदि। इन्ध धातु में संयुक्त के स्थान पर 'झ' आदेश एवं वृन्त, प्राप्त, मृत्तिका, पत्तन और कदर्थित शब्दों में संयुक्त के स्थान पर टकारादेश होता है।

धूर्तादि को छोड़ शेष र्त वाले शब्दों में र्त के स्थान पर ट आदेश होता है जैसे केवट्टो, वट्टी, जट्टो, पयट्टइ, वट्टुलं, रायवट्टयं, नट्टई, संवट्टिअं आदि।

हेम ने उपर्युक्त जितने भी नियम बतलाये हैं, वे शायद ही निरपवाद होंगे। वस्तुतः भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उच्चारण का मुखसौकर्य ही नियम बन गया है। हेम ने भविष्य में भाषा का क्या रूप होना चाहिए, इस पर प्रकाश नहीं डाला है, बल्कि उन्हें जो शब्द जिस रूप में प्राप्त हुए हैं, उन्हीं का शास्त्रीय विवेचन कर दिया है। इन्होंने भविष्यत्कालीन भाषा को पाणिनि की तरह नियमों में बाँधने का अनुशासन नहीं किया है। हेम के समस्त नियम वर्तमानकालीन भाषा के अनुशासन के लिए हैं; अतः प्रायः सभी नियमों में वैकल्पिक विधान वर्तमान है।

हेम ने वृन्त शब्द में संयुक्त के स्थान पर ण्ट; अस्थि और विसंस्थुल शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ठ; उष्ट्रादिवर्जित ष्ट के स्थान पर ठ; गर्त शब्द में संयुक्त के स्थान पर ड; संमर्द, वितर्दि, विच्छर्द, छर्दि, कपर्द और मर्दित शब्दों में 'र्द' के स्थान पर ड; गर्दभ शब्द में र्द के स्थान पर ड; कन्दरिका और भिन्दिपाल शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ण्ड; स्तब्ध शब्द में दोनों संयुक्तों के स्थान पर क्रमशः ठ, ढ; दग्ध, विदग्ध, वृद्धि और वृद्ध शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ढ; श्रद्धा, ऋद्धि, मूर्धा और अर्ध शब्दों में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से ढ; म्न और ज्ञ शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ण; पञ्चाशत्, पञ्चदश और दत्त शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ण; मन्यु शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से न्त; पर्यस्त शब्दों में स्त के स्थान पर थ और ट; उत्साह शब्द में संयुक्त के स्थान पर विकल्प से थ तथा ह के स्थान पर रेफ; समस्त और स्तम्ब शब्दों को छोड़ शेष स्त वाले शब्दों में संयुक्त के स्थान पर थ; स्तव शब्द में स्त के स्थान पर विकल्प से थ; भस्म और आत्मन् शब्दों में संयुक्त के स्थान पर प; ष्प और स्प के स्थान पर फ; भीष्म शब्द में ष्म के स्थान पर फ; श्लेष्म ष्म के स्थान पर भ; शब्द में ष्म के स्थान पर प; ताम्र और आम्र शब्द में संयुक्त के स्थान पर म्ब; विह्वल शब्द में ह्व के स्थान पर विकल्प से भ; ब्रह्मचर्य, तूर्य, सौन्दर्य और शौण्डीर्य शब्दों में र्य के स्थान पर र; धैर्य शब्द में र्य के स्थान पर विकल्प से र; पर्यन्त शब्द में र्य के स्थान पर र तथा एकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार; आश्चर्य शब्द में र्य के स्थान पर र तथा आश्चर्य शब्द में अकार से परे र्य के स्थान पर रिअ, अर, रिज्ज और रीअ आदेश होते हैं।

पर्यस्त, पर्याण और सौकुमार्य शब्दों में र्य के स्थान पर ल्ल; बृहस्पति और वनस्पति शब्दों में संयुक्त के स्थान पर ह; बाष्प शब्द में संयुक्त के स्थान पर ह; कार्षापण में संयुक्त के स्थान पर ह; दुःख, दक्षिण और तीर्थ शब्दों में

हेम का यह द्वित्व प्रकरण ८.२। ९ सूत्र तक चलता है। इन्होंने इस प्रकरण में सामासिक शब्दों में विकल्प से द्वित्व किया है तथा रेफ और हकार के द्वित्व का निषेध किया है।

१ सूत्र से ११५ सूत्र तक स्वरभक्ति के सिद्धान्तों का प्रदर्शन किया गया है। इस प्रकरण में अकार आगम कर स्नेह से सणेहो नेहो अग्नि से अगणी और अग्गी, क्ष्मा से छमा श्लाघा से सलाहा; रत्न से रयण पद्म से पउमो तथा र्ह, श्री ह्री कृत्स्न, क्रिया आदि शब्दों में संयुक्त के अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व इकार आगम करने का नियमन किया है। जैसे र्ह में इकार आगम होने से अरिहइ अरिहा, गरिहा बरिहो श्री में इकार आगम होने से सिरी, ह्री में इकार का आगम से हिरी हिरिओ कृत्स्न में इकार का आगम होने से कसिणो क्रिया में इकार का आगम होने से किरिआ आदि शब्द बनते हैं।

र्श, र्ष तप्त और वज्र शब्दों में संयुक्त के अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व विकल्प से इकार का आगम होता है; जैसे र्श में इकार का आगम होने से आयरिसो, आयंसो सुदरिसणो सुदंसणो दरिसण दंसण; र्ष में इकार का आगम होने से वरिस वास वरिसा वासा वरिस सय वास-सय आदि एवं संयुक्त अन्त्य व्यञ्जन लकार के पूर्व इत् आदेश होने से किलिन्न किलिट्ठ किलिस्सइ, सिलिट्ठ, सिलुट्ठ, पिलिट्ठो आदि शब्दों का साधुत्व दिखलाया है।

स्याद्, भव्य चैत्य, और चौर्य आदि शब्दों में संयुक्त यकार के पूर्व इकार का आगम होता है; जैसे सिया सिया-वाओ भविओ, चेइअ चोरिअ, थेरिअं भारिआ गहीरिअं, आयरिओ, सोरिअं वीरिअं वरिअं सूरिओ, धीरिअं बम्हचरिअ आदि। स्वप्न शब्द में नकार के पूर्व इकार का आगम होता है, जैसे सिविणो; स्निग्ध शब्द में संयुक्त नकार के पूर्व अकार और इकार आदेश होते हैं; जैसे सणिद्ध सिणिद्धं; धर्मवाची कृष्ण शब्द में संयुक्त अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व अकार और इकार आदेश होते हैं; जैसे कसणो कसिणो अर्हत् शब्द में संयुक्त अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व उत अत और इत ये तीनों ही आदेश होते हैं; जैसे अरुहो अरहो अरिहो अरुहंतो अरिहंतो अरहंतो आदि पद्म छद्म मूर्ख और द्वार शब्द में अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व विकल्प से उत् होता है जैसे पउमं पोम्मं छउमं छोम्मं मुरुक्खो मुक्खो; उकारान्त और ङी प्रत्ययान्त तन्वी तुल्या आदि शब्दों में संयुक्त अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व उकार होता है; जैसे तणुवी गरुवी बहुवी पुहुवी मउवी एवं ज्या शब्द में अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व ईकारागम होता है जैसे जीआ। हेम का यह प्रकरण वररुचि की अपेक्षा बिल्कुल नवीन है। उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरणों ने हेम के इस प्रकरण के आधार पर स्वर भक्ति और स्वरागम के सिद्धान्तों का कुछ प्रदर्शन किया है।

शील, धर्म और साधुत्व में विहित प्रत्ययों के स्थान पर इर प्रत्यय का आदेश होता है। धातु में इस प्रत्यय के जुड़ने से कर्तृसूचक कृदन्त रूप बनते हैं। संस्कृत में शीलादि अर्थ प्रकट करने वाले तृन्, इन् और निन् आदि प्रत्यय माने गये हैं। प्राकृत भाषा में हेम ने उक्त शीलादि अर्थवाची प्रत्ययों के स्थान पर इर प्रत्यय आदेश करने का विधान किया है जैसे हस+इर=हसिरो (हसन शील), रोव+इर=रोविर (रोदनशील), लज्जा+इर=लज्जिरो (लज्जा-शील) आदि।

इदं अर्थक तद्धित प्रत्यय के स्थान पर केर प्रत्यय जोड़ने का हेम ने अनुशासन किया है। यथा—

अस्मद् + केर=अम्हकेर (अस्माकमिदम् अस्मदीयम्)।

युष्मद् + केर=तुम्हकेरं (युष्माकमिदम् युष्मदीयम्)।

पर + केर = परकेर (परस्य इदम् परकीयम्)।

राज + केर = रायकेर (राज इदं राजकीयम्)।

भव अर्थ में इल्ल और उल्ल प्रत्यय आते हैं। यथा—

इल्ल—

गाम + इल्ल = गामिल्लं (ग्रामे भवम्), स्त्री गामिल्ली

पुर + इल्ल = पुरिल्लं (पुरे भवम्) स्त्री पुरिल्ली

अधस् + इल्ल = हेट्ठिल्लं (अधो भवम्) स्त्री० हेट्ठिल्ली

उपरि + इल्ल = उवरिल्लं (उपरि भवम्)

उल्ल—

आत्म + उल्ल = अप्पुल्लं (आत्मनि भवम्)

तरु + उल्ल = तरुल्लं (तरौ भवम्)

नयर + उल्ल = नयरुल्लं (नगरे भवम्)

इव अर्थ प्रकट करने के लिए हेम ने व्व प्रत्यय जोड़ने का अनुशासन किया है जैसे—महुरव्व पाडलिपुत्ते पासाया (मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः)

त्व अर्थ प्रकट करने के लिए इमा त्त और त्तण प्रत्यय लगाने का विधान हैम व्याकरण में किया गया है। यथा—

पीण + इमा = पीणिमा (पीनत्वम्)

पीण + त्तण = पीणत्तण पीण + त्त = पीणत्त पुप्फिमा (पुप्फ + इमा) = पुष्पत्वम्, पुप्फ + त्तण = पुप्फत्तण पुप्फ + त्त = पुप्फत्त।

बार अर्थ में हुत्तं प्रत्यय तथा आर्ष प्राकृत में उक्त अर्थ में खुत्तं प्रत्यय लगता है। यथा—

एक + हुत्तं = एगहुत्तं (एककृत्वः = एकवारम्)।

द्वि + हुत्त = दुहुत्तं (द्विवारम्), त्रि + हुत्त = तिहुत्त (त्रिवारम्), शत + हुत्त = सयहुत्त (शतवारम्), सहस्र + हुत्त = सहस्सहुत्त (सहस्रवारम्)

वाला अर्थ प्रकट करने के लिए संस्कृत में मत और वत् प्रत्यय होते हैं किन्तु हेम ने इनके स्थान पर आल, आलु, इत्त, इर, इल्ल, उल्ल, मण, मंत और वंत प्रत्यय जोड़ने का अनुशासन किया है। यथा—

आल—

रस + आल = रसालो (रसवान्), जटा + आल = जडालो (जटावान्), ज्योत्स्ना + आल = जोण्हालो (ज्योत्स्नावान्), शब्द + आल = सद्दालो (शब्दवान्)।

आलु—

ईर्ष्या + आलु = ईसालु (ईर्ष्यावान्), दया + आलु = दयालु (दयावान्); स्नेह + आलु = नेहालु (स्नेहवान्), लज्जा + आलु = लज्जालु (लज्जावान्) स्त्री लज्जालुआ।

इत्त—

काव्य + इत्त = कव्वइत्तो (काव्यवान्), मान + इत्त = माणइत्तो (मानवान्)

इर—

गर्व + इर = गव्विरो (गर्ववान्), रेखा + इर = रेहिरो (रेखावान्)

इल्ल—

शोभा + इल्ल = सोहिल्लो (शोभावान्); छाया + इल्ल = छाइल्लो (छायावान्)।

उल्ल—

विचार + उल्ल = वियारुल्लो (विचारवान्), विकार + उल्ल = वियारुल्लो (विकारवान्)।

मण—

धन + मण = धणमणो (धनवान्), शोभा + मण = सोहामणो (शोभावान्)

मंत—

हनु + मंत = हणुमंतो (हनुमान्), श्री + मंत = सिरिमंतो (श्रीमान्)

वंत—

धन + वंत = धणवंतो (धनवान्), भक्ति + वंत = भत्तिवंतो (भक्तिमान्)

संस्कृत के तस् प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में त्तो और दो प्रत्यय विकल्प से होते हैं यथा—सर्व + तस् = सव्वत्तो, सव्वदो, सव्वओ (सर्वतः), एक + तस् =

एकत्तो एकदो, एकओ (एकतः); अन्य+तस्=अन्नत्तो, अन्नदो अन्नओ (अन्यतः); किम्+तस्=कत्तो, कुदो, कुओ (कुतः)।

संस्कृत के स्थानवाची 'त्र' प्रत्यय के स्थान पर प्राकृत में हि ह और त्थ प्रत्यय जुड़ते हैं, यथा यत्+त्र=जहि, जह जत्थ (यत्र), तत्+त्र=तहि, तह तत्थ (तत्र); किम्+त्र=कहि, कह, कत्थ (कुत्र); अन्य+त्र=अन्नहि, अन्नह, अन्नत्थ (अन्यत्र)।

हेम ने संस्कृत के अङ्कोठ शब्द को छोड़ शेष बीजवाची शब्दों में जुड़ने वाले तैल प्रत्यय के स्थान पर एल्ल प्रत्यय का संविधान किया है। जैसे कडु+तैल=कडुएल्लं।

स्वार्थवाची संज्ञा शब्दों में अ, इल्ल और उल्ल प्रत्यय विकल्प से जुड़ते हैं—यथा—चन्द्र+अ=चन्दओ, चंदो (चन्द्रकः), हृदय+अ=हिअयअं, हिअअं (हृदयकम्)। पल्लव+इल्ल=पल्लविल्लो, पल्लवो (पल्लवकः); पुरा+इल्ल=पुरिल्लो। पितृ+उल्ल=पिउल्लो पिआ (पिता), हस्त+उल्ल=हत्थुल्लो, हत्थो (हस्तः)।

हेम ने कतिपय ऐसे तद्धित प्रत्ययों का भी उल्लेख किया है, जिन्हें एक प्रकार से अनियमित कहा जा सकता है। यथा—

एक+सि=एकसि; एक+सिअं=एकसिअं; एक+इआ=एकइआ (एकदा); भ्रू+मया=भुमया (भ्रू); शनैः+इअं=सणिअं (शनैः); उपरि+इल्ल=अवरिल्लो; ज+एत्तिअ=जेत्तिअं ज+एत्तिल=जेत्तिलं, ज+एद्दह=जेद्दहं (यावत्); त+एत्तिअ=तेत्तिअं; त+एत्तिल=तेत्तिलं त+एद्दह=तेद्दहं (तावत्); एत+एत्तिअ=एत्तिअं एत+एत्तिल=एत्तिलं, एत+एद्दह=एद्दहं (एतावत् इयत्); क+एत्तिअ=केत्तिअं क+एत्तिल=केत्तिलं क+एद्दह=केद्दहं (कियत्), पर+क्क=परक्कं (परकीयम्); राज+क्क=रायक्कं (राजकीयम्); अस्मद्+एच्चय=अम्हेच्चयं (अस्मदीयम्); युष्मद्+एच्चय=तुम्हेच्चयं (युष्मदीयम्); सर्वाङ्ग+इअ=सव्वंगिओ (सर्वाङ्गीणः); पथ+इक=पहिओ (पान्थः); आत्म+णय=अप्पणयं (आत्मीयम्)

कुछ वैकल्पिक भी तद्धित प्रत्यय होते हैं, यथा नव+ल्ल=नवल्लो नवो (नवकः) एक+ल्ल=एकल्लो एक्को (एककः); मनाक्+अयं=मणयं, मनाक्+इय=मणियं मणा (मनाक्); मिश्र+आलिअ=मीसालिअं मीसं (मिश्रम्); दीर्घ+र=दीहरं दीहं (दीर्घम्); विद्युत्+ल=विज्जुला विज्जू (विद्युत्); पत्र+ल=पत्तलं, पत्तं (पत्रम्); पीत+ल=पीअलं पीअं (पीतम्) अन्ध+ल=अन्धलो, अंधो (अन्धः)।

हेम ने ८।१।१७४ में कुछ प्राकृत शब्दों की निपातन से सिद्धि की है जैसे गोणो गावी, गावः, गावीओ (गौः), बइल्लो (बलीवर्दः) पञ्चावण्णा, पणपन्ना (पञ्चपञ्चाशत्), तेवण्णा (त्रिपञ्चाशत्) तेआलीसा (त्रिचत्वारिंशत्) विउस्सग्गो (व्युत्सर्गः) वोसिरणं (व्युत्सर्जनम्) कत्थइ (कचित्) मुव्वहइ (उद्वहति); वम्हलो (अपस्मारः) कुड्ड (उत्पलम्); छिछि, धिद्धि (धिक् धिक्) धिरत्थु (धिगस्तु) पडिसिद्धी, पाडिसिद्धी (प्रतिस्पर्धा); चच्चिक्कं (स्थासकः), निहेलणं (निलयः); मघोणो (मघवान्) सक्खिणो (साक्षी) जम्मणं (जन्म); महन्तो (महान्), आसीसा (आशीः), बुहयरं (बृहत्तरम्), हिमोरो (हिमोरः); चुल्लो (क्षुल्लकः) गायणो (गायनः), वढो (वटः), कुड्डं (कुतूहलम्), महिओ (विष्णुः) करसी (श्मशानम्) अगया (असुराः) तिरिच्छि (पौर्ण रवः); अल्लं (दिनम्); पक्कलो (समर्थः) इत्यादि।

८।२।१७५ सूत्र से ८।२।२१८ सूत्र तक 'अव्ययम्' का अधिकार है, हेम ने इस प्रकरणिका में प्रायः समस्त प्रधान प्रधान अव्ययों का निर्देश कर दिया है। तद्धित प्रत्ययों के अनन्तर अव्ययों की चर्चा कर लेना आवश्यक है। अतः अव्ययों का प्रतिपादन क्रमानुसार ही किया है। हेम द्वारा निर्दिष्ट अव्यय निम्न प्रकार है—

अव्यय	संस्कृत रूप	अर्थ
तं	तत्	वाक्यारम्भ
आम	ओम्	स्वीकार
णवि		विपरीतता
पुणरुत्तं	पुनरुक्त	कृतकरण
हन्दि	हन्त	खेद, विकल्प, पश्चात्ताप, निश्चय सत्य ग्रहण।
हन्द	हन्त	ग्रहण
मिव	मा+इव	जैसा इव
पिव	अपि+इव	सरीखा जैसा इव
विव	इव	जैसा
व्व	इव	"
व	वा	विकल्प जैसा
विअ	इव	जैसा
जेण	येन	लक्षण
तेण	तेन	"

अव्यय	संस्कृत रूप	अर्थ
णइ		अवधारण
चेअ	चैव	,,
चिअ	चैव	,,
वले	वले	निर्धारण, चोटी काटना
बल	बल	निश्चय
किर	किल	किमर्थ
हिर	किल	,,
इर		निश्चय
णवर		केवल
णवरि		अनन्तर
अलाहि	अल हि	निवारण निषेध
अण (नम)	अन	निषेध
णाइ	नैव	निषेध
माइं	माऽस्ति	निषेध
हद्धी	हाधिक्	निर्वेद, खेद
वेव्वे		भय-वारण विषाद
वव्व, वेव्व		आमन्त्रण
मामि		सखी का सम्बोधन
हला		
हले	हाऽऽले	,,
दे		सम्मुखीकरण
हुं		दान-पृच्छा निवारण
हु तथा खु		निश्चय वितर्क, संभावना, विस्मय
ऊ		गर्हा, आक्षेप, विस्मय
थू	थूत्	कुत्सा अर्थ (तिरस्कार)
रे		संभाषण
अरे	,,	रतिकलह
हरे	हारे	क्षेप संभाषण रतिकलह
ओ		सूचना पश्चात्ताप
अव्वो		सूचना, दुःख, संभाषण, अपराध, विस्मय आनन्द आदर, भय खेद, विषाद पश्चात्ताप ।
अइ	अयि	संभावना

अकारान्त संज्ञा शब्दों से परे जस् और शस् का लोप होता है तथा अकारान्त शब्दों के परे अम् के अकार का लोप होता है।

अकारान्त संज्ञा शब्दों से परे टा प्रत्यय तथा षष्ठी विभक्ति बहुवचनविषयक आम् प्रत्यय के स्थान पर ण आदेश होता है। उक्त शब्दों से भिन्न के स्थान पर हि, हिँ और हिं ये तीन आदेश होते हैं। ङसि प्रत्यय के स्थान पर त्तो, दो, दु हि हिन्तो और लुक् ये आदेश होते हैं। षष्ठी विभक्ति एकवचन में ङस के स्थान पर स्स आदेश होता है। सप्तमी विभक्ति एक वचन में ङि के स्थान पर ए और म्मि ये दो आदेश होते हैं।

–।३।१२ सूत्र द्वारा जस्, शस्, ङसि, त्तो, दो और दु में अकार को दीर्घ करने का अनुशासन किया है और १३ वें सूत्र द्वारा भ्यस के परे रहने पर विकल्प से अकार को दीर्घ किया है। टा के स्थान पर आदिष्ट ण तथा शस् के पूर्ववर्ती अकार को एकार आदेश होता है। भिस्, भ्यस् और सुप् परे हुए इकार और उकार को दीर्घ होता है। चतुर और उकारान्त शब्दों में भिस्, भ्यस् और सुप परे हुए विकल्प से दीर्घ होता है। इकारान्त और उकारान्त शब्दों में शस प्रत्यय के लोप होने पर दीर्घ होता है।

इकारान्त और उकारान्त शब्दों में नपुंसक से भिन्न अर्थात् स्त्रीलिंग और पुँल्लिङ्ग में सि प्रत्यय के परे रहने पर दीर्घ होता है। इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे जस् के स्थान पर पुँल्लिङ्ग में विकल्प से अउ, अओ तथा णो होते हैं। उकारान्त शब्दों से परे पुँल्लिङ्ग में जस् के स्थान पर वो और अव् आदेश होते हैं। इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे पुँल्लिङ्ग में जस् और शस् के स्थान पर णो आदेश होता है।

इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में ङसि और ङस के स्थान पर विकल्प से णो आदेश होता है। पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में इकारान्त और उकारान्त शब्दों से परे 'टा' के स्थान पर णा आदेश होता है। नपुंसकलिङ्ग में संज्ञावाची स्वरान्त शब्दों से परे 'सि' के स्थान म म् आदेश होता है। नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान संज्ञावाची शब्दों से परे जस् और शस के स्थान पर सानुनासिक और सानुस्वार इकार तथा णि आदेश होते हैं और पूर्व स्वर को दीर्घ होता है।

स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान संज्ञावाची शब्दों से परे जस और शस् के स्थान में विकल्प से उत् और ओत् आदेश होते हैं और पूर्व को दीर्घ होता है। स्त्रीलिंग ईकारान्त शब्दों से परे सि, जस् और शस के स्थान में विकल्प से आकार आदेश होता है। स्त्रीलिङ्ग में संज्ञावाची शब्दों से पर टा ङस और ङि इन प्रत्ययों में से प्रत्येक के स्थान पर अत्, आत्, इत् और एत् ये चार

आदेश होते हैं और पूर्व स्वर को दीर्घ होता है। स्त्रीलिङ्ग में संज्ञा शब्दों से परे स्त्र जस्, शसि के स्थान पर आत आदेश नहीं होता है। हेम ने ११ सूत्र से १६ सूत्र तक स्त्रीलिङ्ग विधायक ही और डा प्रत्ययों के साथ साथ ह्रस्व विधायक नियम का भी उल्लेख किया है। ३७ वें और ३८ वें सूत्र में सम्बोधन के रूपों का अनुशासन किया है।

सूत्रोक्त ८।३।३ सूत्र द्वारा अकारान्त शब्दों का अनुविधान किया है। इन शब्दों के सम्बोधन एक वचन में विकल्प से अकार और डर् का आदेश होता है और अकारान्त शब्दों में अकार के स्थान पर एकार आदेश होता है। इकारान्त और उकारान्त शब्दों में तथा क्विबन्त ऊकारान्त शब्दों में सम्बोधन एकवचन में ह्रस्व होता है। ऋकारान्त शब्दों में सि अम् और औ प्रत्यय को छोड़ शेष विभक्तियों से पर ऋदन्त विकल्प से उदन्त हो जाते हैं। मातृ शब्द में ऋ के स्थान पर सि आदि विभक्तियों से आ और अर आदेश होते हैं। ऋदन्त संज्ञावाची शब्द सि आदि के परे रहने पर अरन्त हो जाते हैं। ऋदन्त शब्दों में सि के पर रहने पर विकल्प से आकार आदेश होता है।

व्यञ्जनान्त शब्दों की साधनिका बतलाते हुए हेम ने राजन् के नकार का लोप कर अन्त्य का विकल्प से आत्वविधान किया है। राजन् शब्द से पर जस् शस् ङसि और ङस् के स्थान पर विकल्प से णो आदेश होता है। राजन् शब्द से पर टा के स्थान पर णा तथा णो और ण पर होने से जकार के स्थान पर वैकल्पिक इकार होता है। राजन् शब्द सम्बन्धी जकार के स्थान पर अम् और आम् के साथ इणम् आदेश होता है। भिस् भ्यस् आम् और सुप् प्रत्ययों में राजन् शब्द के जकार को इकार आदेश होता है। टा, ङसि और ङस विभक्तियों में णा णो आदेश हो जाने पर राजन् शब्द के अज के स्थान पर विकल्प से अण होता है।

आत्मन् शब्द से परे टा विभक्ति के स्थान पर णिआ णइआ विकल्प से आदेश होते हैं। सर्वादि शब्दों में जित् हो कर ए आदेश होता है। टि के स्थान पर स्सि म्मि और त्थ आदेश होते हैं।

इदम् और एतद् शब्दों को छोड़ शेष सर्वादि शब्दों के अदन्त से परे ङि के स्थान पर विकल्प से हिं आदेश होता है। सर्वादि शब्दों में आम् के स्थान पर सिं आदेश होता है। किम् और तद् शब्द से पर आम् के स्थान पर डास आदेश होता है। किम् और तद् शब्द से पर ङस के स्थान पर स्स तथा स और काल वाचक में किम् और तद् शब्द से पर ङि के स्थान में आहे आला और इआ आदेश होते हैं। इन्हीं शब्दों से पर ङसि के स्थान में विकल्प से म्हा आदेश होता है।

तद् शब्द से परे ङसि के स्थान में विकल्प से डो, किम् शब्द से परे ङसि के स्थान में डिणो और डीस तथा इदम्, एतद, किम्, यत और तद् शब्दों से परे टा के स्थान पर विकल्प से इणा आदेश होता है। तद् शब्द के स्थान पर सि आदि विभक्तियों के परे रहने पर ण आदेश होता है। किम् शब्द के स्थान पर सि आदि विभक्ति, त्र और तस प्रत्यय के परे रहने पर क आदेश होता है। इदम् शब्द से सि विभक्ति के परे रहने पर पुँल्लिङ्ग में अय और स्त्रीलिङ्गमें इमिआ आदेश होते हैं। स्सि और स्स परे रहने पर इदम् के स्थान पर विकल्प से अ आदेश होता है। इदम् के स्थान में अम्, शस ए और त्थ प्रत्यय के परे रहने से विकल्प से ण आदेश होता है। नपुंसकलिंग में सि और अम् विभक्तियों से परे इदं, इणमो और इणं का नित्य आदेश किया है। नपुंसकलिङ्ग में सि और अम् के सहित किम् शब्द के स्थान पर किं आदेश होता है।

इदम्, तद् और एतद् शब्द के स्थान में ङस् और आम् विभक्ति के सहित से तथा सिमका विकल्प से आदेश होता है। एतद् शब्द से परे ङसि के स्थान पर त्तो और त्ताहे विकल्प से आदिष्ट होते हैं। सप्तमी एकवचन में एतद् शब्द के स्थान पर विकल्प से अत और ईय आदेश होते हैं। हेम ने ८५–८६ से ८८ सूत्र तक एतद्, तद्, अदस शब्दों की विभिन्न विभक्तियों में होने वाले आदेशों का कथन किया है।

८।३।८ से ८।३।११७ सूत्र तक युष्मद् और अस्मद् शब्द के विभिन्न रूपों का निर्देश किया है। इन दोनों शब्दों के अनेक वैकल्पिक रूप किये गये हैं। इन्हें देखने से ऐसा लगता है कि हेम के समय में प्राकृत भाषा के रूपों में पर्याप्त विकल्प आ गया था। देश विशेष के प्रभावों के कारण ही उक्त शब्दों की रूपावली में अनेकरूपता आ गयी है।

त्रेस्ती तृतीयादौ ८।३।११८ सूत्र द्वारा हेम ने तृतीयादि अर्थों में त्रि के स्थान पर ती और ११९–१२ वें सूत्र द्वारा द्वितीयादि अर्थ में द्वि के स्थान पर दो दुवे, दोण्णि वे आदेश होने का विधान किया है। जस शस सहित त्रि के स्थान पर तिण्णि तथा चतुर के स्थान पर चत्तारो, चउरो और चत्तारि आदेश होने का नियमन किया है। संख्यावाची शब्दों से परे आम् के स्थान पर ण्ह ण्हं ये आदेश होते हैं। इस प्रकार व्यञ्जनान्त शब्दों के प्राकृत के सम्बन्ध में कतिपय विशेषताओं का कथन करने के उपरान्त शेष कार्य स्वरान्त शब्दों के समान ही समझ लेने का संकेत किया है। हेम ने विभक्तियों के लोप या आदेश के सम्बन्ध में १२५–१२९ सूत्र तक एक प्रकार से विशेष कथन किया है।

हेम ने वाक्य रचना को सुव्यवस्थित बनाने के लिए विभक्त्यर्थ का निरूपण ८।३।१३१ से ८।३।१३७ तक किया है। चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी तादर्थ्य में विहित चतुर्थी के स्थान पर विकल्प से षष्ठी वध शब्द से परे तादर्थ्य में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति; द्वितीयादि विभक्तियों के स्थान पर षष्ठी; द्वितीया और तृतीया के स्थान पर सप्तमी पञ्चमी के स्थान पर तृतीया, सप्तमी एवं क्वचित् सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति होती है। हेम का यह प्रकरण प्राकृतप्रकाश से बहुत अंशों में समता रखने पर भी विशिष्ट है। त्यादीनामाद्य ८।३।१३९ सूत्र से त्यादि प्रकरण का आरम्भ होता है। इस प्रकरण में धातु रूपों का पूर्णतया निर्देश किया है। अन्य पुरुष एकवचन में ति के स्थान पर इच और आत्मनेपद में ते के स्थान पर एच मध्यम पुरुष एकवचन में सि और से तथा उत्तम पुरुष एकवचन में मि आदेश होते हैं। अन्य पुरुष बहुवचन में परस्मैपद और आत्मनेपद में न्ति, न्ते और इरे; मध्यम पुरुष बहुवचन में इत्था और हच् एवं उत्तम पुरुष में मो मु और म आदेश होते हैं। इस प्रकार हेम ने इस प्रकरण में विभिन्न धातुओं के संयोग से त्यादि विभक्तियों के स्थान पर भिन्न भिन्न प्रत्यय होने का अनुशासन किया है। काल की अपेक्षा से हेम ने इस प्रकरण में वर्तमाना, पञ्चमी सप्तमी, भविष्यन्ती और क्रियातिपत्ति इन क्रिया कल्पाओं में धातुओं के रूपों का विवेचन किया है।

इस प्रकरण में क, क्त्वा, तुम् तव्य और शतृ इन संस्कृत कृत् प्रत्ययों के स्थान पर प्राकृत कृत् प्रत्ययों का निर्देश किया है। धातुसम्बन्धी अन्य कतिपय आदेश भी इस प्रकरण में विद्यमान हैं। संक्षेप में इस पाद में शब्द रूप और धातुरूपों की प्रक्रिया, उनके विभिन्न आदेश, कारकव्यवस्था, धातुविकार स्वरूप कृत् प्रत्ययान्त शब्द एवं सर्वनामवाची शब्दों के विभिन्न आदेश निबद्ध किये गये हैं।

सामान्यतया इस पाद का विषय और उसकी प्रक्रिया प्राकृत प्रकाश के समान ही है। हाँ कारक अवश्य विशिष्ट है। प्राकृतप्रकाश में चतुर्थी के स्थान पर केवल षष्ठी का निर्देश भर ही किया है, अन्य विभक्तियों की चर्चा नहीं किन्तु हेम ने कारक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला है।

चतुर्थ पाद

यह पाद महत्त्वपूर्ण है। इसमें शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची, और अपभ्रंश प्राकृतों का अनुशासन किया गया है। हेमने क्रमशः १।। पाद में केवल महाराष्ट्री प्राकृत का अनुशासन निरूपित किया है। हम देखते हैं कि हेम ने अपने समय की सभी प्रमुख भाषा और बोलियों का सर्वांगपूर्ण अनुशासन

धातु	आदेश
विरेच प्रा. विरेअ	ओलुण्ड, उल्लुण्ड, पल्हत्थ
ताड	आहोड, विहोड
मिश्र प्रा. मीस और मीस्स	वीसाल, मेलव
उद्+धूल प्रा. उद्धूल	गुंठ
भ्रम प्रा. भम	तालिअण्ट, तमाड
नश प्रा. नास	विउड, नासव, हारव, विप्पगाल, पलाव
दृश् प्रा. दरिस	दाव, दंस, दक्खव
उद्+घाट प्रा. उग्घाड	उग्ग
स्पृह	सिह
सम्+भाव	आसंघ
उद्+नम प्रा. उन्नाम	उत्थंघ, उल्लाल, गुलगुंछ, उप्पेल
प्र+स्था प्रा. पट्ठव	पट्ठव, पेण्डव
वि+ज्ञप प्रा. विण्णव	वोक्क, अवुक्क
याप प्रा. जाव	जव
अर्प प्रा. अप्प	अल्लिव, चच्चुप्प, पणाम
विकोश प्रा. विकोस	पक्खोड
प्लाव प्रा. पाव	ओम्वाल, पव्वाल
रोमन्थ	ओग्गाल, वग्गोल
कम प्रा. काम	णिहुव
प्र+काश प्रा. पयास	णुव्व
कम्प	विच्छोल
आ+रोप प्रा. आरोव	वल
दोल	रंखोल
रंज	राव
घट प्रा. घड	परिवाड
वेष्ट प्रा. वेढ	परिआल
क्री	किण
वि+क्री प्रा. विक्री	विक्के, विकिण
भी	भा, बीह
आ+ली	अल्ली
नि+ली	णिलीअ, णिलुक्क, णिरिग्घ, लुक्क, लिक्क, ल्हिक्क
वि+ली	विरा

धातु	आदेश
प्रच्छ	पुच्छ
गर्ज	बुक्क, ढिक्क (वृषगर्जने)
राज	अग्घ, छज्ज, सह, रीर, रेह
मस्ज	आउड्ड, णिउड्ड, बुड्ड, खुप्प
पुञ्ज	आरोल वमाल
लस्ज	जीह
तिज	ओसुक्क
मृज प्रा मज्ज	उग्घुस, लुञ्छ, पुञ्छ, पुंस, फुस, पुस, लुह, हुल, रोसाण
भञ्ज	वेमय, मुसुमूर, मूर, सूर, सूड, विर, पविरंज, करंज, नीरज
अनु + व्रज, प्रा अणुवच्च	पडिअग्ग
अर्ज	विढव
युज	जुंज, जुज्ज, जुप्प
भुज	भुंज, जिम, जेम, कम्म, अण्ह समाण, चमढ, चड्ड
उप + भुज	कम्मव
घट	गढ
सम + घट	संगल
स्फुट	मुर (हासस्फुटिते)
मण्ड	चिंच, चिंचअ, चिंचिल्ल, रीड, टिविडिक्क
तुड	तोड, तुट्ट, खुट्ट, खुड, उक्खुड, उल्लुक्क णिलुक्क लुक्क, उल्लूर
घूर्ण	घुल, घोल, घुम्म पहल्ल
वि + वृत् प्रा विवट्ट	ढंस
क्वथ प्रा० कढ	अट्ट
ग्रन्थ	गण्ठ
मन्थ	घुसल, विरोल
ह्लाद	अवअच्छ
नि + सद	णुमज्ज
छिद प्रा छिंद	दुहाव, णिच्छल्ल, णिज्झोड, णिव्वर, णिल्लूर, लूर
आ + छिद् प्रा आछिंद्	ओअंद उद्दाल
मृद	मल मढ, परिहट्ट, खड्ड, चड्ड, मड्ड, पन्नाड
स्पन्द प्रा फंद	चुलुचुल
निर् + पद प्रा निप्पज्ज	निव्वल

८—अन्य पुरुष एकवचन में ति के स्थान पर दि होता है, जैसे भवति = भोदि या होदि भवति = भवदु भवदि; गच्छति = गच्छदे, गच्छदि।

९—भविष्यत्काल में स्सि चिह्न का प्रयोग होता है; यथा भविष्यति=भविस्सिदि।

१०—अस के परे इति के स्थान पर आदो और आदु आदेश होते हैं—जैसे दूरादो दूरादु।

११—इदानीम्, तस्मात् और एव के स्थान में दाणिं, ता और ज्जेव हो जाते हैं।

१२—दासी को पुकार ने के लिए हञ्जे, शब्द का प्रयोग किया जाता है।

१३—आश्चर्य और निर्वेद सूचित करने के लिए 'हीमाणहे' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

१४—ननु के नतु के स्थान पर ण का प्रयोग होता है।

१५—प्रसन्नता सूचित करने के लिए अम्महे का प्रयोग होता है।

१६—विदूषक आनन्द प्रकट करने के लिए ही ही शब्द का प्रयोग करता है।

अन्य बातों में शौरसेनी महाराष्ट्री के समान होती है। स्वर और व्यञ्जन परिवर्तन के सिद्धान्त महाराष्ट्री के समान ही हैं।

८।४।२८७ सूत्र से ८।४।३०२ सूत्र तक हेम ने मागधी की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। मागधी भाषा में शौरसेनी की अपेक्षा निम्न विशेषताएँ हैं—

१—पुंलिङ्ग में 'सि' प्रत्यय के परे अकार के स्थान पर एकार होता है; जैसे एष मेषः = एशे मेशे; एष पुरुषः = एशे पुलिशे, करोमि भदन्त = कलेमि भंते।

२—मागधी में ष और स के स्थान पर श होता है, जैसे एषः=एशे, पुरुषः=पुलिशे।

३—मागधी में र ल में परिवर्तित हो जाता है; जैसे पुरुषः = पुलिशे, नारकः = णालके नर = नले कर = कले।

४—मागधी में ज, य और य के स्थान में य होता है, जैसे जानाति=याणदि जानपदे = यणवदे, अर्जुन = अय्युणे; मद्य = मय्य

५—संस्कृत के अहं के स्थान पर हके, हगे और अहके शब्दों का आदेश होता है। वयं के स्थान पर भी हगे आदेश होता है।

६—न्य ण्य, ज्ञ और ञ्ज के स्थान पर ञ्ञ होता है; जैसे अभिमन्युकुमारः = अहिमञ्ञुकुमाले अन्यकारणं = अञ्ञकालणं पुण्य=पुञ्ञं, प्रज्ञा = पञ्ञा।

७—तिष्ठ के स्थान पर चिष्ठ का प्रयोग होता है।

८—स्थ और र्थ के स्थान पर स्त आदेश होता है जैसे = उपस्थित = उवस्तिद सार्थवाह = शस्तवाहे।

९—ट्ट तथा ष्ठ के स्थान पर स्ट आदेश होता है; जैसे भट्टारिका = भस्टालिका, सुष्ठु = शुस्टु।

१०—न्त के तकार के स्थान पर न्द आदेश होता है जैसे गच्छति = गच्छदि।

११—छ के स्थान पर श्च होता है, उच्छलति = उश्चलदि, गच्छ = गश्च, आपन्नवत्सल = आवन्नवश्चले।

१२—प्रेक्ष और आचक्ष के क्षकार के स्थान पर स्क आदेश होता है, जैसे प्रेक्षते = पेस्कदि, आचक्षते = आचस्कदि।

१३—अवर्ण से परे ङस के स्थान पर विकल्प से आह आदेश होता है—जैसे एतस्य = एलिशाह शोणितस्य = शोणिदाह।

१४—क्त्वा के स्थान पर दाणि का आदेश होता है जैसे कृत्वा = कारिदाणि, कृत्वा आगत = कारिदाणि आगदे।

८।४।३०३ सूत्र से ३२४ सूत्र तक पैशाची भाषा की निम्नांकित विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

१—ज्ञ के स्थान पर ञ्ञ होता है, जैसे प्रज्ञा = पञ्ञा, संज्ञा = सञ्ञा, सर्वज्ञ = सव्वञ्ञो।

२—वर्गों के तृतीय, चतुर्थ वर्ण संयुक्त न हों और पदों के आदि में न हों तो उनके स्थान पर वर्गों के प्रथम और द्वितीय अक्षर होते हैं जैसे मेघः = मेखो, राजा = राचा, नगरम् = नकरं मार्गणः = मक्कनो; मदन = मतन।

३—न्य और ण्य के स्थान पर ञ्ञ आदेश होता है जैसे कन्यका = कञ्ञका अभिमन्यु = अभिमञ्ञू, पुण्यकर्म = पुञ्ञकम्मो पुण्याहं = पुञ्ञाहं।

४—णकार के स्थान पर पैशाची में नकार होता है, जैसे तरुणी = तरुनी, गुणगणयुक्त = गुनगनयुत्तो।

५—टकार के स्थान पर पैशाची में तकार होता है; जैसे कुटुम्बकं = कुतुम्बकं।

६—श और ष के स्थान पर सकार होता है जैसे शोभति = सोभति शोभनं = सोभनं, विषम = विसमो।

७—हृदय शब्द में यकार के स्थान पर पकार याद्दृश शब्द में द के स्थान पर ति तथा टु के स्थान पर तु आदेश होता है।

८—क्त्वा के स्थान पर तून तथा ष्ट्वा के स्थान पर द्धून और त्थून आदेश होते हैं, जैसे गत्वा = गन्तून पठित्वा = पठितून नष्ट्वा = नद्धून नत्थून आदि।

९—ष्ट के स्थान पर सट और स्नान के स्थान पर सनान आदेश होते हैं यथा—कष्ट = कसट स्नान = सनान।

चूलिका पैशाची की विशेषताएँ हेम ने निम्न प्रकार बतलाई हैं।

१—वर्गों के तृतीय और चतुर्थ अक्षर क्रमशः प्रथम और द्वितीय वर्णों में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे—नगरं=नकरं, मार्गणः=मक्कनो गिरितटं=किरितटं मेघः=मेखो, व्याघ्रः=वक्खो घर्मः=खम्मो राजा=राचा जर्जरम्=चच्चरं, जीमूतः=चीमूतो।

२—रकार के स्थान पर चूलिका पैशाची में लकार आदेश होता है; जैसे—गोरी=गोली चरणः=चलनो, हरः=हलो।

हेमने अपभ्रंश भाषा का अनुशासन ३२९ सूत्र से ४४८ सूत्र तक किया है। इसमें अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में पूरी जानकारी दी गयी है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं।

१—अपभ्रंश में एक स्वर के स्थान पर प्रायः दूसरा स्वर हो जाता है, जैसे कच्चित्=कच्चु और काच वेणी=वेण और वीणा, बाहु=बाह बाहा आदि।

२—अपभ्रंश में संज्ञा शब्दों के अन्तिम स्वर विभक्ति आने के पूर्व कभी ह्रस्व या कभी दीर्घ हो जाते हैं, जैसे—ढोल्ल=ढोल्ला सामल=सामला, स्वर्णरेखा=सुवण्णरेह।

३—अपभ्रंश में किसी शब्द का अन्तिम अ कर्ता और कर्म की एकवचन विभक्तियों के पूर्व उ में परिवर्तित हो जाता है जैसे—दहमुहु, भयंकरु, चउमुहु, भयकरु आदि।

४—अपभ्रंश में पुंल्लिङ्ग संज्ञाओं का अन्तिम अ कर्ता कारक एकवचन में प्रायः ओ में परिवर्तित हो जाता है।

५—अपभ्रंश में संज्ञाओं का अन्तिम अ करणकारक एकवचन में इ या ए; अधिकरण कारक एकवचन में इ या ए में परिवर्तित होता है। इन्हीं संज्ञाओं के करण कारक बहुवचन में विकल्प से अ के स्थान पर ए होता है। अकारान्त शब्दों में अपादान एकवचन में हे या हु विभक्ति, अपादान बहुवचन में हुँ विभक्ति, सम्बन्ध कारक एकवचन में सु, होस्सु विभक्तियाँ और सम्बन्ध बहुवचन में हं विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं।

६—अपभ्रंश में इकारान्त और उकारान्त शब्दों के परे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन 'आम्' प्रत्यय के स्थान पर हुं और हं, पञ्चमी एकवचन में हे; बहुवचन में हुं सप्तमी एकवचन में हि और तृतीया विभक्ति एकवचन में एं और ण विभक्ति चिह्नों का आदेश होता है।

७—अपभ्रंश भाषा में कर्ता और कर्म कारक की एकवचन और बहुवचन विभक्तियों का तथा सम्बन्ध कारक की विभक्तियों का प्रायः लोप होता है।

८—अपभ्रंश में सम्बोधन कारक के बहुवचन में हो अव्यय का प्रयोग होता है। अधिकरण कारक बहुवचन में हिं विभक्ति का प्रयोग होता है।

९—स्त्रीलिंगी शब्दों में कर्ता और कर्म बहुवचन में उ और ओ; करण कारक एकवचन में ए; अपादान और सम्बन्ध कारक के एकवचन में हे, हु और सप्तमी विभक्ति एकवचन में हि विभक्ति का प्रयोग होता है।

१०—नपुंसकलिंग में कर्ता और कर्म कारकों में इं विभक्ति लगती है।

इसके आगे हेम ने सर्वनाम और युष्मद्-अस्मद् शब्दों की विभक्तियों का निर्देश किया है। हेम ने ८।४।३८२ से ३९५ सूत्र तक अपभ्रंश धातुरूपों और धात्वादेशों का निरूपण किया है।

१—ति आदि में जो आद्य त्रय हैं उनमें बहुवचन में विकल्प से हिं आदेश, ति आदि में जो मध्य त्रय हैं उनमें से एकवचन के स्थान में हि आदेश, बहुवचन में हु आदेश तथा अन्त्य त्रय में एकवचन में उं और बहुवचन में हुं आदेश होता है।

२—अपभ्रंश में अनुज्ञा में संस्कृत के हि और स्व के स्थान पर इ, उ और ए ये तीन आदेश होते हैं। भविष्यत्काल में स्य के स्थान पर विकल्प सं हो होता है। क्रिये के स्थान पर अपभ्रंश में कीसु होता है।

३—भू के स्थान पर हुच्च, ब्रू के स्थान पर बुव, व्रज के स्थान पर वुञ और दृश के स्थान पर प्रस्स आदेश होता है।

इसके आगे वर्णविकार का प्रकरण है, अपभ्रंश में अनादि और असंयुक्त क ख त थ प फ के स्थान में क्रमशः ग घ द ध ब भ और म हो जाते हैं। अनादि और असंयुक्त मकार का विकल्प से अनुनासिक वकार होता है। संयुक्ताक्षरों में अधोवर्ती रेफ का विकल्प से लोप होता है। आस्द्, स्पद् और किम् का र प्रायः इ में परिणत हो जाता है। कथं यथा और तथा के स्थान में केम (कथ), किम (किवँ) किह किध जम (जेवँ), जिह, जिध तेम (तेवँ), तिह तिध आदि रूप होते हैं। यादृश तादृश कीदृश और ईदृश के स्थान पर जइसो तइसो, कइसो और अइसो हो जाते हैं। यत्र का जेत्थु और जत्तु, तत्र का तेत्थु और तत्तु हो जाते हैं। कुत्र और अत्र के स्थान पर केत्थु और एत्थु; यावत् के स्थान पर जाम (जावँ) जाउँ और जामहिं तथा तावत् के स्थान

पर ताम (ताएँ), ताउँ और तामहिं आदेश होते हैं। इस प्रकार हेम ने अपभ्रंश के तद्धित प्रत्ययों का विवेचन किया है।

इसके आगे पश्चात्, यदि, कौतुक, मूढ अद्भुत, रम्य, अकस्मात्, यदि, मामैषी आदि शब्दों के स्थान पर विभिन्न अपभ्रंश शब्दों का निर्देश किया है। कतिपय संस्कृत के तद्धित प्रत्ययों के स्थान पर अपभ्रंश प्रत्ययों का कथन भी वर्तमान है।

हेम ने इस प्रकरण में उदाहरणों के लिए अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को रखा है, इससे प्राचीन साहित्य की प्रकृति और विशेषताओं का सहज में पता लग जाता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि विभिन्न साहित्यिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण भाषा में किस प्रकार मोड़ उत्पन्न होते हैं।

अष्टम अध्याय

हेमचन्द्र और अन्य प्राकृत वैयाकरण

प्राकृत भाषा का व्याकरण प्राकृत में उपलब्ध नहीं है। इस भाषा का अनुशासन करनेवाले सभी व्याकरण संस्कृत भाषा में ही विद्यमान हैं। यद्यपि व्याकरण के कतिपय सिद्धान्त प्राकृत साहित्य में फुटकर रूप में उपलब्ध हैं, तो भी पाली के समान स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ प्राकृत में अभी तक नहीं मिले हैं। प्रो० श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया का Grammatical Topics in Paiya" शीर्षक निबन्ध[1] पठनीय है। इस निबन्ध में जैन आगम ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर उच्चारण विधि, वर्णविकार, वर्णागम, स्वरभक्ति, सम्प्रसारण, वर्णक्रम आदि सिद्धान्तों का निरूपण किया है। कोई भी व्यक्ति इन सिद्धान्तों को देखकर सहज में अनुमान लगा सकता है कि प्राकृत भाषा में भी शब्दानुशासन सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये होंगे। यशस्तिलक चम्पू और षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने यशस्तिलक की टीका में 'प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्ररचनाचञ्चुना" लिखा है इससे अनुमान होता है कि इनका कोई शब्दानुशासन सम्बन्धी ग्रन्थ प्राकृत भाषा में भी रहा होगा।

संस्कृत भाषा में लिखे गये प्राकृत भाषा के अनेक शब्दानुशासन उपलब्ध हैं। उपलब्ध व्याकरणों में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में संक्षिप्त रूप से दिये हुए प्राकृत व्याकरण का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। भरत ने नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय में विभिन्न भाषाओं का निरूपण करते हुए ६–२३ वें पद्य तक प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त बतलाये हैं और ३२ वें अध्याय में प्राकृत भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पर भरत के ये अनुशासन-सम्बन्धी सिद्धान्त इतने संक्षिप्त और अस्फुट हैं कि इनका उपयोग मात्र इतिहास के लिए ही उपयोगी है।

कुछ विद्वान् पाणिनि का प्राकृत लक्षण नाम का प्राकृत व्याकरण बतलाते हैं। डा० पिशल ने भी अपने प्राकृत व्याकरण में इस ओर संकेत किया है[2], पर यह

---

१ 'पाइय' साहित्य के व्याकरण-वैशिष्ट्य सार्वजनिक सं० ४१ (अक्टूबर १९४१) तथा वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत 'पाइय' साहित्य का सिंहावलोकन शीर्षक निबन्ध।

ग्रन्थ न तो आज तक उपलब्ध ही हुआ है और न इसके होने का कोई सम्प्रमाण ही मिला है। उपलब्ध समस्त शब्दानुशासनों में वररुचि का प्राकृत प्रकाश ही सबसे पुराना और उपयोगी व्याकरण है। प्राकृतमञ्जरी की भूमिका में वररुचि का गोत्र नाम कात्यायन कहा गया है। डा० पिशल का अनुमान है कि प्रसिद्ध वार्तिककार कात्यायन और वररुचि दोनों एक व्यक्ति हैं। यदि वे दोनों एक न भी हों, तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वररुचि पुराने वैयाकरण हैं।

प्राकृत व्याकरणों का यदि ऐतिहासिक ढंग से विचार किया जाय तो ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी का समय बड़े महत्त्व का मालूम होता है। इन शताब्दियों में बड़े बड़े आचार्यों ने अनेक प्रकार के विशिष्टपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। इसी समय में रचा गया आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण अपने ढंग का अनोखा है तथा यह संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का पूर्णतया ज्ञान कराने में सक्षम है। हेम के सूत्रों के अनुकरण पर कई प्राकृत व्याकरण लिखे गये हैं। प्राकृत शब्दानुशासन के तीन-चार ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जिनके सूत्र अधिकांश हेमचन्द्र के ही हैं, पर सूत्रों की व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंग और भिन्न-भिन्न क्रम से की गयी है, इसीलिए सूत्रों के एक रहने पर भी ये ग्रन्थ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न से हो गये हैं। सबसे पहली टीका त्रिविक्रम देव की बतायी जाती है इन्होंने १ ३४ सूत्रों पर पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति लिखी है। इनकी वृत्ति को षड्भाषा चन्द्रिका के लेखक लक्ष्मीधर ने गूढ़ कहा है—

> वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधाः।
> षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥

अर्थात्—जो विद्वान् त्रिविक्रम की गूढ़वृत्ति को समझना और समझाना चाहते हों वे उसकी व्याख्यारूप षड्भाषा चन्द्रिका को देखें।

त्रिविक्रम की व्याख्या सूत्र-क्रमानुसारी है, अतः इसे पाणिनीय अष्टाध्यायी की टीका काशिकावृत्ति के ढंग की कहा जा सकता है। इसके पश्चात् उक्त सूत्रों पर ही प्रकरणबद्ध टीकाएँ लक्ष्मीधर सिंहराज और अप्पयदीक्षित की उपलब्ध हैं। लक्ष्मीधर ने षड्भाषा चन्द्रिका की रचना त्रिविक्रम के अनन्तर और अप्पय दीक्षित के पूर्व लिखी है। अप्पय दीक्षित ने अपने प्राकृत मणिदीप में अन्य लेखों के साथ इनका भी नाम लिया है।

लक्ष्मीधर की टीका विषयानुसारिणी है। इसकी तुलना हम भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी से कर सकते हैं। प्राकृत भाषा का ज्ञान करने के लिए इस ग्रन्थ की उपयोगिता विद्वज्जगत् में प्रसिद्ध है।

उक्त सूत्रों के चौथे व्याख्याता सिंहराज हैं। इनके ग्रन्थ का नाम प्राकृत रूपावतार है, इन्होंने समस्त सूत्रों १ ८५ पर व्याख्या नहीं लिखी है, बल्कि इनमें से चुनकर ५७५ सूत्रों पर ही अपनी उक्त टीका लिखी है। इस ग्रन्थ को एक प्रकार से षड्भाषा चन्द्रिका का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है। इसकी तुलना वरदराज की मध्य कौमुदी या लघु कौमुदी से की जा सकती है। कुछ लोग षड्भाषा चन्द्रिका को ही प्राकृत रूपावतार का विस्तृत रूप मानते हैं।

ऊपर जिन चार टीका ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें सूत्र वे ही हैं, जो त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण में उपलब्ध हैं। कुछ विद्वान् इन सूत्रों के रचयिता वाल्मीकि को मानते हैं तथा प्रमाण में 'शम्भुरहस्य' के निम्न श्लोकों को उद्धृत करते हैं।

> यथैव प्राकृतादीनां षड्भाषाणां महामुनिः।
> व्यादिकाव्यकृदाचार्यो व्याकर्ता लोकविश्रुतः॥
> यथैव रामचरितं संस्कृतं तेन निर्मितम्।
> तथैव प्राकृतेनापि निर्मितं हि सतां मुदे॥

प्राकृत मणिदीप के सम्पादक ने सूत्रों का मूल रचयिता वाल्मीकि को ही माना है। लक्ष्मीधर के निम्न श्लोक से भी वाल्मीकि इन सूत्रों के रचयिता सिद्ध होते हैं।

> वाग्देवी जननी यस्य वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्।
> भाषायपोगा तयास्य षड्भाषाचन्द्रिकाऽभवत्॥

पर उक्त मान्यता का खण्डन अल्लादि स्वामी ने इण्डियन एंटीक्वेरी के ४ वें भाग (१ ११ ई) में "Trivikrama and his followers" नामक निबन्ध में किया है। के. पी. त्रिवेदी, हुल्त्श और डा. ए. एन. उपाध्ये उक्त सूत्रों का मूल रचयिता त्रिविक्रम को ही मानते हैं। निम्न श्लोक में स्वयं त्रिविक्रम ने अपने को सूत्रों का रचयिता प्रकट किया है।

> प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
> वृत्तिर्यथार्थसिद्ध्यै त्रिविक्रमेणागमक्रमात्क्रियते॥

डा. ए. एन. उपाध्ये ने सूत्रकार के विषय में विचार विनिमय के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि मूलसूत्रों के रचयिता वाल्मीकि नहीं, अपितु त्रिविक्रम देव ही हैं। हमें भी यही उचित प्रतीत होता है कि प्राकृत शब्दानुशासन के सूत्र और वृत्ति के रचयिता त्रिविक्रम देव ही हैं। उक्त आचार्यों की रचना शैली निम्न प्रकार है—

त्रिविक्रम (१२३६–१३०० ई), सिंहराज (१३ –१४ ई) लक्ष्मीधर (१५४१–१५६५) ई और अप्पय दीक्षित (१५५४–१६२६ ई)।

हेमचन्द्र के साथ तुलना करने के लिए इनके पूर्ववर्ती वररुचि के प्राकृत प्रकाश, और चण्ड के प्राकृत-लक्षण आदि ग्रन्थों को और उत्तरकालीन ग्रन्थों में त्रिविक्रमदेव के प्राकृत शब्दानुशासन और मार्कण्डेय के प्राकृत-सर्वस्व प्रभृति ग्रन्थों को लिया जायगा तथा समता और विषमता के आधार पर हेम की प्रमुख विशेषताओं को निबद्ध करने की चेष्टा की जायगी।

हेम और वररुचि—

वररुचि ने प्राकृत (महाराष्ट्री), पैशाची मागधी और शौरसेनी इन चार प्राकृत भाषाओं का नियमन किया है। इन्होंने पैशाची और मागधी को शौरसेनी की विकृति कहा है अतः उक्त दोनों ही भाषाओं के लिए शौरसेनी को ही प्रकृति माना है तथा शौरसेनी के लिए प्राकृत के समान संस्कृत को ही प्रकृति कहा है। प्राकृत से इनका अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत से है। यह महाराष्ट्री प्राकृत संस्कृत के नियमों के आधार पर सिद्ध होती है अर्थात् संस्कृत के शब्दों में विभक्तियों प्रत्यय आदि के स्थान पर नयी विभक्तियाँ नये प्रत्यय तथा वर्णागम, वर्णविपर्यय आदि के होने पर महाराष्ट्री प्राकृत सिद्ध होती है। यह भाषा नियमानुगामिनी और अत्यन्त व्यवस्थित है।

प्राकृत प्रकाश में द्वादश परिच्छेद हैं इनमें आदि के नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री प्राकृत का अनुशासन, दसवें में पैशाची का ग्यारहवें में मागधी का और बारहवें में शौरसेनी का अनुशासन किया गया है। हेमचन्द्र ने सिद्धहेम शब्दानुशासन के आठवें अध्याय में प्राकृत भाषाओं का अनुशासन किया है। इन्होंने महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी पैशाची चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के साथ आर्ष प्राकृत का भी अनुशासन किया है। आर्ष प्राकृत से हेम का अभिप्राय जैनागमों की अर्धमागधी भाषा से है, अतः इन्होंने जहाँ-तहाँ आर्ष प्राकृत का भी नियमन किया है।

अपभ्रंश और चूलिका पैशाची का अनुशासन तो हेम का वररुचि की अपेक्षा नया है। वररुचि ने अपभ्रंश की चर्चा बिलकुल छोड़ दी है। इसका कारण यह नहीं कि वररुचि के समय में अपभ्रंश भाषा थी नहीं, यतः पतञ्जलि ने गावी गोणी आदि उदाहरण देकर अपभ्रंश का अपने समय में अस्तित्व स्वीकार किया है। हेम ने अपभ्रंश भाषा का व्याकरण १२ सूत्रों में पर्याप्त विस्तार के साथ लिखा है। उदाहरणों के लिए जिन दोहों को उद्धृत किया गया है, वे साहित्य और भाषा विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश का व्याकरण लिख कर हेम ने उसे अमर बना दिया है। हम ही सबसे

पहले ऐसे वैयाकरण हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में इतना विस्तृत अनुशासन उपस्थित किया है। सूत्रों में पूरे पूरे दोहे दिये जाने से दुष्प्राप्य बड़े भारी साहित्य के नमूने सुरक्षित रह गये हैं। अपभ्रंश भाषा के अनुशासक की दृष्टि से हेम का महत्त्व वररुचि की अपेक्षा अत्यधिक है। अपभ्रंश व्याकरण के रचयिता होने से हेम का महत्त्व आधुनिक आर्य भाषाओं के लिए भी है। भाषा की समस्त नवीन प्रवृत्तियों का नियमन प्रकरण और विवेचन इनके अपभ्रंश व्याकरण में विद्यमान है। अतः अपभ्रंश से ही हिन्दी के परसर्गों, धातुसिद्ध अव्यय, तद्धित और कृत् प्रत्ययों का निर्गमन हुआ है। उपभाषा और विभाषाओं की अनेक प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश से निस्सृत हैं। अतः जहाँ वररुचि ने पुरातन प्राकृत भाषा का अनुशासन लिखा, वहाँ हेम ने पुरातन प्राकृत के साथ-साथ अपने समय में विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित उपभाषा और विभाषाओं का संविधान भी उपस्थित किया है। इसीलिए वररुचि की अपेक्षा हेम अधिक उपयोगी और ग्राह्य हैं। विषय-विस्तार और विषय गाम्भीर्य जितना हेम में उपलब्ध है, उतना वररुचि में नहीं।

शैली की अपेक्षा से दोनों ही वैयाकरण समान हैं। वररुचि ने प्रथम परिच्छेद में अच् विकार—स्वरविकार, द्वितीय परिच्छेद में असंयुक्त व्यञ्जन विकार तृतीय में संयुक्त व्यञ्जन विकार चतुर्थ में मिश्रित वर्ण विकार, पञ्चम में शब्दरूप, षष्ठ में सर्वनाम विधि सप्तम में तिङन्त विकार, अष्टम में धात्वादेश नवम में निपात, दशवें में पैशाची, ग्यारहवें में मागधी और बारहवें में शौरसेनी भाषा का अनुशासन किया है। हेम ने अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में लगभग १७५ सूत्रों में स्वर-परिवर्तन; १७७–२७१ सूत्र तक असंयुक्त व्यञ्जन परिवर्तन; द्वितीय पाद के आरम्भिक ? सूत्रों में संयुक्त व्यञ्जन परिवर्तन व्यञ्जनादेश, व्यञ्जनलोप द्वित्व प्रकरण; ११०–११५ तक स्वरभक्ति के सिद्धान्त ११६–१२४ सूत्र तक वर्णव्यत्यय के सिद्धान्त एवं इस पाद के अवशेष सूत्रों में समस्त शब्द के स्थान पर आदेश अव्यय आदि का निरूपण किया है। तृतीय पाद में शब्दरूप, धातुरूप, तद्धित प्रत्यय और कृत् प्रत्ययों का कथन है। चतुर्थ पाद में धात्वादेश शौरसेनी मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं का अनुशासन किया है। अतएव विषयक्रम और वर्णनशैली दोनों ही हेम की वररुचि के समान हैं। इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता है कि जिस प्रकार संस्कृत शब्दानुशासन में हेम पाणिनि, शाकटायन और जैनेन्द्र के ऋणी हैं उसी प्रकार प्राकृत शब्दानुशासन के लिए उन पर वररुचि का ऋण है। वररुचि से हेम ने शैली तो ग्रहण की ही है साथ ही कुछ सिद्धान्त ज्यों के त्यों और कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार किये हैं।

वररुचि का स्वरविकार सम्बन्धी पहला सूत्र है 'आ समृद्ध्यादिषु वा १।२। इसमें बताया है कि समृद्धि आदि शब्दों में विकल्प से दीर्घ होता है; अतः सामिद्धि, समिद्धी ये दो रूप बनते हैं। हेम ने स्वरविकार के कथन का आरम्भ सामान्य व्यवस्था से किया है। इन्होंने पहले सामान्य शब्दों में स्वरों के विकार का निरूपण कर पश्चात् विशेष-विशेष शब्दों में स्वरविकार के सिद्धान्त बतलाये हैं। जहाँ वररुचि ने आरम्भ ही विशेष-विशेष शब्दों में स्वरविकार से किया है, वहाँ हेम ने "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" ८।१।४ द्वारा सामान्यतया शब्दों में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व का देने की व्यवस्था बतलायी है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से आरम्भ में ही हेम वररुचि से बहुत आगे हैं। यतः सामान्य शब्दों में दीर्घ ह्रस्व की शासन व्यवस्था अवगत हो जाने पर ही समृद्धि आदि विशेष शब्दों में स्वरविकार का निरूपण करना उचित और तर्कसंगत है। आरम्भ में ही विशेष शब्दों की अनुशासन व्यवस्था बतलाने का अर्थ है, सामान्य व्यवस्था की उपेक्षा। अतः सामान्य शब्दों के अनुशासन के अभाव में विशेष शब्दों का अनुशासन करना वैज्ञानिकता में त्रुटि का परिचायक है।

हेम ने समृद्धि आदि शब्दों में दीर्घ होने की शासन-व्यवस्था ८।१।४४ सूत्र में बतलायी है। समृद्धिगण को वररुचि ने आकृतिगण कहा है, पर हेम ने इसको समृद्धिगण ही कहा है। हेम ने वररुचि की अपेक्षा अनेक नये उदाहरण दिये हैं।

प्राकृत प्रकाश में ईषत् आदि शब्दों में आदि अकार के स्थान पर इकारा देश करके सिविणो वेडिसो आदि रूप सिद्ध किये हैं, हेम ने यही कार्य ८।१।४६ द्वारा कुछ विशेष ढंग से सम्पादित किया है।

वररुचि ने श्रीशिट्ठी व्यञ्जनों में आत्व का विधान 'शियासमात्' ७।४ द्वारा और विद्युत् शब्द में आत्व का निषेध 'न विद्युति' ६।४ द्वारा किया है। हेम ने इन दोनों कार्यों को 'स्त्रियामादविद्युतः' ८।१।१५ इस एक ही सूत्र में सम्पन्न किया है। हेम की अनुशासनसम्बन्धी वैज्ञानिकता यहाँ वररुचि से आगे है। प्रायः सर्वत्र ही हेम ने लाघव प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। लोप-प्रकरण में वररुचि ने 'लोपोऽरण्ये' १।४ सूत्र द्वारा अरण्य शब्द के आदि अकार का नित्य लोप करके 'रण्णं' रूप बनाया है, पर हेम ने इसके स्थान पर 'वालाब्वरण्ये लुक्' ८।१।६६ सूत्र में अलाबु और अरण्य दोनों ही शब्दों में आदि अकार का विकल्प से लोप कर लाउं अलाउं रण्णं अरण्णं आदि रूपों का नियमन किया है। हेम का यह सूत्र वररुचि की अपेक्षा अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त से एक नवीन निष्कर्ष यह भी निकलता है

कि हेम के समय में रण्ण और अरण्ण ये दोनों प्रयोग होते थे, अतः हेम ने अपने समय की प्रचलित भाषा को आधार मान कर अकार लोप का वैकल्पिक अनुशासन किया है।

हेम ने कविवम्मो, उत्तरम्मो, सुमी पायासुओ, बहुद्धिओ, बहिद्धिओ आदि अनेक ऐसे शब्दों का अनुशासन प्रदर्शित किया है, जिनका वररुचि के प्राकृत-प्रकाश में बिल्कुल अभाव है। प्राकृत भाषा का सर्वाङ्गीण अनुशासन हेम ने लिखा है, अतः इन्होंने इसे सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण बनाने की चेष्टा की है।

प्राकृत प्रकाश की अपेक्षा हेम व्याकरण में निम्न विशेष कार्य दृष्टिगोचर होते हैं—

१—हेम ने स्त्रीलिंग के प्रत्ययों का निर्देश करते हुए बताया है कि सत्ता वाची शब्दों में विकल्प से ङी प्रत्यय होता है, अतः ८।३।३१, ८।३।३२, ८।३।३३ सूत्रों द्वारा ङी का वैकल्पिक रूप से विधान किया है, जैसे नीली नीला काली काला हसमाणी हसमाणा; सुप्पणही सुप्पणहा इमीए, इमाए; साहणी, साहणा कुरुचरी कुरुचरा आदि। वररुचि ने इसका निर्देशन नहीं किया है।

२—'धातवोऽर्थान्तरेऽपि' ८।४।२५९ सूत्र हेम का बिल्कुल नया है, वररुचि ने धातुओं के अर्थान्तरों का संकेत भी नहीं किया है। इस सूत्र में हेम ने धातुओं के बदले हुए अर्थों का निर्देश किया है। बलि धातु प्राणन अर्थ में पठित है पर यह खादन अर्थ में भी आता है; जैसे बलइ—खादति प्राणनं करोति वा। कलि संख्या के अर्थ में पठित है, पर पहिचानने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे कलइ—जानाति संख्यानं करोति वा। रिगि धातु गति अर्थ में पठित है, पर प्रवेश अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे रिगइ प्रविशति, गच्छति वा। कांक्ष के स्थान पर वम्फ आदेश होता है, इसका अर्थ इच्छा करना और खाना दोनों है। यद्यपि इसका मुख्य अर्थ इच्छा करना ही है, तो भी इसका प्रयोग खाने के अर्थ में होता है। फक्क धातु के स्थान पर थक्क आदेश होता है, इसका अर्थ नीचे गमन करना है, पर इसका प्रयोग विलम्ब करने के अर्थ में भी होता है। इस प्रकार हेम ने ऐसे अनेक धातुओं का निरूपण किया है, जो अपने पठित अर्थ के अतिरिक्त अर्थान्तर में प्रयुक्त होते हैं।

३—हेम ने 'लुप्त-यर-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः' ८।१।४३ द्वारा प्राकृत लक्षण वश लुप्त यकार रकार वकार शकार, षकार और सकार के पूर्व स्वर को दीर्घ होने का नियमन किया है जैसे पश्यति = पासइ कश्यपः = कासवो आवश्यक = आवासयं विश्राम्यति = वीसमइ विश्रामः = वीसामो मिश्रम् = मीसं उत्स्पर्शः = ऊसासो अश्वः = आसो, विश्वसिति = वीससइ, विश्वासः = वीसासो, दुश्शासनः =

पुरास्सो, शिष्य = सीसो, मनुष्य = मणूसो, कर्षक: = कासओ, वर्षा = वासा वर्ष = वासो, कस्यचित् = कासइ । प्राकृत प्रकाश में इस अनुशासन का अभाव है ।

४—हेम ने क ग च ज त द प य और व का लोप कर अवशिष्ट स्वर के स्थान पर 'अवर्णो यश्रुतिः' ८।१।१८० द्वारा यश्रुति का विधान किया है। यह यश्रुति महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख विशेषता है। वररुचि के प्राकृत-प्रकाश में यश्रुति का अभाव है इसी कारण कुछ लोग हेम की महाराष्ट्री को जैन महाराष्ट्री कहते हैं; पर हमारी समझ से यह बात नहीं है। यश्रुति सेतुबन्ध और गउडवहो जैसे महाराष्ट्री के काव्यों में विद्यमान है। हेम द्वारा प्रदत्त उदाहरणों में से कुछ को उद्धृत किया जाता है।

तीर्थंकर = तित्थयरो शकटं = सयढ नगरं = नयरं, मृगाङ्क = मयङ्को, कचग्रह = कयग्गहो, काचमणि = कायमणी, रजतं = रयय प्रजापति = पयावई, रसातलं = रसायलं, पातालं = पायालं मदन: = मयणो, गदा = गया, नयनं = नयणं, लावण्य = लायण्ण ।

५—वररुचि ने यमुना शब्द के मकार का २।३ द्वारा लोप कर जउणा रूप सिद्ध किया है, पर हेम ने 'यमुना-चामुण्डा-कामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च' ८।१।१७८ सूत्र द्वारा यमुना, चामुण्डा, कामुक और अतिमुक्तक शब्दों के मकार के स्थान पर अनुनासिक करने का विधान किया है, अत: यमुना = जउँणा, चामुण्डा = चाउँण्डा, कामुक: = काउँओ, अतिमुक्तक = अणिउँतयं । इस सिद्धान्त के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वररुचि की अपेक्षा हेम का उक्त अनुशासन मौलिक और वैज्ञानिक है तथा यह प्राकृत भाषा की परिवर्तनशीलता का सूचक है।

६—वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश में गद्गद् और सप्तसप्ती के दकार के स्थान पर रकारादेश करने के लिए 'गद्गदे र:' २।१३ और 'सप्ततौ र:' २।१४ ये दो सूत्र अंकित किये हैं, हेम ने उक्त दोनों कार्यों के लिए 'संख्यागद्गदे र:' इस एक ही सूत्र का निर्माण कर अपना लाघव दिखलाया है।

७—वररुचि ने २।१५ द्वारा दोला, दण्ड और दशन आदि शब्दों के आदिवर्ण के स्थान पर डकारादेश किया है, हेम ने इसी सूत्र को विस्तृत कर दशन दष्ट, दग्ध दोला दण्ड दर दाह दम्भ, दर्भ, कदन दोहद और दर शब्दों के दकार के स्थान पर डकारादेश किया है। हेम का यह स्पष्टीकरण शब्दानुशासन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

८—२।११ द्वारा वररुचि ने छाया पथ और प्रथम शब्द के दकार के स्थान में विकल्प से ढकार आदेश किया है; किन्तु हेम ने 'कमाया' को '८।२।१८

पन से पृथ्वीवाचक छमा शब्द के छकार के स्थान पर छकार तथा 'छमे उम्मे' ८।२।१९ द्वारा उत्सववाची क्षण के क्षकार के स्थान पर छकार आदेश किया है। उक्त अर्थों से इतर अर्थ होने पर उपर्युक्त दोनों ही शब्दों के स्थान पर ख आदेश किया है। अर्थ विशेष की दृष्टि से भाषा का इस प्रकार अनुशासन करना हेम की मौलिकता का परिचायक है।

१—जहाँ प्राकृत-प्रकाश में तीन-चार तद्धित प्रत्ययों का ही उल्लेख है, वहाँ हेम में सैकड़ों प्रत्ययों का नियमन आया है। विषय-विस्तार और सर्वांगीणता की दृष्टि से हेम वररुचि से बहुत आगे हैं। हमें ऐसा लगता है कि जिस प्रकार चक्रवृद्धि सूद की दर से ऋण लेने पर एक का दस गुना अदा करना पड़ता है, उसी प्रकार हेम ने वररुचि से कतिपय सिद्धान्त ग्रहण किये पर उनको दसगुने ही नहीं, शतगुने विकसित, संशोधित और परिमार्जित कर उपस्थित किया है।

अब यहाँ उन सूत्रों की तालिका दी जा रही है, जो हेम व्याकरण और प्राकृत प्रकाश में समान रूप से या थोड़े से परिवर्तन के साथ उपलब्ध हैं।

प्राकृत प्रकाश	हेम शब्दानुशासन
आ समृद्ध्यादिषु वा १।२	अतः समृद्ध्यादौ वा ८।१।४४
इदीषत्पक्व १।३	इः स्वप्नादौ ८।१।४६
लोपोऽरण्ये १।४	वालाब्वरण्ये लुक् ८।१।६६
ए शय्यादिषु १।५	एच्छय्यादौ ८।१।५७
ओ च द्विधा कृञः १।११	ओच्च द्विधाकृगः ८।१। ७
इत् सिंहजिह्वयोश्च १।१७	ईर्जिह्वासिंहत्रिंशद्विंशतौ त्या ८।१।९२
इदीतः पानीयादिषु १।१८	पानीयादिष्वित् ८।१।१ १
एन्नीडापीडे १।१९	एत्पीयूष...८।१।१ ५ तथा ८।१।१ ६
अन्मुकुलादिषु १।२२	उतो मुकुलादिष्वत् ८।१।१ ७
इत्पुरुषे रोः १।२३	पुरुषे रोः ८।१।१११
उदूत मधूके १।२४	मधूके वा ८।१।१२२
अद् दुकूले वा लस्य द्वित्वम् १।२५	दुकूले वा लश्च द्विः ८।१।११९
एन्नूपुरे १।२६	इदेतौ नूपुरे वा ८।१।१२३
ऋतोऽत् १।२७	ऋतोऽत् ८।१।१२६
उदृत्वादिषु १।२९	उदृत्वादौ ८।१।१३१
लृत इलिः क्लृप्तक्लृन्ने १।३३	लृत इलिः क्लृप्तक्लृन्ने ८।१।१४५
ऐत इद्वेदनादेवरयोः १।३४	एत इद्वा वेदना...८।१।१४६
ऐत एत् १।३५	ऐत एत् ८।१।१४८

दैवे वा १।३७	एच्च दैवे ८।१।१५३
उत्सौन्दर्यादिषु १।४४	उत्सौन्दर्यादौ ८।१।१६०
पौरादिष्वउ १।४२	अउः पौरादौ च ८।१।१६२
आ च गौरवे १।४३	आच्च गौरवे ८।१।१६३
कगचजतदपयवां प्रायो लोपः २।२	कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ८।१।१७७
स्फटिकनिकषचिकुरेषु कस्य हः २।४	निकष-स्फटिक-चिकुरे हः ८।१।१८६
शीकरे भः २।५	शीकरे भ-हौ वा ८।१।१८४
चन्द्रिकायां मः २।६	चन्द्रिकायां मः ८।१।१८५
गर्भिते णः २।१०	गर्भितातिमुक्तके णः ८।१।२०८
प्रदीप्तकदम्बदोहदेषु दो लः २।१२	प्रदीपि-दोहदे लः कदम्बे ८।१।२२१-२२२
गद्गदे रः २।१३	संख्यागद्गदे रः ८।१।२१९
पो वः २।१५	पो वः ८।१।२३१
छायायां हः २।१८	छायायां होकान्तौ वा ८।१।२४९
कबन्धे बो मः २।१९	कबन्धे मयौ ८।१।२३९
टो डः २।२०	टो डः ८।१।१९५
सटाशकटकैटभेषु ढः २।२१	सटाशकटकैटभे ढः ८।१।१९६
स्फटिके लः २।२२	स्फटिके लः ८।१।१९७
डस्य च २।२३	डो लः ८।१।२०२
ठो ढः २।२४	ठो ढः ८।१।१९९
अङ्कोठे ल्लः २।२५	अङ्कोठे ल्लः ८।१।२००
फो भः २।२६	फो भ-हौ ८।१।२३६
[illegible] हः २।२७	[illegible] ८।१।१८०
कैटभे वः २।२९	कैटभे भो वः ८।१।२४०
हरिद्रादीनां रो लः २।३०	हरिद्रादौ लः ८।१।२५४
आदेर्यो जः २।३१	आदेर्यो जः ८।१।२४५
यष्ट्यां लः २।३२	यष्ट्यां लः ८।१।२४७
बिसिन्यां भः २।३८	बिसिन्यां भः ८।१।२३८
मन्मथे वः २।३९	मन्मथे वः ८।१।२४२
नो णः सर्वत्र २।४२	नो णः ८।१।२२८
शषोः सः २।४३	शषोः सः ८।१।२६०
दशादिषु हः २।४४	दशपाषाणे हः ८।१।२६२
दिवसे सस्य २।४६	दिवसे सः ८।१।२६३
स्नुषायां ण्हः २।४७	स्नुषायां ण्हो न वा ८।१।२६१

अत्यन्त संक्षिप्त है, हेम ने इनका अधिक विस्तार किया है। तद्धित और कृत् प्रत्यय धात्वादेश आदि का प्राकृत लक्षण में बिल्कुल अभाव है, पर हेम व्याकरण में इनका खूब विस्तार विद्यमान है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि प्राकृत लक्षण केवल आर्ष भाषा का अनुशासन करता है और उसका यह अनुशासन भी अपूर्ण है, पर हेम व्याकरण सभी प्रकार के प्राकृतों का पूर्ण और सर्वांगीण अनुशासन करता है। हाँ, यह सत्य है कि हेम प्राकृत लक्षण से प्रभावित हैं। चण्ड ने एक ही सूत्र में अपभ्रंश का लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि अधःस्थित रेफ का लोप नहीं होता है। अपभ्रंश भाषा की अन्य विशेषताओं का जिक्र इन्होंने नहीं किया।

हेम और त्रिविक्रम—

जिस प्रकार हेम ने सर्वांगपूर्ण प्राकृत शब्दानुशासन लिखा है, उसी प्रकार त्रिविक्रम देव ने भी। स्वोपज्ञ वृत्ति और सूत्र दोनों के ही उपलब्ध हैं। हेम ने अष्टम अध्याय के चार पादों में ही समस्त प्राकृत शब्दानुशासन के नियम लिखे हैं, त्रिविक्रम ने तीन अध्याय और प्रत्येक अध्याय के चार-चार पाद; इस प्रकार कुल १२ पादों में अपना शब्दानुशासन लिखा है। हेम के सूत्रों की संख्या १११९ और त्रिविक्रम के सूत्रों की संख्या १ ११ है। दोनों शब्दानुशासनों का वर्ण्य विषय प्रायः समान है। त्रिविक्रम ने हेम के सूत्रों में ही कुछ फेर-फार कर के अपना शब्दानुशासन लिखा है। त्रिविक्रम और हेम की तुलना करते हुए डॉ पी. एल. वैद्य ने त्रिविक्रमदेव के प्राकृत शब्दानुशासन की भूमिका में लिखा है— "The Subject matter Covered by both is almost the same. Trivikrama has newly added the following Sūtras 1.1.16- 1.1.38; 1.1.45- 1.2.109 (घुमाद्याया) 1.3.14; 1.3.77; 1.3.100; 1.3.105 (गोणाद्या); 1.4.83- 1.4.85; 1.4.107; 1.4.120 1.4.121 (गहिराद्या); 2.1.30 (भरत्याद्या); 2.2.9; 3.1.129- 3.4.65-67 and 3.4.72 (डाल्गा); in all 32 of these, 17 Sūtras relate to new technical terms used by Trivikrama, four sūtras relate to the groups of Desi words for which Hemachandra has only one sūtra in his gramamar and an entire work, the देशीनाममाला and the remaining sutras add a few new words not treated by Hemachandra. Thus the subject matter of

1119 sūtras of Hemachadra has been compressed by Trivikrama in about 1000 sūtras.*

त्रिविक्रम ने क्रम-विपर्यय और सूत्रच्छेद द्वारा पूरी तरह से हेमचन्द्र का अनुकरण किया है। कुछ संज्ञाएँ इ, दि व और ग आदि त्रिविक्रम ने नये रूप में लिखी हैं किन्तु इन संज्ञाओं से विषय-निरूपण में सरलता की अपेक्षा कठिनता ही आ गई है। त्रिविक्रम ने अपने व्याकरण में हेम की अपेक्षा देशी शब्दों का संकलन अधिक किया है। हेम विशुद्ध वैयाकरण हैं, अतः इन्होंने वैज्ञानिकता में त्रुटि आ जाने के भय से देशी शब्दों का उल्लेख भर ही किया है। देशज शब्दों का पूरी तरह संकलन देशी नाममाला कोष में है।

त्रिविक्रम ने देशी शब्दों का वर्गीकरण कर हेम की अपेक्षा एक नयी दिशा को सूचित किया है। यद्यपि अपभ्रंश के उदाहरण हेमचन्द्र के ही हैं, तो भी उनकी संस्कृत छाया देकर अपभ्रंश पद्यों को समझाने में पूरा सौकर्य प्रदर्शित किया गया है।

त्रिविक्रम ने अनेकार्थ शब्द भी दिये हैं। इन शब्दों के अवलोकन से तत्का लीन भाषा की प्रवृत्तियों का परिज्ञान तो होता ही है, पर इनसे अनेक सांस्कृतिक बातें भी सहज में जानी जा सकती हैं। यह प्रकरण हेम की अपेक्षा विशिष्ट है यहाँ इनका यह कार्य शब्दशासक का न होकर अर्थ शासक का हो गया है। कुछ शब्द निम्न प्रकार हैं—

ऊसरी = उपधान, रस्सी	ओहम = नीवी और अवगुण्ठन
केंडु = फेंकना फेन स्थान और दुर्बल	कमार = गुफा और संचय
तोड़, तोडु = निधान और धनम	उप्पल = अमरी
दिसा = आर्दक और माघ	कायिकी = व्याकरण और माल
दुरी = शव और स्तनक	काण्ड = छिद्र और ग्रीवा
अमार = नदी के बीच का टीला कछुआ	माड = लतागहन और वृक्ष
करोड = कौआ नारियल और बैल	गोपी = सम्पत्ति और बाला

हेम ने अपने व्याकरण में धात्वादेश या वर्णादेश में संस्कृत धातुओं के वर्णों का या अकारादि वर्णों का क्रम रखा है, जैसे—कथ्, गम्, जुगुप्स् आदि, पर त्रिविक्रम ने विभिन्न अध्यायों के दो पादों में धात्वादेश दिया है, किन्तु उनके चयन का कोई भी वैज्ञानिक क्रम नहीं है।

त्रिविक्रम ने हेमचन्द्र के सूत्रों की संख्या को घटाने का पूरा प्रयास किया है।

---

* See Introduction of Trivikrama's prakrit grammar P xxvii.

इन्होंने ११११ सूत्रों के विषय को १०० सूत्रों में ही लिखने की सफल चेष्टा की है। यह सही है कि हेम की अपेक्षा त्रिविक्रम में लाघव प्रवृत्ति अधिक है। हेम के प्रायः सभी सूत्र त्रिविक्रम ने सूत्रच्छेद या क्रमभंग द्वारा ग्रहण कर लिये हैं। कुछ गणपाठ त्रिविक्रम के हेम की अपेक्षा नये हैं तथा कतिपय गणों की नामावली भी हेम से भिन्न है।

लक्ष्मीधर सिंहराज और हेमचन्द्र

लक्ष्मीधर और सिंहराज त्रिविक्रमदेव के सूत्रों के व्याख्याता ही हैं। लक्ष्मीधर ने बताया है—

> वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधा।
> षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद्व्याख्या रूपा विलोक्यताम् ॥

लक्ष्मीधर ने सिद्धान्तकौमुदी का क्रम रख कर उदाहरण सेतुबन्ध, गउडवहो, गाहासत्तसई, कर्पूरमञ्जरी आदि ग्रन्थों से लिये गये हैं और छहों प्रकार की प्राकृत भाषाओं का अनुशासन प्रकरणानुसार लिखा गया है। षड्भाषा चन्द्रिका के देखने से यही कहा जा सकता है कि हेम कुशल वैयाकरण हैं तो लक्ष्मीधर साहित्यकार। अतः दोनों की दो शैलियाँ होने से रचनाक्रम और प्रतिपादन में मौलिक अन्तर है। कतिपय उदाहरण तो दोनों के एक ही हैं; पर कुछ उदाहरण लक्ष्मीधर के हेम से बिल्कुल भिन्न हैं। इतने पर भी लक्ष्मीधर पर हेम का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है।

सिंहराज भी कुशल वैयाकरण हैं। लघुसिद्धान्त कौमुदी के ढंग का इनका 'प्राकृत रूपावतार' नाम का ग्रन्थ है। इसमें संक्षेप से सन्धि शब्दरूप धातुरूप, समास, तद्धित आदि का विचार किया है। हेम यदि पाणिनि हैं तो सिंहराज वरदाचार्य। शब्दानुशासन के सिद्धान्तों की दृष्टि से हेम व्याकरण विस्तृत और पूर्ण है। हाँ व्यवहार की दृष्टि से भाषाबोध कराने के लिए प्राकृत रूपावतार अत्यन्त उपयोगी है।

मार्कण्डेय और हेमचन्द्र

मार्कण्डेय का प्राकृतसर्वस्व एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसका रचनाकाल १७वीं शती माना गया है। मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा के भाषा विभाषा अपभ्रंश और पैशाची ये चार भेद किये हैं। भाषा के महाराष्ट्री शौरसेनी, प्राच्या अवन्ती और मागधी; विभाषा के शाकारी, चाण्डाली, शाबरी आभीरिकी और शाक्की अपभ्रंश के नागर व्राचड और उपनागर एवं पैशाची के कैकयी शौरसेनी और पाञ्चाली ये भेद बतलाये हैं और इन सभी प्रकार की भाषा और उपभाषाओं का अनुशासन उपस्थित किया गया है। उदाहरणों में

हरविजय, सप्तशती, सेतुबन्ध, गौडवहो, शाकुन्तल, रत्नावली, मालतीमाधव, मृच्छकटिक, वेणीसंहार, कर्पूरमञ्जरी एवं विलासवती सट्टक आदि साहित्यिक ग्रन्थों तथा भरत, कोहल, भट्टि, भोजदेव और पिंगल आदि लेखकों की रचनाओं से दिये गये हैं।

हेमचन्द्र ने जहाँ पश्चिमीय प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों का अनुशासन उपस्थित किया है, वहाँ मार्कण्डेय ने पूर्वीय प्राकृत की प्रवृत्तियों का नियमन प्रदर्शित किया है। यह सत्य है कि हेम का प्रभाव मार्कण्डेय पर पर्याप्त है। अधिकांश सूत्रों पर हेम की छाया दिखलाई पड़ती है परन्तु उदाहरण साहित्यिक कृतियों से उद्धृत होने के कारण हेम की अपेक्षा नये हैं।

हेम ने यष्टि से लट्ठी शब्द बनाया है, पर मार्कण्डेय ने यष्टि से वट्ठी शब्द का साधुत्व दिखलाया है। मार्कण्डेय में पूर्वी प्रवृत्तियाँ हेम की अपेक्षा अधिक वर्तमान हैं।

हेमचन्द्र का प्रभाव उत्तरकालीन सभी प्राकृत वैयाकरणों पर गहरा पड़ा है। शतावधानी मुनिश्री रत्नचन्द्र का 'जैनसिद्धान्त कौमुदी' नामक अर्द्धमागधी व्याकरण एवं बेचरदास दोशी के प्राकृत व्याकरण और प्राकृतमार्गोपदेशिका, पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० श्री जगन्नाथराय शर्मा का अपभ्रंश दर्पण, डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल का प्राकृत विमर्श एवं प्रो० श्री देवेन्द्रकुमार का अपभ्रंश प्रकाश आदि रचनाएँ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के आधार पर ही लिखी गयी हैं।

नवम अध्याय

हैम व्याकरण और आधुनिक भाषाविज्ञान

भाषाविज्ञान के द्वारा ही भाषाओं का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है। प्रधानतः इसके अन्तर्गत ध्वनि शब्द वाक्य और अर्थ इन चारों का विचार और गौणरूप से भाषा का आरम्भ भाषाओं का वर्गीकरण भाषा की उत्पत्ति, शब्द समूह, भाषाविज्ञान का इतिहास, प्रागैतिहासिक शोध, लिपि प्रभृति विषयों का विचार किया जाता है।

भाषा का मुख्य कार्य विचार-विनिमय या विचारों भावों, और इच्छाओं का प्रकट करना है। यह कार्य वाक्यों द्वारा ही किया जाता है, अतः वाक्य ही भाषा का सबसे स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इन्हीं वाक्यों के आधार पर हम भाषा का रचनात्मक अध्ययन करते हैं।

वाक्य का निर्माण शब्दों से होता है, अतः शब्दों के रूप पर विचार करना (morphology) तत्त्व कहलाता है। इसके प्रधान दो तत्त्व हैं—प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति या धातु शब्द का वह प्रधान रूप है, जो स्वयं स्वतन्त्र रहकर अपने साथ वाले प्रत्ययों को अपने सेवार्थ या सहायतार्थ अपने आगे पीछे या मध्य में जहाँ भी आवश्यकता होती है, उपयोग कर लेता है। प्रत्यय शब्दों का वह रूप है, जो धातु के सहायतार्थ धातु के आगे, पीछे या मध्य में प्रयुक्त होता है।

जिस प्रकार वाक्य शब्दों के संयोग से बनते हैं, उसी प्रकार शब्द ध्वनियों के संयोग से। तात्पर्य यह है कि भाषा की सबसे पहली इकाई ध्वनि है, जिसके आधार पर भाषा का सम्पूर्ण प्रासाद खड़ा हुआ है। ध्वनियों पर विचार करने के लिए ध्वनियन्त्र, ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया ध्वनिवर्गीकरण, ध्वनियों की अवस्थिता प्रभृति बातों पर विचार किया जाता है। यही विचार ध्वनिविज्ञान (Phonetics) कहलाता है।

अर्थ भाषा का आन्तरिक अवयव है, जबकि वाक्य शब्द और ध्वनिबाह्य अवयव। यों कहा जा सकता है कि वाक्य शब्द और ध्वनि भाषा का शरीर हैं तो अर्थ उसकी आत्मा।

हैम व्याकरण में हमें ध्वनिपरिवर्तन की समस्त दिशाएँ उपलब्ध होती हैं। आचार्य हेम ने ध्वनिविकारों का विवेचन बड़ी स्पष्टता के साथ किया है। इस विवेचन के आधार पर उन्हें आधुनिक भाषाविज्ञानी के पद पर अभिषिक्त

किया जा सकता है। यों तो हैम में शब्दविज्ञान, प्रकृति-प्रत्यय विज्ञान, वाक्यविज्ञान आदि सभी भाषा वैज्ञानिक तत्त्व उपलब्ध हैं किन्तु हम यहाँ हैम व्याकरण की ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी विधाओं का निर्देश करेंगे और उनके भाषाविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण भी।

ध्वनिपरिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—स्वयम्भू (Unconditional phonetic changes) और परोद्भूत (Conditional phonetic Changes)। भाषा के प्रवाह में स्वयम्भू परिवर्तन किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति की अपेक्षा किये बिना कहीं भी घटित हो जाते हैं। अकारण अनुनासिकता नाम का ध्वनि परिवर्तन इसी में आता है। यद्यपि अकारण उच्चार में कोई कार्य नहीं होता, पर अज्ञात कारण होने से इसे अकारण कहा जाता है। हेम ने अमुना चामुण्डा आदि शब्दों में अकारण अनुनासिकता का निरूपण किया है। वररुचि ने मात्र मकारलोप की चर्चा की है, किन्तु हेम ने भाषा के प्रवाह में अनुनासिकता के आ जाने से कतिपय शब्दों में स्वयम्भू परिवर्तन की ओर संकेत किया है।

परोद्भूत ध्वनि परिवर्तन पर हेम ने पर्याप्त लिखा है। इस परिवर्तन में सर्वप्रथम लोप (Elision) आता है। कभी-कभी बोलने में शीघ्रता या स्वराघात के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। लोप दो प्रकार का संभव है—स्वरलोप और व्यञ्जन लोप। पुनः इन दोनों के तीन-तीन भेद हैं—आदिलोप, मध्यलोप और अन्त्यलोप।

आदि स्वर-लोप (Aphesis)—

हेम ने वाऽलाब्वरण्ये लुक् ८।१।६६ द्वारा अलाबु और अरण्य शब्द के आदि स्वर अकार का लोपकर आदि स्वरलोप सिद्धान्त का निरूपण किया है। जैसे अलाबु = लाऊ, अलाबु = लाबू, अरण्य = रण्णं आदि।

मध्यस्वर लोप—(Syncope)

मध्यस्वर लोप का सिद्धान्त हेम ने 'लुक्' ८।१।१० में बहुत स्पष्टता से निरूपित किया है और बताया है कि स्वर के परे स्वर का लोप होता है। 'दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' ८।१।४ में भी मध्यस्वर लोप का सिद्धान्त निहित है। यथा—

राजकुलं = रायउलं = राउलं	पवनोद्धतम् = पवणोद्धअं = पवणुद्धअं
घनार्द्र = घण अद्द = घणद्द	सौकुमार्यं = सोअमल्लं = सोमल्लं
ममार्द्र = मअ अद्द = मअद्द	अन्धकारः = अंध आरो = अंधारो
पादपतन = पाअवडण = पावडणं	स्कन्धावारः = खंध आरो = खंधारो
कुम्भकारः = कुंभ आरो = कुंभारो	पादपीठ = पाअवीढ = पावीढं

स्वप्न = सिविणो
स्निग्ध = सणिद्धं, सिणिद्धं
कृष्ण = कसणो, कसिणो
अर्हत् = अरहो, अरुहो, अरिहो
पद्म = पउम, पोम्म
मूर्ख = मुरुक्खो, मुक्खो
द्वारं = दुवारं, देरं
तन्वी = तणुवी
लघ्वी = लहुवी
गुर्वी = गरुवी
बह्वी = बहुवी
पृथ्वी = पुहुवी
मृद्वी = मउवी
श्वः कृतम् = सुवे कयं
स्वजना = सुवे जणा
ज्या = जीआ

आदि व्यञ्जनागम—

प्राकृत में आदि व्यञ्जनागम के भी पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं। प्रयत्न लाघव या मुख सुख को ध्यान में रखते हुए मनुष्य की उच्चारण प्रवृत्ति कार्य करती है, अतः नये व्यञ्जनों को आदि में लाने से प्रयत्न लाघव या मुख सुख में विशेष सुविधा नहीं मिलती। रचना होने पर भी प्राकृत में आदि व्यञ्जन आगम की प्रवृत्ति संस्कृत या हिन्दी की अपेक्षा अधिक है। आचार्य हेम ने ८।१।१४ और ८।१।१४१ सूत्रों द्वारा असंयुक्त ऋ के स्थान पर रि आदेश होने का नियमन किया है।

ऋद्धि = रिद्धी
ऋक्षः = रिच्छो
ऋण = रिणं
ऋजु = रिज्जू
ऋषभः = रिसहो
ऋतुः = रिऊ
ऋषिः = रिसि

मध्य व्यञ्जनागम—

मध्य व्यंजन आगम के उदाहरण प्रायः सभी भाषाओं में पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं क्योंकि शब्द के मध्य भाग को बोलने में ही अधिक कठिनाई आया करती है; जिसे आगम और लोप द्वारा ही बड़ी सरलता से समाप्त किया जा सकता है। हेम ने ८।२।१६७ ८।२।१६८-१७४ सूत्रों में मध्य व्यञ्जनागम का सिद्धान्त निरूपित किया है। यथा—

भ्रू = भुमया, भमया
मिथः = मीसालिअं
दीर्घं = दीहरं
पत्र = पत्तलं
पीतं = पीवलं
अन्ध = अन्धलं
मृदुकत्वेन = मउअत्तयाइ

अन्त्य व्यञ्जनागम —

अन्त्य व्यञ्जनागम के सिद्धान्त भी हेम ने ८।२।१६३ १६६ सूत्रों तक स्वार्थ, डल्ल और स्वार्थिक हल्ल प्रत्ययों का अनुशासन करके प्रतिपादित किये हैं। यथा—

पुरः = पुरिल्ल	एकः = एक्कल्लो
उपरि = उवरिल्लं	मधु = मुहुल्ल
नवः = नवल्लो	अन्धः = अन्धल्लो

विपर्यय (Metathesis)

हेम ने विपर्यय या स्थिति परिवृत्ति के सिद्धान्त और उदाहरण भी अपने व्याकरण में लिखे हैं। विपर्यय को कुछ लोग 'परस्पर विनिमय' भी कहते हैं। किसी शब्द के स्वर व्यञ्जन अथवा अक्षर जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और उस दूसरे स्थान के प्रथम स्थान पर आ जाते हैं, तो इनके परस्पर परिवर्तन को विपर्यय कहा जाता है। हेम ने ८।२।११६-१२४ तक वर्ण विपर्यय का कथन किया है। इन्होंने आलान शब्द के ल-न में; अचलपुर शब्द के च-ल में; महाराष्ट्र शब्द के ह-र में, ह्रद शब्द के ह-द में हरिताल शब्द के र-ल में; लघुक शब्द के ल-ह में; ललाट शब्द के ल-ड में एवं गुह्य शब्द के ह-य में विपर्यय होने का नियमन किया है। जैसे—

आलान = आणालो	हरिताल = हलिआरो
अचलपुर = अलचपुरं	लघुक = हलुअं
महाराष्ट्र = मरहट्ठ	ललाट = णडाल
ह्रद = द्रह	गुह्यम् = गुय्हं, गुज्झं

समीकरण (Assimilation)

हैम व्याकरण में समीकरण के सिद्धान्त प्रथम और द्वितीय पाद के प्रायः सभी सूत्रों में विद्यमान हैं। इस सिद्धान्त में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप दे देती है; जैसे संस्कृत भक्त से प्राकृत में भत्त हो जाता है। समीकरण प्रधानतः दो प्रकार का होता है—(१) पुरोगामी (२) पश्चगामी।

समीकरण को सावर्ण्य सारूप्य और अनुरूप भी कहा जाता है। हेम ने ८।२।६१, ८।२।६२, ८।२।७७ ८।२।७८ ८।२।७९-८१, ८।२।८९, ८।२।९८ एवं ८।२।९९ में क्रम में उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है।

पुरोगामी (Progressive Assimilation)

जहाँ पहली ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित करती है, वहाँ पुरोगामी समीकरण होता है। यथा—

जन्म = जम्म
तिग्म = तिम्मं, तिग्गं
युग्मम् = जुग्गं
खड्ग = खग्गो
मद्गुः = मग्गू
लग्न = लग्गो
उल्का = उक्का
वल्कलम् = वक्कलं
शब्द = सद्दो
अर्क = अक्को
वर्ग = वग्गो
प्रस्थ = पत्थो
चक्रम् = चक्कं
रात्रि = रत्ती
उद्विग्न = उव्विग्गो
सर्वम् = सव्वं
काव्यम् = कव्वं
माल्यम् = मल्लं
शुल्कम् = सुक्कं
रक्तो = रत्तो
मर्द = मद्द
समुद्र = समुद्दो
धात्री = धत्ती
तीर्थं = तित्थं
कष्ट = कट्ठं
दीर्घ = दिग्घं
कर्णिकारः = कण्णिआरो

पश्चगामी समीकरण

जब दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है, तब पश्चगामी समीकरण कहलाता है। यथा—

कर्म = कम्मो
धर्म = धम्मो
सर्प = सप्पो
भक्त = भत्तो
मुक्त = मुत्तो
दुग्ध = दुद्धो
दुर्गा = दुग्गा
वर्ण = वण्णो

पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण (Mutual Assimilation)

जब दो पार्श्ववर्ती व्यञ्जन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस पारस्परिक प्रभाव के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा ही व्यञ्जन आ जाता है। इस प्रवृत्ति को पारस्परिक व्यञ्जन समीकरण कहते हैं। हैम व्याकरण में इस सिद्धान्त का निरूपण बहुत विस्तारपूर्वक हुआ है। यथा—

सत्य = सच्चो
कृत्य = किच्चो
कर्तरिका = कत्तरी
मन्मथ = वम्महो

विषमीकरण (Dissimilation)

समीकरण का उल्टा विषमीकरण है। इसमें दो समान ध्वनियों में से एक के प्रभाव से या यों ही मुख-सुख के लिए एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़कर

हो जाती है। इसके भी दो भेद हैं—पुरोगामी विषमीकरण और पश्चगामी विषमीकरण।

पुरोगामी विषमीकरण (Progressive Dissimilation)

जब प्रथम व्यञ्जन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी विषमीकरण कहते हैं। हेम ने ८।१।१७७ ८।१।१८०, ८।१।१८२ आदि सूत्रों में इस सिद्धान्त का विवेचन किया है। यथा—

मरकत = मरगयं	आकार = आगारो
मकर = मगरो	अमुक = अमुगो
काक = कागो	असुक = असुगो
श्रावक = सावगो	तीर्थकर = तित्थगरो

पश्चगामी विषमीकरण (Regressive Dissimilation)

पश्चगामी विषमीकरण में प्रथम व्यञ्जन या स्वर में विकार होता है। हेम व्याकरण के ८।१।९६ ८।१।५७, ८।१।९०, ८।१।१०७ ८।१।१२३, ८।१।१२४ आदि सूत्रों में उक्त सिद्धान्त प्रदर्शित है।

युधिष्ठिर = जहुट्ठिलो जहिट्ठिलो	नूपुरं = नेउरं
कन्दुक = गेन्दुअो	मुकुलं = मउलं
दरिद्र = दलिद्दो	मुकुर = मउर
मन्मथ = वम्महो	मुकुटं = मउडं

सन्धि—

सन्धि का विवेचन हेम ने विस्तारपूर्वक संस्कृत और प्राकृत दोनों ही अनुशासनों में किया है। ये नियम स्वर और व्यञ्जन दोनों के सम्बन्ध में बने हैं। भाषा के स्वाभाविक विकास में सन्धियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राकृत में क ग च ज त द प य व आदि कुछ व्यञ्जन अपवाद में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं और अपने स्थानिक व्यञ्जन के रूप में मिल जाते हैं। सन्धि के कारण ध्वनियों में नाना प्रकार का परिवर्तन होता है।

अनुनासिकता (Nasalization)

ध्वनि परिवर्तन में अनुनासिकता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख सुविधा के लिए कुछ लोग निरनुनासिक ध्वनियों को अनुनासिक बना देते हैं। इस अनुनासिकता का कारण कुछ विद्वान् भाषाओं का प्रभाव मानते हैं। पर हमारा मत है कि मुख सुविधा के कारण ही भाषा में अनुनासिकता आ जाती

है। अपभ्रंश भाषा की विभक्तियाँ मुख सुविधा के कारण ही अनुनासिक हैं। इस भाषा में उच्चार बहुलता के कारण अनुनासिकता अत्यधिक है। ८।१।१७८ सूत्र में हेम ने यमुना चामुण्डा, कामुक और अतिमुक्तक शब्दों में मकार का लोपकर अनुनासिकता का विधान किया है। यथा—

यमुना = जँउणा
कामुकः = काउँओ
चामुण्डा = चाउँण्डा
अतिमुक्तकं = अणिउँतयं

मात्रा भेद :—

मात्रा भेद भी ध्वनि परिवर्तन की एक प्रमुख दिशा है इसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। स्वराघात का इन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। हेम ने 'दीर्घ ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' ८।१।४ सूत्र द्वारा उक्त सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन किया है। यथा—

अन्तर्वेदि = अन्तावेई
नदीस्रोतः = नईसोत्तं, नइसोत्तं
सप्तविंशति = सत्तावीसा
वधूमुखं = वहूमुहं, वहुमुहं
वारिमतिः = वारीमई, वारिमई
पीतापीतं = पीआ-पीअं, पीअ-पिअं
भुजयन्त्रम् = भुआ यन्तं, भुअ-यन्तं
सरोरुहं = सरोरुहं, सररुहं
पतिगृहम् = पईहरं, पइ-हरं
ग्रामणीसुत = गामणीसुओ, गामणिसुओ

घोषीकरण (Vocalization)

ध्वनि परिवर्तन में घोषीकरण सिद्धान्त का भी महत्त्व है। इस सिद्धान्तानुसार अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं; क्योंकि ऐसा करने से उच्चारण में सुविधा होती है; हेम ने इस सिद्धान्त को ८।१।१७७ में निर्दिष्ट किया है। यथा—

एकः = एगो
एकादश = इगारह
अमुकः = अमुगो
शुकः = सुगो
असुकः = आसुगो
प्रकाश = पगास
आकारः = आगारो
मकरः = मगरो
आकर्ष = आगरिसो

अघोषीकरण (Devocalization)

ध्वनि परिवर्तन के सिद्धान्तों में अघोषीकरण का सिद्धान्त भी आता है। हेम ने इस सिद्धान्त पर विशेष विचार नहीं किया है, इसका प्रधान कारण यह है कि प्राकृत भाषा में उक्त प्रकार की ध्वनियों का प्रायः अभाव है।

है। प्रथम में स्वर पूर्वत् ग्रहण कर दूसरा हो जाता है और दूसरे में ह्रस्व का दीर्घ या दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि शब्दानुशासक की दृष्टि से हेम का महत्त्व पाणिनि और वररुचि की अपेक्षा अधिक है। इनके व्याकरण में प्राचीन और आधुनिक दोनों ही प्रकार की ध्वनियों की सम्यक् विवेचना की गयी है। अतः हेम का प्राकृत शब्दानुशासन व्याकरण होने के साथ-साथ भाषा विज्ञान भी है। इसकी महत्ता भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी उतनी ही है, जितनी व्याकरण की दृष्टि से।

चतुर्थः पादः

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

द्वितीयः पादः

क्रियाहेतुः कारकम् २।२।१
स्वतन्त्रः कर्ता २।२।२
कर्तुर्व्याप्यं कर्म २।२।३
वाऽकर्मणामणिक्कर्ता णौ २।२।४
गतिबोधाहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणामनीखाद्यदिह्वाशब्दायक्रन्दाम् २।२।५
भक्षेर्हिंसायाम् २।२।६
वहेः प्रवेयः २।२।७
ह्रक्रोर्नवा २।२।८
दृश्यभिवदोरात्मने २।२।९
नाथः २।२।१०
स्मृत्यर्थदयेशः २।२।११
कृगः प्रतियत्ने २।२।१२
रुजार्थस्याज्वरिसन्तापेर्भावे कर्तरि २।२।१३
जासनाटक्राथपिषो हिंसायाम् २।२।१४
निप्रेभ्यो घ्नः २।२।१५
विनिमेयद्यूतपणं पणिव्यवहोः २।२।१६
उपसर्गाद्दिवः २।२।१७
न २।२।१८
करणं च २।२।१९
अधेः शीङ्स्थाऽऽस आधारः २।२।२०
उपान्वध्याङ्वसः २।२।२१
वाऽभिनिविशः २।२।२२
कालाध्वभावदेशं वाऽकर्म चाकर्मणाम् २।२।२३
साधकतमं करणम् २।२।२४
कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम् २।२।२५
स्पृहेर्व्याप्यं वा २।२।२६
क्रुद्द्रुहेर्ष्यासूयार्थैर्यं प्रति कोपः २।२।२७
नोपसर्गात् क्रुद्द्रुहा २।२।२८
अपायेऽवधिरपादानम् २।२।२९
क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम् २।२।३०
नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ २।२।३१
आमन्त्र्ये २।२।३२
गौणात्समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनैर्द्वितीया २।२।३३
द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः २।२।३४
सर्वोभयाभिपरिणा तसा २।२।३५
लक्षणवीप्स्येत्थम्भूतेष्वभिना २।२।३६
भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः २।२।३७
हेतुसहार्थेऽनुना २।२।३८
उत्कृष्टेऽनूपेन २।२।३९
कर्मणि २।२।४०
क्रियाविशेषणात् २।२।४१
कालाध्वनोर्व्याप्तौ २।२।४२
सिद्धौ तृतीया २।२।४३
हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे २।२।४४
सहार्थे २।२।४५
यद्भेदैस्तद्वदाख्या २।२।४६
कृताद्यैः २।२।४७
काले भान्नवाधारे २।२।४८
प्रसितोत्सुकावबद्धैः २।२।४९
व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् २।२।५०
समो ज्ञोऽस्मृतौ वा २।२।५१
दामः संप्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च २।२।५२
चतुर्थी २।२।५३
तादर्थ्ये २।२।५४
रुचिक्लृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु २।२।५५
प्रत्याङः श्रुवाऽर्थिनि २।२।५६
प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि २।२।५७
यद्वीक्ष्ये राधीक्षी २।२।५८
उत्पातेन ज्ञाप्ये २।२।५९

———

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

धातोः पूजार्थस्वतिगतार्थाधिपर्यतिक्रमार्थातिवर्जः प्रादिरुपसर्गः प्राक् च ३।१।१
ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः ३।१।२
कारिका स्थित्यादौ ३।१।३
भूषादरक्षेपेऽलंसदसत् ३।१।४
अग्रहानुपदेशेऽन्तरदः ३।१।५
कणेमनस्तृप्तौ ३।१।६
पुरोऽस्तमव्ययम् ३।१।७
गत्यर्थवदोऽच्छः ३।१।८
तिरोऽन्तर्धौ ३।१।९
कृगो न वा ३।१।१०
मध्येपदेनिवचनेमनस्युरस्यनत्याधाने ३।१।११
उपाजेऽन्वाजे ३।१।१२
स्वाम्येऽधिः ३।१।१३
साक्षादादिश्च्व्यर्थे ३।१।१४
नित्यं हस्तेपाणावुद्वाहे ३।१।१५
प्राध्वं बन्धे ३।१।१६
जीविकोपनिषदावौपम्ये ३।१।१७
नामनाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम् ३।१।१८
सुज्वार्थे संख्या संख्येये संख्यया बहुव्रीहिः ३।१।१९
आसन्नादूराधिकाध्यर्धार्धादिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे ३।१।२०
अव्ययम् ३।१।२१
एकार्थं चानेकं च ३।१।२२
उष्ट्रमुखादयः ३।१।२३
सहस्तेन ३।१।२४
दिशो रूढ्यान्तराले ३।१।२५
तत्रादाय मिथस्तेन प्रहृत्येति सरूपेण युद्धेऽव्ययीभावः ३।१।२६
नदीभिर्नाम्नि ३।१।२७
संख्या समाहारे ३।१।२८
वंश्येन पूर्वार्थे ३।१।२९
पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा ३।१।३०
यावदियत्त्वे ३।१।३१
पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या ३।१।३२
लक्षणेनाभिप्रत्याभिमुख्ये ३।१।३३
दैर्घ्येऽनु ३।१।३४
समीपे ३।१।३५
तिष्ठद्ग्वित्यादयः ३।१।३६
नित्यं प्रतिनाऽल्पे ३।१।३७
संख्याक्षशलाकं परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ ३।१।३८
विभक्तिसमीपसमृद्धिविवृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्संपत्साकल्यान्तेऽव्ययम् ३।१।३९
योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये ३।१।४०
यथाऽथा ३।१।४१
गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः ३।१।४२
दुर्निन्दाकृच्छ्रे ३।१।४३
सु पूजायाम् ३।१।४४
अतिरतिक्रमे च ३।१।४५
आङल्पे ३।१।४६
प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्टग्लानक्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः ३।१।४७
अव्ययं प्रवृद्धादिभिः ३।१।४८

द्वितीयः पादः

स्यादौ वेपे ३।२।१२६
नगोऽप्राणिनि वा ३।२।१२७
नखादयः ३।२।१२८
अन् स्वरे ३।२।१२९
को कत्पुरुषे ३।२।१३०
रथवदे ३।२।१३१
तृणे जातौ ३।२।१३२
कत्रि ३।२।१३३
काक्षपथोः ३।२।१३४
पुरुषे वा ३।२।१३५
अल्पे ३।२।१३६
काकवौ वोष्णे ३।२।१३७
कृत्येऽवश्यमो लुक् ३।२।१३८
समस्ततहिते वा ३।२।१३९
तुमश्च मनःकामे ३।२।१४
मांसस्यानड्घञि पथि न वा ३।२।१४१
दिक्शब्दात्तीरस्य तारः ३।२।१४२
सहस्य सोऽन्यार्थे ३।२।१४३
नाम्नि ३।२।१४४
अदृश्याधिके ३।२।१४५
अकालेऽव्ययीभावे ३।२।१४६
ग्रन्थान्ते ३।२।१४७
नाशिष्यगोवत्सहले ३।२।१४८
समानस्य धर्मादिषु ३।२।१४९
सब्रह्मचारी ३।२।१५
दृग्दृशदृक्षे ३।२।१५१
अन्यत्यदादेराः ३।२।१५२
इदंकिमीत्की ३।२।१५३
अनञः क्त्वो यप् ३।२।१५४
पृषोदरादयः ३।२।१५५
वावाप्योस्तनिक्रीधाञ्नहोर्वपी ३।२।१५६

तृतीयः पादः

वृद्धिरारैदौत् ३।३।१
गुणोऽरेदोत् ३।३।२
क्रियार्थो धातुः ३।३।३
न प्रादिरप्रत्ययः ३।३।४
अवौ दाधौ दा ३।३।५
वर्तमाना तिव् तस् अन्ति सिव् थस् थ, मिव् वस् मस्, ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे ३।३।६
सप्तमी यात् याताम् युस्, यास् यातम् यात, याम् याव याम; ईत ईयाताम् ईरन्, ईथास् ईयाथाम् ईध्वम्, ईय ईवहि ईमहि ३।३।७
पञ्चमी तुव् ताम् अन्तु, हि तम् त, आनिव् आवव् आमव्, ताम् आताम् अन्ताम्, स्व आथाम् ध्वम्, ऐव् आवहैव् आमहैव् ३।३।८
ह्यस्तनी दिव् ताम् अन्, सिव् तम् त, अम्व् व म, त आताम् अन्त, थास् आथाम् ध्वम्, इ वहि महि ३।३।९
एताः शितः ३।३।१०
अद्यतनी दि ताम् अन्, सि तम् त, अम् व म, त आताम् अन्त, थास् आथाम् ध्वम्, इ वहि महि ३।३।११
परोक्षा णव् अतुस् उस्, थव् अथुस् अ, णव् व म, ए आते इरे, से आथे ध्वे, ए वहे महे ३।३।१२
आशीः क्यात् क्यास्ताम् क्यासुस्, क्यास् क्यास्तम् क्यास्त, क्यासम् क्यास्व क्यास्म; सीष्ट सीयास्ताम् सीरन्, सीष्ठास् सीयास्थाम् सीध्वम्, सीय सीवहि सीमहि ३।३।१३
श्वस्तनी ता तारौ तारस्, तासि तास्थस् तास्थ, तास्मि तास्वस् तास्मस्; ता तारौ तारस्, तासे तासाथे ताध्वे, ताहे तास्वहे तास्महे ३।३।१४

भविष्यन्ती स्यति स्यतस् स्यन्ति, स्यसि स्यथस् स्यथ, स्यामि स्यावस् स्यामस्, स्यते स्येते स्यन्ते, स्यसे स्येथे स्यध्वे, स्ये स्यावहे स्यामहे ३।३।१५

क्रियातिपत्तिः स्यत् स्यताम् स्यन्, स्यस् स्यतम् स्यत स्यम् स्याव स्याम स्यत स्येताम् स्यन्त, स्यथास् स्येथाम् स्यध्वम्, स्ये स्यावहि स्यामहि ३।३।१६

त्रीणि त्रीण्यन्ययुष्मदस्मदि ३।३।१७

एकद्विबहुषु ३।३।१८

नवाद्यानि शतृक्वसू च परस्मैपदम् ३।३।१९

पराणि कानानशौ चात्मनेपदम् ३।३।२०

तत्साप्यानाप्यात्कर्मभावे कृत्यक्तखलर्थाश्च ३।३।२१

इङितः कर्तरि ३।३।२२

क्रियाव्यतिहारेऽगतिहिंसाशब्दार्थहसो ह्वहश्चानन्योऽन्यार्थे ३।३।२३

निविशः ३।३।२४

उपसर्गादस्योहो वा ३।३।२५

उत्स्वराद्युजेरयज्ञतत्पात्रे ३।३।२६

परिव्यवात्क्रियः ३।३।२७

परावेर्जेः ३।३।२८

समः क्ष्णोः ३।३।२९

अपस्किरः ३।३।३०

उदश्चरः साप्यात् ३।३।३१

समस्तृतीयया ३।३।३२

क्रीडोऽकूजने ३।३।३३

अन्वाङ्परेः ३।३।३४

शप उपलम्भने ३।३।३५

आशिषि नाथः ३।३।३६

भुजोऽत्राणे ३।३।३७

हृगो गतताच्छील्ये ३।३।३८

पूजाचार्यकभृत्युत्क्षेपज्ञानविगणनव्यये नियः ३।३।३९

कर्तृस्थामूर्ताप्यात् ३।३।४०

शदेः शिति ३।३।४१

म्रियतेरद्यतन्याशिषि च ३।३।४२

क्यङ्षो न वा ३।३।४३

द्युद्भ्योऽद्यतन्याम् ३।३।४४

वृद्भ्यः स्यसनोः ३।३।४५

कृपः श्वस्तन्याम् ३।३।४६

क्रमोऽनुपसर्गात् ३।३।४७

वृत्तिसर्गतायने ३।३।४८

परोपात् ३।३।४९

वेः स्वार्थे ३।३।५०

प्रोपादारम्भे ३।३।५१

आङो ज्योतिरुद्गमे ३।३।५२

दागोऽस्वास्यप्रसारविकासे ३।३।५३

नुप्रच्छः ३।३।५४

गमेः क्षान्तौ ३।३।५५

ह्वः स्पर्द्धे ३।३।५६

संनिवेः ३।३।५७

उपात् ३।३।५८

यमः स्वीकारे ३।३।५९

देवार्चामैत्रीसंगमपथिकर्तृमन्त्रकरणे स्थः ३।३।६०

वा लिप्सायाम् ३।३।६१

उदोऽनूर्ध्वे हे ३।३।६२

संविप्रावात् ३।३।६३

ज्ञीप्सास्थेये ३।३।६४

प्रतिज्ञायाम् ३।३।६५

समो गिरः ३।३।६६

अवात् ३।३।६७

निह्नवे ज्ञः ३।३।६८

सम्प्रतेरस्मृतौ ३।३।६९

अनतो ज्ञः ३।३।७०

श्रुवोऽनाङ्प्रतेः ३।३।७१

चतुर्थः पादः

वौर्णोः ४।३।५९
न दिस्योः ४।३।६१
दृशः स्नातेः ४।३।६२
भूतः परादिः ४।३।६३
भेक द्वयस्वोर्गुणम् ४।३।६४
न क्लिक्स्तोर्दिस्योः ४।३।६५
पिबैतिदाभूस्थः सिचो लुप् परस्मै न चेट् ४।३।६६
धेघ्राशाच्छासो वा ४।३।६७
तन्भ्यो वा तथासिन्णोश्च ४।३।६८
सनस्तत्रा वा ४।३।६९
धुड् ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः ४।३।७०
इट ईति ४।३।७१
सो धि वा ४।३।७२
अस्तेः सिहस्त्वेति ४।३।७३
दुहदिहलिहगुहो दन्त्यात्मने वा सक् ४।३।७४
स्वरेऽतः ४।३।७५
दरिद्रोऽद्यतन्यां वा ४।३।७६
अशित्यस्सन्णकच्णकानटि ४।३।७७
व्यञ्जनाद् दे सश्च दः ४।३।७८
सेः स्ध्वां च रुर्वा ४।३।७९
योऽशिति ४।३।८०
क्यो वा ४।३।८१
अतः ४।३।८२
णेरनिटि ४।३।८३
सेट्क्तयोः ४।३।८४
आमन्ताल्वाय्येत्नावय् ४।३।८५
लघोर्यपि ४।३।८६
वाऽऽप्नोः ४।३।८७
मेङो वा मित् ४।३।८८
क्षेः क्षी ।३।८९
क्षय्यजय्यौ शक्तौ ४।३।९०
क्रय्यः क्रयार्थे ४।३।९१
सस्तः सि ४।३।९२
दीय् दीङः क्ङिति स्वरे ४।३।९३
इडेत्पुसि चातो लुक् ४।३।९४
संयोगादेर्वाशिष्येः ४।३।९५
गापास्थासादामाहाकः ४।३।९६
ईर्व्यञ्जनेऽयपि ४।३।९७
घ्राध्मोर्यङि ४।३।९८
हनो घ्नीर्वधे ४।३।९९
ञ्णिति घात् ४।३।१००
ञिणवि घन् ४।३।१०१
नशेर्नेश वाऽङि ४।३।१०२
श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम् ४।३।१०३
शीङ एः शिति ४।३।१०४
क्ङिति यि शय् ४।३।१०५
उपसर्गादूहो ह्रस्वः ४।३।१०६
आशिषीणः ४।३।१०७
दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च ४।३।१०८
ऋतो री ४।३।१०९
रिः शक्याशीर्ये ४।३।११०
ईश्च्वावर्णस्याऽनव्ययस्य ४।३।१११
क्यनि ४।३।११२
दुतस्पृहर्येऽपगामोदकनाम्न् ४।३।११३
इवाश्वस्मैथुने स्सोऽन्तः ४।३।११४
अस्य च्वौ ४।३।११५

चतुर्थः पादः

अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति ४।४।१
अघञ्क्यबलच्यजेर्वी ४।४।२
त्रने वा ४।४।३
चक्षो वाचि क्शांग्ख्यांग् ४।४।४
न वा परोक्षायाम् ४।४।५

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

तृतीयः पादः

द्वितीयः पादः

अश्वत्थादेरिकण् ६।२।९७
सास्य पौर्णमासी ६।२।९८
आग्रहायण्यश्वत्थादिकण् ६।२।९९
चैत्रीकार्तिकीफाल्गुनीश्रवणाद्वा ६।२।१००
देवता ६।२।१०१
पैङ्गाक्षीपुत्रादेरीयः ६।२।१०२
शुक्रादियः ६।२।१०३
शतरुद्रात्तौ ६।२।१०४
अपोनपादपांनपातस्तृचातः ६।२।१०५
महेन्द्राद्वा ६।२।१०६
कसोमाट्ट्यण् ६।२।१०७
द्यावापृथिवीशुनासीराऽग्नीषोममरुत्वद्वा
    स्तोष्पतिगृहमेधादीययौ ६।२।१०८
वाय्वृतुपित्रुषसो यः ६।२।१०९
महाराजप्रोष्ठपदादिकण् ६।२।११०
कालाद्भववत् ६।२।१११
आदेश्छन्दसः प्रगाथे ६।२।११२
योद्धृप्रयोजनाद्युद्धे ६।२।११३
भावघञोऽस्यां णः ६।२।११४
श्येनतिलस्य पाते ञः ६।२।११५
प्रहरणात् क्रीडायां णः ६।२।११६
तद्वेत्त्यधीते ६।२।११७
न्यायादेरिकण् ६।२।११८
पदकल्पलक्षणान्तक्रत्वाख्यानाख्या
    यिकात् ६।२।११९
अकल्पात्सूत्रात् ६।२।१२०
अधर्मक्षत्रत्रिसंसर्गाङ्गाद्विद्यायाः ६।२।१२१
याज्ञिकौक्थिकलौकायतिकम् ६।२।१२२
अनुब्राह्मणादिन् ६।२।१२३
शतषष्टेः षथ इकट् ६।२।१२४
पदोत्तरपदेभ्य इकः ६।२।१२५
पदक्रमशिक्षामीमांसासाम्नोऽकः
    ६।२।१२६
ससर्वपूर्वाल्लुप् ६।२।१२७
सङ्ख्याकात्सूत्रे ६।२।१२८
प्रोक्तात् ६।२।१२९
वेदेन् ब्राह्मणमत्रैव ६।२।१३०
तेनच्छन्ने रथे ६।२।१३१
पाण्डुकम्बलादिन् ६।२।१३२
दृष्टे साम्नि नाम्नि ६।२।१३३
गोत्रादङ्कवत् ६।२।१३४
वामदेवाद्यः ६।२।१३५
डिदण् ६।२।१३६
वा जाते द्विः ६।२।१३७
तत्रोद्धृते पात्रेभ्यः ६।२।१३८
स्थण्डिलाच्छेते व्रती ६।२।१३९
संस्कृते भक्ष्ये ६।२।१४०
शूलोखाद्यः ६।२।१४१
क्षीरादेयण् ६।२।१४२
दध्न इकण् ६।२।१४३
वोदश्वितः ६।२।१४४
क्वचित् ६।२।१४५

तृतीयः पादः

शेषे ६।३।१
नद्यादेरेयण् ६।३।२
राष्ट्रादियः ६।३।३
दूरादेत्यः ६।३।४
उत्तरादाहञ् ६।३।५
पारावारादीनः ६।३।६
व्यस्तव्यत्यस्तात् ६।३।७
द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः ६।३।८
ग्रामादीनञ् ६।३।९
कत्र्यादेश्चैयकञ् ६।३।१०
कुण्ड्यादिभ्यो यलुक् च ६।३।११
कुलकुक्षिग्रीवाच्छ्वास्यलङ्कारे ६।३।१२
दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण् ६।३।१३

चतुर्थः पादः

हीनात्स्वादादः ७।२।४५
अभ्रादिभ्यः ७।२।४६
अस्तपोमायामेधास्रजो विन् ७।२।४७
आमयाद्दीर्घश्च ७।२।४८
स्वान्मिनीशे ७।२।४९
गोः ७।२।५०
ऊर्जो विन्वलावश्चान्तः ७।२।५१
तमिस्रार्णवज्योत्स्ना ७।२।५२
गुणादिभ्यो यः ७।२।५३
रूपात्प्रशस्ताहतात् ७।२।५४
पूर्णमासोऽण् ७।२।५५
गोपूर्वादत इकण् ७।२।५६
निष्कादेः शतसहस्रात् ७।२।५७
एकादेः कर्मधारयात् ७।२।५८
सर्वादेरिन् ७।२।५९
प्राण्यस्थाङ्गाद् द्वन्द्वरुग्निन्द्यात् ७।२।६०
वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः ७।२।६१
पूरणाद्वयसि ७।२।६२
सुखादेः ७।२।६३
मालायाः क्षेपे ७।२।६४
धर्मशीलवर्णान्तात् ७।२।६५
बाहूर्वादेर्बलात् ७।२।६६
मन्माब्जादेर्नाम्नि ७।२।६७
हस्तदन्तकराज्जातौ ७।२।६८
वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ७।२।६९
पुष्करादेर्देशे ७।२।७०
सूक्तसाम्नोरीयः ७।२।७१
लुब्वाऽध्यायानुवाके ७।२।७२
विमुक्तादेरण् ७।२।७३
घोषदादेरकः ।२। ४
प्रकारे जातीयर् ७।२।७५
कोऽण्वादेः ७।२।७६
धीनःगोमूत्रादाच्छादनसुरायाम्याच्छादना-
च्छादनमुद्गोदिचीहिल ७।२।७७
भूतपूर्वे चरट् ७।२।७८
गोष्ठादीनञ् ७।२।७९
षष्ठ्या रूप्यप्चरट् ७।२।८०
व्याश्रये तसुः ७।२।८१
रोगात्प्रतीकारे ७।२।८२
पर्यभेः सर्वोभये ७।२।८३
आद्यादिभ्यः ७।२।८४
क्षेपातिग्रहाव्यथेष्वकर्तुस्तृतीयायाः
७।२।८५
पापहीयमानेन ७।२।८६
प्रतिना पञ्चम्याः ७।२।८७
अहीयरुहोऽपादाने ७।२।८८
किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः पित्तस्
७।२।८९
इतोऽतः कुतः ७।२।९०
भवत्वायुष्मद्दीर्घायुर्देवानांप्रियैकार्थात्
७।२।९१
त्रप् च ७।२।९२
क्वकुत्रात्रेह ७।२।९३
सप्तम्याः ७।२।९४
किंयत्तत्सर्वैकान्यात्काले दा ७।२।९५
सदाऽधुनेदानींतदानीमेतर्हि ७।२।९६
सद्योऽद्यपरेद्यव्यह्नि ७।२।९७
पूर्वापराधरोत्तरान्यान्यतरेतरादेद्युस्
७।२।९८
उभयाद् द्युश्च ७।२।९९
ऐषमःपरुत्परारि वर्षे ७।२।१००
अनद्यतने र्हिः ७।२।१०१
प्रकारे था ७।२।१०२
कथमित्थम् ७।२।१०३
संख्याया धा ७।२।१०४

होमाया ईम ७।२।१६३
भेषजादिभ्यष्ट्यण् ७।२।१६४
प्रज्ञादिभ्योऽण् ७।२।१६५
श्रोत्रौषधिकृष्णाच्छरीरभेषजमृगे ७।२।१६६
कर्मणः सन्दिष्टे ७।२।१६७
वाच इकण् ७।२।१६८
विनयादिभ्यः ७।२।१६९
उपायाद् ह्रस्वश्च ७।२।१७०
मृदस्तिकः ७।२।१७१
सस्नौ प्रशस्ते ७।२।१७२

तृतीयः पादः

प्रकृते मयट् ७।३।१
अस्मिन् ७।३।२
तयोः समूहवच्च बहुषु ७।३।३
निन्द्ये पाशप् ७।३।४
प्रकृष्टे तमप् ७।३।५
द्वयोर्विभज्ये च तरप् ७।३।६
क्वचित् स्वार्थे ७।३।७
किन्त्याद्येऽव्ययादसत्त्वे तयोरन्तस्याम्
७।३।८
गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू ७।३।९
त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप् ७।३।१०
अतमबादेरीषदसमाप्ते कल्पब्देश्यदेशीयर्
७।३।११
नाम्नः प्राग् बहुर्वा ७।३।१२
न तम्बादि कपोऽच्छिन्नादिभ्यः ७।३।१३
अनत्यन्ते ७।३।१४
यावादिभ्यः कः ७।३।१५
कुमारीक्रीडनेयसोः ७।३।१६
लोहितान्मणौ ७।३।१७
रक्तानित्यवर्णयोः ७।३।१८
कालात् ७।३।१९
शीतोष्णादृतौ ७।३।२०
लूनवियातात् पशौ ७।३।२१
स्नाताद्वेदसमाप्तौ ७।३।२२
तनुपुत्राणुबृहतीशून्यात्सूत्रकृत्रिमनिपुणा
च्छादनरिक्ते ७।३।२३
भागेऽष्टमाञ्ञः ७।३।२४
षष्ठात् ७।३।२५
माने कश्च ७।३।२६
एकादाकिन् चासहाये ७।३।२७
प्रागनित्यात्कप् ७।३।२८
त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्
७।३।२९
युष्मदस्मदोऽसोभादिस्यादेः ७।३।३०
अव्ययस्य को द् च ७।३।३१
तूष्णीकाम् ७।३।३२
कुत्सिताल्पाज्ञाते ७।३।३३
अनुकम्पातद्युक्तनीत्योः ७।३।३४
अजातेर्नाम्नो बहुस्वरादियेलं वा
७।३।३५
वोपादेरडाकौ च ७।३।३६
ऋवर्णोवर्णात्स्वरादेरादेर्लुक् प्रकृत्या च
७।३।३७
लुक्युत्तरपदस्य कपन् ७।३।३८
लुक्याऽजिनान्तात् ७।३।३९
षड्वर्जैकस्वरपूर्वपदस्य स्वरे ७।३।४०
द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वम् ७।३।४१
सन्ध्यक्षरात्तेन ७।३।४२
शेवलाद्यादेस्तृतीयात् ७।३।४३
क्वचित्तुर्यात् ७।३।४४
पूर्वपदस्य वा ७।३।४५
ह्रस्वे ७।३।४६
कुटीशुण्डाद्रः ७।३।४७
शम्यारौ ७।३।४८

मानिन उपमानात् ७।१।१११
अमानिनि ७।१।११२
पूर्वोत्तरमृगाच्च सक्थ्नः ७।१।११३
उरसोऽग्रे ७।१।११४
सरोऽनोऽश्माऽयसो जातिनाम्नोः ७।१।११५
अह्नः ७।१।११६
संख्यातादह्नश्च वा ७।१।११७
सर्वांशसंख्याऽव्ययात् ७।१।११८
संख्यातैकपुण्यवर्षादीर्घाच्च रात्रेरत् ७।१।११९
पुरुषायुषद्विस्तावत्रिस्तावम् ७।१।१२
श्वसो वसीयसः ७।१।१२१
निसश्च श्रेयसः ७।१।१२२
नञव्ययात्संख्याया डः ७।१।१२३
संख्याऽव्ययादङ्गुलेः ७।१।१२४
बहुव्रीहेः काष्ठे टः ७।१।१२५
सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे ७।१।१२६
द्वित्रेर्मूर्ध्नो वा ७।१।१२७
प्रमाणीसंख्याड्डः ७।१।१२८
सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदा ऽजपदप्रोष्ठपदभद्रपदम् ७।१।१२९
पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येऽप् ७।१।१३
नञ्सुव्युपत्रेश्चतुरः ७।१।१३१
अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ७।१।१३२
भान्नेतुः ७।१।१३३
नाभेर्नाम्नि ७।१।१३४
नञ्बहोर्ऋचो माणवचरणे ७।१।१३५
नञ्सुदुर्भ्यः सक्थिशक्तिहलेर्वा ७।१।१३६
प्रजाया अस् ७।१।१३७
मन्दाल्पाच्च मेधायाः ७।१।१३८
जातेरीयः सामान्यवति ७।१।१३९
भृशमत्यन्ताम्नायादिकः ७।१।१४
द्विपदाद्धर्मादन् ७।१।१४१
सुहरित्तृणसोमाज्जम्भात् ७।१।१४२
दक्षिणेर्मा व्याधयोगे ७।१।१४३
सुपूत्युत्सुरभेर्गन्धादिद्गुणे ७।१।१४४
वाऽन्ये ७।१।१४५
वाल्पे ७।१।१४६
वोपमानात् ७।१।१४७
पात्पादस्याहस्त्यादेः ७।१।१४८
कुम्भपद्यादिः ७।१।१४९
सुसंख्यात् ७।१।१५
वयसि दन्तस्य दतृः ७।१।१५१
स्त्रियां नाम्नि ७।१।१५२
श्यावारोकाद्वा ७।१। ५३
वाग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहाहिमूषिकशि खरात् ७।१।१५४
सम्प्राज्जानोर्ज्ञुज्ञौ ७।१।१५५
वोर्ध्वात् ७।१। ५६
सुहृद्दुर्हृन्मित्रामित्रे ७।१।१५७
धनुषो धन्वन् ७।१।१५८
वा नाम्नि ७।१।१५९
खुरखराद्वा नासिकाया नस् ७।१।१६
अस्थूलाच्च नसः ७।१।१६१
उपसर्गात् ७।१।१६२
वेः ख्रुग्रम् ७।१।१६३
जायाया जानिः ७।१।१६४
व्युदः काकुदस्य लुक् ७।१।१६५
पूर्णाद्वा ७।१।१६६
ककुदस्यावस्थायाम् ७।१।१६
त्रिककुद् गिरौ ७।१।१६८
स्त्रियामूधसोन् ७।१।१६९
इनः कच् ७।१।१७
ऋन्नित्यदितः ७।१।१७१
दध्युरःसर्पिर्मधूपानच्छालेः ७।१।१ २
पुमनडुन्नौपयोलक्ष्म्या एकत्वे ७।१।१ ३

ह्रस्व्यपदः ७।४।४९
सूनाऽके ७।४।५
अनोऽस्य ये ७।४।५१
अणि ७।४।५२
संयोगादिन ७।४।५३
गाथिविदथिकेशिपणिगणिनः ७।४।५४
अनपत्ये ७।४।५५
उक्षोऽर्हक् ७।४।५६
ब्रह्मण ७।४।५७
जातौ ७।४।५८
अवर्मणो मनोऽपत्ये ७।४।५९
हितनाम्नो वा ७।४।६
नोऽपदस्य तद्धिते ७।४।६१
कल्यादिकुषुमिदैवक्रियाविश्रिवाहविश्वक्रिये त्रिप्रियमाविकामवारिपीठवपिंसूक-रअमुपवेच्छ ७।४।६२
वाश्मनो विकारे ७।४।६३
चर्मशुनः कोषसंकोचे ७।४।६४
प्रायोऽव्ययस्य ७।४।६५
अनीनादयह्नोऽतः ७।४।६६
विवर्णादिति ७।४।६७
अवर्णवर्णस्य ७।४।६८
अकद्रूपाण्ड्वोस्सर्गस्यैव ७।४।६९
अस्वयम्भुवोऽव् ७।४।७०
ऋवर्णोवर्णदोसिसुसशश्वदकस्मात्तस इकस्ये तो लुक् ७।४।७१
असकृत्संभ्रमे ७।४।७२
भृशाभीक्ष्ण्याविच्छेदे द्विः प्राक्तमवादे ७।४।७३
नानावधारणे ७।४।७४
आधिक्यानुपूर्व्ये ७।४।७५
इतरेतरान्योन्योपपदस्य परस्परान्यान्योन्ये ७।४।७६
पूर्वप्रथमावन्यतोऽतिशये ७।४।७७
प्रोपोत्सम्पादपूरणे ७।४।७८
सामीप्येऽधोऽध्युपरि ७।४।७९
वीप्सायाम् ७।४।८
प्लुप्याद्यावेकस्य स्यादेः ७।४।८१
द्वन्द्वं वा ७।४।८२
रहस्यमर्यादोक्तिव्युत्क्रान्तियज्ञपात्रप्रयोगे ७।४।८३
लोकज्ञातेऽत्यन्तसाहचर्ये ७।४।८४
आबाधे ७।४।८५
न वा गुणः सदृशे रित् ७।४।८६
प्रियसुखं चाकृच्छ्रे ७।४।८०
वाक्यस्य परिवर्जने ७।४।८८
सम्मत्यसूयाकोपकुत्सनेष्वाद्यामन्त्र्यमादौ स्वरेष्वन्त्यश्च प्लुतः ७।४।८९
भर्त्सने पर्यायेण ७।४।९
त्यादेः साकाङ्क्षस्याङ्गेन ७।४।९१
क्षियाशीः प्रैषे ७।४।९२
चितीवार्थे ७।४।९३
प्रतिश्रवणनिगृह्यानुयोगे ७।४।९४
विचारे पूर्वस्य ७।४।९५
ओमः प्रारम्भे ७।४।९६
हेः प्रश्नाख्याने ७।४।९७
प्रश्ने च प्रतिपदम् ७।४।९८
दूरादामन्त्र्यस्य गुरुर्वैकोऽनन्त्योऽपि लनृत् ७।४।९९
हेहैष्वेषामेव ७।४।१
अस्त्रीशूद्रे प्रत्यभिवादे भोगोत्रनाम्नो वा ७।४।१ १
प्रश्नार्चाविचारे च सन्ध्यक्षरस्या-इदुतौ ७।४।१ २
तयोर्व्वौ स्वरे संहितायाम् ७।४।१ ३
पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ७।४।१ ४
सप्तम्या पूर्वस्य ७।४।१ ५

परिशिष्ट २

प्राकृत हेमशब्दानुशासन सूत्रपाठ

प्रथम पाद

अथ प्राकृतम् ८।१।१
बहुलम् ८।१।२
आर्षम् ८।१।३
दीर्घ ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ८।१।४
पदयो संधिर्वा ८।१।५
न युवर्णस्यास्वे ८।१।६
एदोतो स्वरे ८।१।७
स्वरस्योद्वृत्ते ८।१।८
त्यादे ८।१।९
लुक् ८।१।१
अन्त्यव्यञ्जनस्य ८।१।११
न श्रदुदो ८।१।१२
निर्दुरोर्वा ८।१ १३
स्वरेन्तरश्च ८।१।१४
स्त्रियामादविद्युत ८।१।१५
रो रा ८।१।१६
क्षुधो हा ८।१।१७
शरदादेरत् ८।१।१८
दिक् प्रावृषो स ८।१।१९
आयुरप्सरसोर्वा ८।१।२
ककुभो ह ८।१।२१
धनुषो वा ८।१।२२
मोनुस्वार ८।१।२३
वा स्वरे मश्च ८।१।२४
ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ८।१।२५
वक्रादावन्त ।१।२६
क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा ।१।२७
विंशत्यादेर्लुक् ८।१।२८
मांसादेर्वा ८।१। ९
वर्गेन्त्यो वा ८ ।३
प्रावृट्-शरत्तरण्य पुंसि ८।१।११
स्नमदाम-शिरो-नभ ८।१।१२
वाक्ष्यर्थ-वचनाद्या ८।१।३३
गुणाद्या क्लीबे वा ८।१।३४
वेमाञ्जल्याद्या स्त्रियाम् ८।१।३५
बाहोरात् ८।१।३६
अतो डो विसर्गस्य ८।१।३७
निष्प्रती ओत्परी माल्य-स्थोर्वा ८।१।३८
आदे ८।१।३९
त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् ८।१।४
पदादपेर्वा ८।१।४१
इते स्वरात् तश्च द्वि ८।१।४२
लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां
दीर्घ ८।१।४३
अत समृद्ध्यादौ वा ८।१।४४
दक्षिणे हे ८।१।४५
इ स्वप्नादौ ८।१।४६
पक्वाङ्गार-ललाटे वा ८।१।४७
मध्यम-कतमे द्वितीयस्य ८।१।४८
सप्तपर्णे वा ८।१।४९
मयट्यइर्वा ८।१।५
ईर्हरे वा ८।१।५१
ध्वनि-विष्वचोरु ८।१।५२
वन्द्र-खण्डिते णा वा ८।१।५३
गवये व ८।१।५४

फो म हो ८।१।२३६
बो व ८।१।२३७
विशिन्यां मः ८।१।२३८
कबन्धे म-यौ ८।१।२३९
वैटभे भो व ८।१।२४०
विषमे मो ढो वा ८।१।२४१
मन्मथे वः ८।१।२४२
वाभिमन्यौ ८।१।२४३
भ्रमरे सो वा ८।१।२४४
आदेर्यो ज ८।१।२४५
युष्मद्यर्थपरे तः ८।१।२४६
यष्ट्यां लः ८।१।२४७
वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये ज्जः ८।१।२४८
छायायां होऽकान्तौ वा ८।१।२४९
डाह-वौ कतिपये ८।१।२५०
किरि-भेरे रो डः ८।१।२५१
पर्याणे डा वा ८।१।२५२
करवीरे णः ८।१।२५३
हरिद्रादौ लः ८।१।२५४
स्थूले लो रः ८।१।२५५
लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वादेर्णः ८।१।२५६
ललाटे च ८।१।२५७
शबरे बो मः ८।१।२५८
स्वप्न-नीव्योर्वा ८।१।२५९
श-षोः सः ८।१।२६०
स्नुषायां ण्हो न वा ८।१।२६१
दश-पाषाणे हः ८।१।२६२
दिवसे सः ८।१।२६३
हो घोऽनुस्वारात् ८।१।२६४
षट्-शमी-शाव-सुधा-सप्तपर्णेष्वादेश्छः ८।१।२६५
शिरायां वा ८।१।२६६
दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतन-पादपीठेऽन्तर्दः
न वा ८।१।२७०
व्याकरण-प्राकारागते कगोः ८।१।२६८
किसलय-कालायस-हृदये यः ८।१।२६९
दुर्गादेव्युदुम्बर-पादपतन-पादपीठेऽन्तर्दः
८।१।२७०
यावत्तावज्जीवितावर्तमानावट-प्रावारक-
देवकुलैवमेवे वः ८।१।२७१

द्वितीयः पादः

संयुक्तस्य ८।२।१
शक्त-मुक्त-दष्ट-रुग्ण-मृदुत्वे को वा ८।२।२
क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ ८।२।३
ष्क-स्कयोर्नाम्नि ८।२।४
शुष्क-स्कन्दे वा ८।२।५
क्ष्वेटकादौ ८।२।६
स्थाणावहरे ८।२।७
स्तम्भे स्तो वा ८।२।८
थ-ठावस्पन्दे ८।२।९
रक्ते गो वा ८।२।१०
शुल्के ङ्गो वा ८।२।११
कृत्ति-चत्वरे चः ८।२।१२
त्यो चैत्ये ८।२।१३
प्रत्यूषे षश्च हो वा ८।२।१४
त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-झाः क्वचित् ८।२।१५
वृश्चिके श्चेञ्चुर्वा ८।२।१६
छोऽक्ष्यादौ ८।२।१७
क्षमायां कौ ८।२।१८
ऋक्षे वा ८।२।१९
क्षण उत्सवे ८।२।२०
ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले ८।२।२१
सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ८।२।२२
स्पृहायाम् ८।२।२३
द्य-य्य-र्यां जः ८।२।२४

अभिमन्यौ ज-ञ्जौ वा ८।२।२५
साध्वस-ध्य-ह्यां झः ८।२।२६
ध्वजे वा ८।२।२७
इन्धौ झा ८।२।२८
वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते टः ८।२।२९
तस्याधूर्तादौ ८।२।३०
वृन्ते ण्टः ८।२।३१
ठोस्थि-विसंस्थुले ८।२।३२
स्त्यान-चतुर्थार्थे वा ८।२।३३
ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ८।२।३४
गर्ते डः ८।२।३५
संमर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते र्दस्य ८।२।३६
गर्दभे वा ८।२।३७
कन्दरिका-भिन्दिपाले ण्डः ८।२।३८
स्तब्धे ठ-ढौ ८।२।३९
दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढः ८।२।४०
श्रद्धर्द्धि-मूर्धार्धेन्ते वा ८।२।४१
म्नज्ञोर्णः ८।२।४२
पञ्चाशत्पञ्चदश-दत्ते ८।२।४३
मन्यौ न्तो वा ८।२।४४
स्तस्य थोसमस्त-स्तम्बे ८।२।४५
स्तवे वा ८।२।४६
पर्यस्ते थ-टौ ८।२।४७
वोत्साहे थो हश्च रः ८।२।४८
आश्लिष्टे ल-धौ ८।२।४९
चिह्ने न्धो वा ८।२।५०
भस्मात्मनोः पो वा ८।२।५१
ड्मक्मोः ८।२।५२
ष्प-स्पयोः फः ८।२।५३
भीष्मे ष्मः ८।२।५४
श्लेष्मणि वा ८।२।५५
ताम्राम्रे म्बः ८।२।५६
ह्वो भो वा ८।२।५७
वा विह्वले वौ वश्च ८।२।५८
वोर्ध्वे ८।२।५९
कश्मीरे म्भो वा ८।२।६०
न्मो मः ८।२।६१
ग्मो वा ८।२।६२
ब्रह्मचर्य-तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डीर्ये र्यो रः ८।२।६३
धैर्ये वा ८।२।६४
एतः पर्यन्ते ८।२।६५
आश्चर्ये ८।२।६६
अतो रिआर-रिज्ज-रीअं ८।२।६७
पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये ल्लः ८।२।६८
बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा ८।२।६९
बाष्पे होश्रुणि ८।२।७०
कार्षापणे ८।२।७१
दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ८।२।७२
कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तु ण्डो वा ८।२।७३
पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः ८।२।७४
सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः ८।२।७५
ह्लो ल्हः ८।२।७६
क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵक-ᳶपामूर्ध्वं लुक् ८।२।७७
अधो म-न-याम् ८।२।७८
सर्वत्र ल-ब-रामवन्द्रे ८।२।७९
द्रे रो न वा ८।२।८०
धात्र्याम् ८।२।८१
तीक्ष्णे णः ८।२।८२
ज्ञो ञः ८।२।८३
मध्याह्ने हः ८।२।८४
दशार्हे ८।२।८५
आदेः श्मश्रु-श्मशाने ८।२।८६

श्चो हरिश्चन्द्रे ८।२।८७
रात्रौ वा ८।२।८८
अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् ८।२।८९
द्वितीय तुर्ययोरुपरि पूर्वः ८।२।९०
दीर्घे वा ८।२।९१
न दीर्घानुस्वारात् ८।२।९२
र-होः ८।२।९३
धृष्टद्युम्ने णः ८।२।९४
कर्णिकारे वा ८।२।९५
दृप्ते ८।२।९६
समासे वा ८।२।९७
तैलादौ ८।२।९८
सेवादौ वा ८।२।९९
शार्ङ्गे ङात्पूर्वोत् ८।२।१००
क्ष्मा-श्लाघारत्नेन्त्यव्यञ्जनात् ८।२।१ १
स्नेहाग्न्योर्वा ८।२।१ २
प्लक्षे लात् ८।२।१ ३
र्ह-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित्
ऽ८।२।१ ४
र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ८।२।१ ५
लात् ८।२।१ ६
स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्
ऽ८।२।१ ७
स्वप्ने नात् ८।२।१०८
स्निग्धे वादितौ ८।२।१ ९
कृष्णे वर्णे वा ८।२।११०
उच्चार्हति ८।२।१११
पद्म-छद्म-मूर्ख-द्वारे वा ८।२।११२
तन्वीतुल्येषु ८।२।११३
एकस्वरे श्व-स्वे ८।२।११४
ज्यायामीत् ८।२।११५
करेणू-वाराणस्यो र-णोर्व्यत्ययः ८।२।११६
आलाने लनो ८।२।११७
अचलपुरे च-लो ८।२।११८
महाराष्ट्रे ह-रो ८।२।११९
ह्रदे ह-दो ८।२।१२०
हरिताले र-लोर्न वा ८।२।१२१
लघुके ल-हो ८।२।१२२
ललाटे ल-डो ८।२।१२३
ह्ये ह्यो ८।२।१२४
स्तोकस्य थोक्क-थोव-थेवा ८।२।१२५
दुहितृ-भगिन्योर्धूआ-बहिण्यौ ८।२।१२६
वृक्ष-क्षिप्तयो रुक्ख-छूढौ ८।२।१२७
वनिताया विलया ८।२।१२८
गौणस्येषत कूर ८।२।१२९
स्त्रिया इत्थी ८।२।१३०
धृतेर्दिहि ८।२।१३१
मार्जारस्य मञ्जर-वञ्जरौ ८।२।१३२
वैडूर्यस्य वेरुलिअं ८।२।१३३
एण्हिं एत्ताहे इदानीम ८।२।१३४
पूर्वस्य पुरिम ८।२।१३५
त्रस्तस्य हित्थ तट्ठौ ८।२।१३६
बृहस्पतौ बहो भय ८।२।१३७
मलिनोभय-शुक्ति-छुप्तारब्ध-पदातेर्मइ
ऽलावह-सिप्पि-छिक्क-ढत्त-पाइक्कं
ऽ८।२।१३८
दंष्ट्राया दाढा ८।२।१३९
बहिसो बाहिं-बाहिरौ ८।२।१४०
अधसो हेट्ठं ८।२।१४१
मातृ-पितुः स्वसु सिआ-छौ ८।२।१४२
तिर्यचस्तिरिच्छि ८।२।१४३
गृहस्य घरोपतौ ८।२।१४४
शीलाद्यर्थस्येर ८।२।१४५
क्त्वस्तुमत्-तूण-तुआणा ८।२।१४६
इदमर्थस्य केर ८।२।१४७
पर-राजभ्यां क्क-डिक्कौ च ८।२।१४८

रस्य लो वा ८।४।३२६
नादि-युज्योरन्येषाम् ८।४।३२७
शेषं प्राग्वत् ८।४।३२८
स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे ८।४।३२९
स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ८।४।३३०
स्यमोरस्योत् ८।४।३३१
सौ पुंस्योद्वा ८।४।३३२
एट्टि ८।४।३३३
ङिनेच्च ८।४।३३४
भिस्येद्वा ८।४।३३५
ङसेर्हे-हू ८।४।३३६
भ्यसो हुं ८।४।३३७
ङसः सु-हो-स्सवः ८।४।३३८
आमो हं ८।४।३३९
हुं चेदुद्भ्याम् ८।४।३४०
ङसि-भ्यस्-ङीनां हे-हुं-हयः ८।४।३४१
आट्टो णानुस्वारौ ८।४।३४२
एं चेदुतः ८।४।३४३
स्यम्-जस्-शसां लुक् ८।४।३४४
षष्ठ्याः ८।४।३४५
आमन्त्र्ये जसो होः ८।४।३४६
भिस्सुपोर्हिं ८।४।३४७
स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ८।४।३४८
ट ए ८।४।३४९
ङस्-ङस्योर्हे ८।४।३५०
भ्यसामोर्हुः ८।४।३५१
ङेर्हि ८।४।३५२
क्लीबे जस्-शसोरिं ८।४।३५३
कान्तस्यात उं स्यमोः ८।४।३५४
सर्वादेर्ङसेर्हां ८।४।३५५
किमो डिहे वा ८।४।३५६
ङेर्हिं ८।४।३५७
यत्तत्किंभ्यो ङसो डासुर्न वा ८।४।३५८
स्त्रियां डहे ८।४।३५९
यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं ८।४।३६०
इदम इमुः क्लीबे ८।४।३६१
एतदः स्त्री-पुं-क्लीबे एह एहो एहु ८।४।३६२
एइर्जस्-शसोः ८।४।३६३
अदस ओइ ८।४।३६४
इदम आयः ८।४।३६५
सर्वस्य साहो वा ८।४।३६६
किमः काइं-कवणौ वा ८।४।३६७
युष्मदः सौ तुहुं ८।४।३६८
जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ८।४।३६९
टा-ङ्यमा पइं तइं ८।४।३७०
भिसा तुम्हेहिं ८।४।३७१
ङसि-ङस्भ्यां तउ तुज्झ तुध्र ८।४।३७२
भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं ८।४।३७३
तुम्हासु सुपा ८।४।३७४
सावस्मदो हउं ८।४।३७५
जस्-शसोरम्हे अम्हइं ८।४।३७६
टा-ङ्यमा मइं ८।४।३७७
अम्हेहिं भिसा ८।४।३७८
महु मज्झु ङसि-ङस्भ्याम् ८।४।३७९
अम्हहं भ्यसाम्भ्याम् ८।४।३८०
सुपा अम्हासु ८।४।३८१
त्यादेराद्य-त्रयस्य संबन्धिनो हिं न वा ८।४।३८२
मध्य-त्रयस्याद्यस्य हिः ८।४।३८३
बहुत्वे हुः ८।४।३८४
अन्त्य-त्रयस्याद्यस्य उं ८।४।३८५
बहुत्वे हुं ८।४।३८६
हि-स्वयोरिदुदेत् ८।४।३८७
वर्त्स्यति-स्यस्य सः ८।४।३८८
क्रियेः कीसु ८।४।३८९
भुवः पर्याप्तौ हुच्चः ८।४।३९०
ब्रुवो ब्रुवो वा ८।४।३९१

प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमालाः ८।४।१९३
तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ८।४।१९४
विकसेः कोआस-वोसट्टौ ८।४।१९५
हसेर्गुञ्जः ८।४।१९६
स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ ८।४।१९७
त्रसेर्डर-बोज्ज-वज्जाः ८।४।१९८
न्यसो णिम-णुमौ ८।४।१९९
पर्यसः पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्थाः ८।४।२००
निःश्वसेर्झङ्खः ८।४।२०१
उल्लसेरूसलोसुम्भ-णिल्लस-पुलआअ-गुञ्जोल्लारोआः ८।४।२०२
भासेर्भिसः ८।४।२०३
ग्रसेर्घिसः ८।४।२०४
अवाद् गाहेर्वाहः ८।४।२०५
आरुहेश्चड-वलग्गौ ८।४।२०६
मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ ८।४।२०७
दहेरहिऊलालुङ्खौ ८।४।२०८
ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआः ८।४।२०९
क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् ८।४।२१०
वचो वोत् ८।४।२११
रुद-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य ८।४।२१२
दृशस्तेन ट्ठः ८।४।२१३
आ कृगो भूत-भविष्यतोश्च ८।४।२१४
गमिष्यमासां छः ८।४।२१५
छिदि-भिदो न्दः ८।४।२१६
युध-बुध-गृध-क्रुध-सिध-मुहां ज्झः ८।४।२१७
रुधो न्ध-म्भौ च ८।४।२१८
सद-पतोर्डः ८।४।२१९
क्वथ-वर्धां ढः ८।४।२२०
वेष्टः ८।४।२२१
समो ल्लः ८।४।२२२
वोदः ८।४।२२३
स्विदां ज्जः ८।४।२२४
व्रज-नृत-मदां च्चः ८।४।२२५
रुद नमोर्वः ८।४।२२६
उद्विजः ८।४।२२७
खाद-धावोर्लुक् ८।४।२२८
सृजो रः ८।४।२२९
शकादीनां द्वित्वम् ८।४।२३०
स्फुटि-चलेः ८।४।२३१
प्रादेर्मीलेः ८।४।२३२
उवर्णस्यावः ८।४।२३३
ऋवर्णस्यारः ८।४।२३४
वृषादीनामरिः ८।४।२३५
रुषादीनां दीर्घः ८।४।२३६
युवर्णस्य गुणः ८।४।२३७
स्वराणां स्वराः ८।४।२३८
व्यञ्जनाददन्ते ८।४।२३९
स्वरादनतो वा ८।४।२४०
चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च ८।४।२४१
न वा कर्म-भावे व्वः क्यस्य च लुक् ८।४।२४२
म्मश्चेः ८।४।२४३
हन्खनोऽन्त्यस्य ८।४।२४४
ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः ८।४।२४५
दहो ज्झः ८।४।२४६
बन्धो न्धः ८।४।२४७
समनूपाद्रुधेः ८।४।२४८
गमादीनां द्वित्वम् ८।४।२४९
ह-कृ-तॄ-ज्रामीरः ८।४।२५०
अर्जेर्विढप्पः ८।४।२५१
ज्ञो णव्व-णज्जौ ८।४।२५२
व्याहगेर्वाहिप्पः ८।४।२५३
आरभेराढप्पः ८।४।२५४
स्निह-सिचोः सिप्पः ८।४।२५५
ग्रहेर्घेप्पः ८।४।२५६
स्पृशेश्छिप्पः ८।४।२५७
क्तेनाप्फुण्णादयः ८।४।२५८